प्रकाशक,
मार्तण्ड उपाध्याय, मन्त्री,
सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली

—: संस्करण :—
मार्च, १९३९ · १०००

मूल्य
डेढ रुपया

मुद्रक—
हरनामदास गुप्ता
भारत प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली

प्रकाशक की ओर से

प्रो० हेरल्ड लास्की की यह पुस्तक बहुत अर्से से हमारे यहा रखी हुई थी। अंग्रेजी में अपने विषय की यह उत्तम पुस्तक मानी जाती है, लेकिन इतने बडे विषय को थोडे-से पृष्ठों में लिखने की वजह से मूल में ही क्लिष्ट होगई है। और उसका अनुवाद तो आशा से भी अधिक क्लिष्ट होगया। इतने दिनों तक इसे इसी इरादे से रख छोडा था कि किसी उपयुक्त सज्जन को देकर इसे कुछ सरल बना सकेंगे लेकिन इसका सम्पादन करना इतना कठिन काम था कि कोई इसके लिए राजी न हुए। अत: हमें लाचार होकर ज्यों-का-त्यों ही प्रकाशित कर रहे हैं। इसके बारे में अगर पाठक कोई सूचना करेंगे तो हम सहर्ष स्वीकार करेंगे और अगले संस्करण में इसको पूरी तरह सम्पादन करके छापेंगे।

—मन्त्री

लेखक की भूमिका

इस छोटी-सी पुस्तक के लिखने का प्रयोजन यह है कि राजनीति की मूल समस्याओं को इस रूप में रख दिया जाय कि साधारण रुचि रखनेवाले पाठक भी सुगमता से समझ सकें। मैंने यथासम्भव पारिभाषिक भाषा को बचाने का प्रयत्न किया है। मैंने जान-बूझकर पूर्ण-विकसित प्रणाली को विश्लेषण करके बताने का प्रयत्न नहीं किया है। सर्वसुगम व्याख्या करने में कितनी कठिनाई होती है, यह इस प्रकार की छोटी-सी पुस्तक लिखने से ही प्रतीत होता है। मैं आंशिक सफलता से अधिक की आशा नहीं कर सकता, परन्तु यदि इसे पढ़कर कुछ लोगों में इस विषय की ऊँची पुस्तकें पढ़ने की प्रवृत्ति जाग्रत हो तो मुझे बहुत सन्तोष होगा। यहां मैं यह भी कह देना चाहता हूँ कि कुछ विचार, जिनपर यहां विवेचन किया गया है, मेरी पुस्तक 'ग्रामर आव पोलिटिक्स' (राजनीति-व्याकरण) में अधिक पूर्णता के साथ प्रकट किये गए हैं।

कोचेम-ए-मॉसेल, एच० जे० एल०

विषयसूची

१. राज्य-सस्था का स्वरूप ३

२. बृहत् समाज में राज्य-सस्था का स्थान ३०

३. राज्य-सस्था का सगठन ७०

४. राज्य-सस्था और अन्तर्राष्ट्रीय समाज . . ११६

५. पुस्तकों के विषय मे सूचना १३९

राजनीति प्रवेशिका

: १ :

राज्य-संस्था का स्वरूप

१

आधुनिक संसार का प्रत्येक नागरिक किसी-न-किसी राज्य की प्रजा है। क़ानूनन वह राज्य-संस्था की आज्ञाओं का पालन करने के लिए बाध्य है। उसकी जीवनविधि की रूप-रेखा राज्य-संस्था के नियोजित किये हुए आदर्श-नियमो से ही निश्चित रहती है। ये निर्देश ही क़ानून हैं, और इनको अपनी सीमा में रहनेवाले सब लोगो पर लागू करने की शक्ति ही राज्य-संस्था का मूल तत्व है। जहाँ अन्य सब संस्थाये स्वनिर्मित होती हैं और किसी व्यक्तिके लिए उसके नियम तभी लागू हो सकते हैं जब वह अपनी मरज़ी से उनका सदस्य बने; लेकिन यदि वह एक बार किसी राज्य का निवासी हो जाता है तो उसको क़ानूनन राज्य के नियमो को मानने के सिवाय दूसरा चारा नहीं रहता। क़ानूनन, उसके लिए इन आज्ञाओ का पालन करना दूसरी किसी संस्था के नियमो के पालन करने की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। कह सकते हैं कि आधुनिक समाज-रूपी भवन का शिखर राज्य है। यही इसकी विशेषता है। समाज

मे जितने प्रकार के संघ या संगठन है उन सबमे इसकी सत्ता सर्वोपरि है।

इस प्रकार राज्य लोगो के व्यवहारो को नियन्त्रित करने की एक विधि है। राज्य के स्वरूप की छान-बीन करके देखने से पता चलता है कि मनुष्यो को आचरण सम्बन्धी जिन सिद्धान्तो के द्वारा अपनी जीवन-विधि को संचालित करना जरूरी है, उनको सत्ता-पूर्वक लागू करने का तरीक़ा ही राज्य है। राज्य हमे चोरी न करने की आज्ञा देता है, वह हमे उसके आदेशो की अवज्ञा के लिए सजा देता है। वह विधि-निर्देशो को निश्चित कर देता है, और उनका पालन कराने के लिए बल का प्रयोग करता है। उसके दृष्टिकोण से उन विधि-निर्देशो की प्रामाणिकता स्वयं निर्मित है। वे क़ानूनन मान्य हैं इसलिए नही कि वे अच्छे, या विवेकपूर्ण हैं, बल्कि इसलिए कि वे उसके आदेश है। समाज की सर्वोपरि शक्तिके ये क़ानूनी आदेश है जिनके द्वारा मनुष्य को अपना आचार-व्यवहार रखना चाहिए।

परन्तु विधि-निदेश न अपने आपको स्वयं प्रकट करते हैं न स्वयं लागू होते है। किसी-न-किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समुदाय ने उनको बनाने की इच्छा की है, और किसी न किसी व्यक्ति या व्यक्ति-समुदाय को उनका पालन कराना पड़ता है। जब हम आज-कल की राज्य-संस्थाओ को देखते है तो हमे सब जगह एक दृश्य दिखाई देता है। हम देखते हैं कि एक सुनिश्चित प्रदेश मे बहु-संख्यक मनुष्य सदा कुछ दूसरे अल्पसंख्यक मनुष्यो की आज्ञा पालन. करते हैं। चाहे ग्रेट-ब्रिटेन की तरह यह अल्पसंख्यक

मनुष्य (पार्लमेण्ट-समेत राजा) सर्वाधिकार-सम्पन्न हो, चाहे संयुक्त राष्ट्र (अमेरिका) की तरह उनके लिए आज्ञापालन कराये जाने के विषय तथा पद्धतियाँ दोनो सीमाबद्ध कर दी गई हो, फिर भी देखा जाता है कि यह इस प्रकार के है कि यदि कोई उन विधि-निदेशो का भंग करे तो यह थोडे से मनुष्य अपनी सत्ता की रक्षा करने के लिए समस्त आवश्यक बल-प्रयोग कर सकते है। सक्षेप मे, हम कह सकते है कि प्रत्येक राज्य-संस्था सरकार और प्रजाजन मे बंटा हुआ एक प्रदेश-बद्ध समाज है। सरकार—राज्य के अन्दर—उन व्यक्तियो का समुदाय है जो राज्य-संस्था के आधारभूत विधि-निदेशो को लागू करते है, और वे इनके पालन कराने के लिए बलप्रयोग करने का अधिकार रखते है। परन्तु इससे भिन्न, उस प्रदेश-बद्ध समाज के अन्दर, व्यक्तियो का किसी प्रकार का भी अन्य संगठन या समुदाय बलप्रयोग करने का अधिकार नहीं रखता।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक राज्य-संस्था मे एक ऐसी इच्छाशक्ति है जो अन्य सब इच्छा-शक्तियो के ऊपर क़ानूनन सर्व-प्रधान है। वह समाज के अंतिम निश्चयो व निर्णयो को करती है। शास्त्रीय वाक्य मे कह सकते हैं कि वह सर्वोपरि इच्छाशक्ति है। न वह दूसरी किसी इच्छा-शक्ति से आज्ञाये पाती है, न अन्तत: अपनी सत्ता किसी दूसरी शक्ति के हाथ मे छोड़ सकती है। उदाहरणत. ऐसी इच्छाशक्ति ग्रेट-ब्रिटेन मे पार्लमेण्ट समेत राजा की है। उसके प्रदेश की सीमा के अन्दर, वह जो कुछ निर्णय करती है वह उस प्रदेश के अन्दर रहनेवाले

सब निवासियों पर बाध्य होता है। वे भले ही उसके निर्णयों को अनैतिक या अबुद्धिपूर्ण समझें, फिर भी क़ानूनन उसका पालन करने के लिए बाध्य हैं। यदि ब्रिटेन का कोई प्रजाजन अपनी धर्मसंस्था (चर्च) के किसी निर्णय को पसंद न करे, तो वह उस को छोड़ सकता है; धर्मसंस्था अपने निर्णय को जबरदस्ती उससे मनवा नहीं सकती। परन्तु, ब्रिटेन का कोई प्रजाजन आय-कर सम्बन्धी क़ानून को पसंद न भी करे, तो भी वह क़ानूनन उसका पालन करने के लिए बाध्य है। यदि वह उस क़ानून की सत्ता के विरोध करने का प्रयत्न करेगा, तो तुरन्त ही उस प्रयत्न का फल भोगने के लिए, किसी न किसी रूप में, बलपूर्वक मजबूर किया जायगा।

इस प्रकार राज्य-संस्था व्यक्तियों का एक ऐसा समाज है जो एक निश्चित जीवन-विधि से चलने के लिए, आवश्यक हो तो बल-प्रयोग से भी, विवश है। समाज में सारा आचरण उस विधि के अनुसार ही होना चाहिए। समाज के स्वरूप को निर्धारित करने वाले नियम ही राज्यसंस्था के क़ानून (विधान) हैं और, स्पष्टतया, यह अन्य समस्त नियमों की अपेक्षा आवश्यक रूप से प्रधानता रखते हैं, अर्थात् सर्वोपरि है। इस समाज में जो व्यक्ति नियम बनाते और उनका बलपूर्वक पालन करवाते हैं वे सरकार (शासन) कहलाते हैं। और नियमों का वह भाग जो यह निर्धारित करता है कि (क) इस प्रकार के नियम किस प्रकार बनाए जाने चाहिए (ख) वे किस प्रकार से बदले जा सकेंगे (ग) उनको कौन बनाएगा, राज्य-संस्था का शासन-विधान है।

२

यह राज्य-संस्था को शुद्ध क़ानूनी व्यवस्था की दृष्टि से देखना हुआ। यह तो केवल इस बात का वर्णनमात्र है कि किसी आधुनिक समाज मे सामाजिक सम्बन्ध एक दूसरे से किस प्रकार मिले हुए या व्यवस्थित हैं, इसमे इस बात पर ध्यान नहीं दिया गया कि वर्तमान पद्धति का विकास किस प्रकार से हुआ है, उसके क्या-क्या प्रयोजन सिद्ध होते हैं. और उसके काम का महत्व कितना है और उसके साथ खतरे क्या-क्या हैं।

स्पष्टत', ये सब बाते महत्वपूर्ण हैं। वर्तमान राज्य-संस्था का स्वरूप उस इतिहास का परिणाम है जिसमें से होकर राज्य-संस्था गुज़री है, और उस इतिहास की दृष्टि से देखे विना समझ मे नहीं आसकेगा। राज्य-संस्था की शक्ति बिना प्रयोजन या उद्देश्य के प्रयुक्त नहीं होती। वह कुछ निश्चित उद्देश्यों को पूर्ण करने के लिए काम मे लाई जाती है, और उसके नियम, समय विशेष पर अच्छे समझे जानेवाले किन्ही उद्देश्यो को प्राप्त करने के लिए उन लोगो द्वारा, वस्तुत., परिवर्तित भी कर दिये जाते हैं, जिसके पास उसकी शक्ति को काम में लाने का क़ानूनी अधिकार है। और, इस प्रकार की राज्य-संस्था किन-किन उद्देश्यो को पूर्ण करना चाहती है, और उनको किस तरीक़े से पूर्ण करना चाहती है, इन प्रश्नो को हम जिस दृष्टि से देखेंगे, उसी पर उसके महत्व और खतरो सम्बन्धी हमारे विचार भी अधिकांश निर्भर रहेगे।

यहाँ मै राज्य-संस्था का इतिहास विस्तार से नहीं बता सकता।

केवल यही एक महत्वपूर्ण बात बता देना पर्याप्त होगा, कि राज्य-संस्था का यह स्वरूप कि वह सर्वोपरि संस्था है, ऐतिहासिक घटनाओं की एक लम्बी शृङ्खला का परिणाम है। इन घटनाओं में सबसे महत्वपूर्ण घटना यह थी कि (यूरोप में) रिफॉर्मेशन के युग में एक ऐसी श्रेणी के संगठन को तलाश करने की आवश्यकता हुई जो अपनी-अपनी सत्ता की प्रधानता का दावा करनेवाली संस्थाओं के दावों के विषय में अन्तिम निर्णय दे सके। अन्य सब संगठनों की अपेक्षा राज्य-संस्था ने प्रधानता इस कारण पाई कि इसने उस समय व्यवस्थापित शान्ति की इतनी आशा दिलाई जितनी कि दूसरा कोई संगठन दिलाने का दावा नहीं कर सका था। धार्मिक मतों के पारस्परिक विरोध से लड़ाई-झगडे के सिवाय कोई सत्परिणाम दिखाई नहीं देता था, आर्थिक संगठन स्वरूपतः अपने-अपने स्थान पर बहुत छोटे-छोटे और पृथक्-पृथक् थे और वे व्यापक नियम बना सकने योग्य न थे उस समय की संस्थाओं में से, राज्य-संस्था ही एक ऐसी निकली जो ऐसे विधि-निदेशों को स्थापित करने में समर्थ हुई जिनका सारी जनता सम्मान करे। वह जीवन-विधि को व्यवस्थित करने में समर्थ हुई, क्योंकि, यदि उसकी आज्ञायें न होतीं तो बिलकुल व्यवस्था ही न रहती। यद्यपि प्रतिद्वन्द्वी संस्थाओं ने लोगों की निष्ठा को अपनी ओर आकर्षित करने का कम तीव्रता से प्रयत्न नहीं किया, फिर भी राज्य-संस्था ही विजयी हुई उसकी विजय मनुष्यों से बलपूर्वक अपनी इच्छा का पालन करवाने की योग्यता में ही अन्तर्हित थी।

वह अपनी इच्छा का पालन कराने मे क्यो समर्थ हुई ? इस स्थान पर हम राज्य-संस्था को शुद्ध क़ानूनी व्यवस्था की दृष्टि से देखना छोड देते है, और अब उसे दार्शनिक विश्लेषण का विषय बनाते है। स्पष्टत, हमे उसे दो भिन्न भिन्न दृष्टि विन्दुओ से देखना चाहिए। हमे प्रथम तो यह बताना है कि राज्य-संस्था का प्रयोजन, सामान्य स्वरूप मे, क्या दिखाई देता है, अर्थात् वह किसी विशेष समय जिस प्रकार के क़ानूनी विधि-निदेशो को बलपूर्वक लागू करती है वे उस प्रकार के ही क्यो होते है। और, हमे एक ऐसी कसौटी भी ढूँढ निकालनी है जिसके द्वारा हम यह जान सके कि उन कानूनी विधि-निदेशो का स्वरूप, सामान्य शब्दो मे, क्या होना चाहिए। संक्षेप मे, किसी विशेष राज्य-संस्था की प्रवृत्तियाँ विशेष प्रकार की क्यो पड जाती हैं। उदाहरण के लिए क्रान्ति से पहले के फ्रान्स के 'पुराने शासन' को ही लीजिए। उसकी विशेष-विशेष प्रकार की ही प्रवृत्तियाँ क्यो पडी थीं, और किन कारणो से हमे यह कहना पड़ता है कि 'पुराने शासन' के समय की फ्रान्सीसी राज्य-संस्था की कृतियाँ उस प्रयोजन के लिए अनुपयुक्त थीं, जिसके लिए राज्य-संस्थाओ का अस्तित्व होना चाहिए।

राज्य-संस्था से अमुक-अमुक कार्य-सम्पादन करने की जो मांगे की जाती है, उनको सन्तुष्ट करने का कर्तृत्व ही राज्य-संस्था की सत्ता है। उदाहरण के लिए उसके प्रजा-जन चाहते है कि उनके शरीरो और सम्पत्ति की रक्षा की जाय, तो, राज्य-संस्था के क़ानूनी विधि-निदेश उस इच्छा को सन्तुष्ट करने के लिए प्रयुक्त किये जाते

है। उसके प्रजा-जन अपने-अपने ढंग से ईश्वर की पूजा करना चाहते हैं, और यह नहीं चाहते कि किसी भी विशेष प्रकार के धार्मिक विश्वास पर कोई रुकावट लगाई जावे। यदि इस माँग पर किसी की भी आपत्ति नहीं हो सकती, तो राज्य-संस्था सब धर्मों के प्रति सहिष्णुता को अपना एक क़ानूनी विधि-निदेश बना लेती है। फ्रांस की राज्यक्रान्ति का कारण केवल यह था कि उस समय के 'पुराने शासन' द्वारा स्थापित किये हुए विधि-निदेशों से उन माँगों का पूर्ण होना असम्भव था जिनकी पूर्ति राज्य के सदस्य उसकी संस्थाओं से चाहते थे।

दूसरे शब्दों में कहें तो कार्य-साधनार्थ उपस्थित की जानेवाली मांगों को पूरा करने की क्षमता ही क़ानूनी विधि-निदेश है। विधि-निदेश हमेशा उन लोगों की इच्छा के अनुरूप होवेंगे, जो राजनैतिक शक्ति के केन्द्र में अपनी इच्छाओं का अनुभव करवाने का ढंग जानते हैं। किसी विशेष राज्य-संस्था के क़ानून उन्हीं इच्छाओं की पूर्ति करने का प्रयत्न होगा, और जिस हद तक मांगें स्वीकृत हो सकेंगी वे भी उसी हद तक कार्य-साधक या सफल हो सकेंगे। अर्थात्, क़ानूनी विधि-निदेश बनाने के लिए राज्य-संस्था के सदस्यों की उसके सामने आनेवाली बहुसंख्यक प्रतिद्वन्द्वी इच्छाओं में से, कुछ चुन ली जाती हैं, और अन्य नहीं चुनी जातीं। इनको चुनने का सिद्धान्त सदा एक-सा नहीं रहता, या तो समय के अनुसार या स्थान के अनुसार यह सिद्धान्त काम में आता है। पाश्चात्य सभ्यता के मातहत किसी भी ऐसी राज्य-संस्था की हम कल्पना तक नहीं

कर सकने, जो राष्ट्रीय शिक्षा की पद्धति चलाने के लिए अपने सदस्यो पर कर नहीं लगाती हो। परन्तु डेढ शताब्दि पहले इस बात की कल्पना तक नही हो सकती थी कि इस काम के लिए किसी राज्य-संस्था को अपने सदस्यो को धन देने के लिए वाध्य करना पडेगा। जो माँग उस समय आवश्यक हुई, वह कालान्तर में अनिवार्य हो गई है।

यह क्यो हुआ ? क्योंकि जो लोग राज्य-संस्था की सत्ता का संचालन करते हैं, उहोंने शिक्षा की राष्ट्रीय पद्धति की माँग की पूर्ति करना आवश्यक या बुद्धिमत्ता-पूर्ण या न्याय-संगत समझ लिया है। परन्तु हमें इस बात का पता लगाना है कि किसी विशेष समय और विशेष स्थान पर इस प्रकार की माँग क्यो सफल होती है। स्पष्टत, इसका उत्तर यह नही हो सकता कि माँग उचित थी। राज्य-संस्था ने उचित माँगो को कार्यान्वित करने से, बहुधा, इनकार कर दिया है, और ऐसी माँगो को स्वीकार कर लिया है जिनको वुद्धि थोडे विचार से भी कभी उचित नहीं वता सकती। यह वात भी नहीं हो सकती कि उनके तत्व में वुद्धिमत्ता रही है, क्योंकि राजनीतिज्ञ लोग सदा वुद्धिमत्ता से ही काम नहीं किया करते। आवश्यकता का होना एक अधिक स्पष्ट कारण मालूम होता है। परन्तु, फिर हमें यह जानने की आवश्यकता है कि किसी विशेष समय और स्थान पर एक विशेष माँग ही राज्य-संस्था द्वारा क्यों आवश्यक समझी जाती है और दूसरी क्यों नहीं।

जिन हेतुओ से प्रेरित होकर राजनीतिज्ञ लोग काम किया

करते है वे निःसन्देह इतने जटिल और मिले हुए होते हैं कि उनको सरलता से बताना बहुत ही कठिन है। कोई भी एक कारण ऐसा नहीं है जिसमे अन्य कारणों का समावेश बिलकुल न होता हो। तथापि सामान्य नियम यह माना जा सकता है कि किसी विशेष राज्य-संस्था का स्वरूप, स्थूलतः, उसी प्रकार का होगा जिस प्रकार का आर्थिक सङ्गठन उस राज्य-संस्था द्वारा नियन्त्रित समाज मे मौजूद होगा। किसी भी प्रकार के सामाजिक सङ्गठन को देखिए, उसमे मालूम होगा कि वह एक तरह से आर्थिक शक्ति पर नियन्त्रण पाने के लिए एक सङ्घर्ष है। क्योंकि लोगों के हाथ मे यह शक्ति जिस मात्रा मे होती है, उसी मात्रा मे वह अपनी मॉगो को कार्यान्वित करवा सकते हैं। तब क़ानून ऐसे सम्बन्धो का एक समूह बन जाता है, जिनमे उन लोगो की जरूरतों का क़ाननी स्वरूप प्रकट किया जा सके। इसलिए जिस ढंग से किसी विशेष समय और स्थान पर आर्थिक शक्ति बॅटी हुई होगी उसीके अनुरूप उस विशेष समय और स्थान पर लागू किये जानेवाले क़ानूनी विधि-निदेशो का स्वरूप होगा। इन परिस्थितियो मे राज्य-संस्था—जिन लोगो का आर्थिक-प्रणाली पर प्रभुत्व होता है, उनकी आवश्यकताओ का मूर्त रूप है। कानूनी व्यवस्था एक ऐसा परदा है जिसके पीछे, जिन लोगो के आर्थिक हित दूसरे सब आर्थिक हितो पर प्रभुत्व रखते है, वे राजनैतिक सत्ता का लाभ उठाते है। राज्य-संस्था अपने कार्य द्वारा जान-बूझकर सामान्य न्यायपूर्णता या सामान्य उपयोगिता ही साधित करने का ध्यान नही रखती, परन्तु समाज

के प्रभावशाली वर्ग के हितो (विस्तृत अर्थ मे) को साधित करने का ध्यान रखती है।

परन्तु ध्यान रहे कि इस विचारसरणि का जितना अर्थ है या यह जहाँ तक उचित है, उससे अधिक इसका तात्पर्य नहीं समझना चाहिए। उपर्युक्त विवेचन मे इस बात पर ही विचार किया गया है कि राज्यसंस्था के सामान्य स्वरूप का कारण क्या है, हम राज्यसंस्था के कार्यों के व्यौरे मे नही गए है। यह विचारसरणि वताती है कि स्थूलतः सम्पत्ति के स्वामित्व के साथ ही विशेषाधिकार रहते है,और सम्पत्ति से वहिष्कार हो जाने का परिणाम होगा विशेषाधिकारो से वहिष्कार हो जाना। इससे यह पता चलता है कि समाज मे सम्पत्ति के स्वामित्व का पलड़ा जिस ओर भारी होता जाता है उसीके अनुसार राज्यसंस्था के कार्यों का पलडा भी नए साम्य की अवस्था को क़ायम रखने के लिए परिवर्तित होता जाता है। निश्चय ही, वह परिवर्तन तत्काल तो वहुत ही कम होता है और पूर्ण तो कभी नहीं होता। ऐतिहासिक प्रगतियो मे समय की शिथिलता हुआ ही करती है, जिसके कारण सारी परिस्थिति के अनुकूल परिवर्तन आंशिक ही होते हैं। जिन-जिन वर्गों ने शक्ति प्राप्त करली है वे उसका प्रयोग उग्ररूप से प्राय' कभी नही करते। उनको अपने विरोधियो को रिआयते देकर उनकी,नई साम्यावस्था के प्रति, सहमति ख़रीदनी पडती है। और उन्हे स्वयं वहुत वार यही अनुभव करना पडता है कि उनका शक्ति प्राप्त कर लेना मात्र ही सन्तोषजनक है। जिस प्रकार वे पहले शक्ति से स्वयं वहिष्कृत

थे उसी प्रकार अब दूसरो को बहिष्कृत कर देने का प्रयत्न नहीं करते। परन्तु जो कोई राज्य-संस्था के क़ानूनो का अध्ययन करेगा, वह इस बात मे सन्देह नहीं कर सकता कि जो वर्ग राज्य संस्था के नाम से शासन करता है, उसकी माँगो के अनुरूप ही क़ानून होते हैं। इङ्गलैण्ड मे ट्रेड यूनियन क़ानून, अमेरिका में इक़रार की स्वतन्त्रता का क़ानून और प्रशिया मे कृषकों सम्बन्धी क़ानून, इन सबका इतिहास इस बात का उदाहरण है कि किस प्रकार कोई प्रभावशाली आर्थिक वर्ग अपने हितो की सबसे अच्छी तरह रक्षा करनेवाले विधि-निदेशो को बनवाने के लिए राज्य-संस्था का उपयोग करता है।

यहाँ, एक क्षण के लिए भी इस बात से इनकार नहीं किया जाता कि शासन करनेवाले वर्ग में बुद्धिमत्तापूर्वक या न्यायपूर्वक कार्य करने की इच्छा होती है। परन्तु जिन लोगो का जीवन भिन्न-भिन्न प्रकार का है, वे विचार भी भिन्न-भिन्न प्रकार से करते हैं। और समष्टिरूप से समाज के हितसाधन के लिए कौन कौन से विधि-निदेश अन्तत अभीष्ट हैं, इस समस्या पर करने के लिए प्रत्येक वर्ग अपने मस्तिष्क के भीतर कुछ और अर्धसंज्ञात तर्क (Major Premise) रखता है और उसी दृष्टि से विचार करता है, और इन्हींसे उसके बुद्धिमत्ता या न्यायपूर्णता सम्बन्धी विचार प्राय बनते हैं। धनवान मनुष्य बात का सदा कम अन्दाज लगाते हैं कि सुख-प्राप्ति कराने की सम्पत्ति मे कितनी शक्ति है। धार्मिक मनुष्य सदा नैतिक

पर श्रद्धा रखने के प्रभाव का अधिक अन्दाज लगाते है। विद्वान् लोग विद्वत्ता का बुद्धिमत्ता से सम्बन्ध है, इस 'बात को प्राय' उचित से अधिक महत्व देते हैं। हम सब अपने-अपने अनुभवो के बन्दी हैं। और चूँकि हमारे अनुभव का मुख्य भाग अपने जीवन-निर्वाह का प्रयत्न करते हुए ही प्राप्त होता है, इसलिए जिस ढंग से यह आजीविका उपार्जित की जाती है उसके अत्यधिक अनुरूप ही, क्या अभीष्ट है और क्या अभीष्ट नही है, इस सम्बन्धी हमारी भावनाये बनती है। जॉन ब्राइट फैक्ट्री-क़ानूनो की महत्ता को कभी नही समझ सका, क्योकि वह ख़ुद कारख़ानेदार होने की हैसियत से जिन अत्यन्त कटु अनुभवो को उसने प्राप्त किया था उनके विरुद्ध वे कानून पड़ते थे। और, लार्ड शैफ्ट्सबरी जैसा भूमिपति जिसे फैक्ट्री क़ानूनो की न्यायपूर्णता का समझना कठिन न था, खेत के मजदूरो की अवस्थाओ को सुधारने के लिए क़ानून बनाने की न्यायपूर्णता को कभी नहीं समझ सका। संयुक्त राष्ट्र (अमेरिका) के दास-स्वामी पूर्ण सचाई के साथ विश्वास करते थे कि दासता की प्रथा से तो दासो का ही हित होता है।

कोई-कोई यह आपत्ति करते हैं कि यह सिद्धान्त उस समाज के लिए तो ठीक हो सकता है जिसमें सत्ता थोड़े मनुष्यो के हाथ मे हो, उदाहरणत जिस इंग्लैण्ड मे मताधिकार मध्यमवर्ग के मनुष्यो के लिए ही सीमित होगा, उसमे स्वभावत. ही प्रधानतया मध्यम-वर्गीय स्वरूप के क़ानून बनेंगे। परन्तु जहाँ राज्य-संस्था बालिग मताधिकार के आधार पर प्रजातान्त्रिक है, वहाँ, राज्य के

शासक समष्टिरूप से समाज द्वारा चुने जाते है यह तथ्य, उक्त आर्थिक व्याख्या को निकम्मा कर देती है कि सम्पत्ति की शक्ति राज्य के स्वरूप को मुख्यत निश्चित करती है।

परन्तु यह आपत्ति ऊपर से देखने से जितनी तात्विक मालूम होती है उतनी नहीं है। यह सत्य है कि एक प्रजातन्त्रीय राज्य संस्था जनसमुदाय की ओर अल्प-जन-सत्तात्मक राज्य-संस्था की अपेक्षा सामान्यत अधिक उदार होगी। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियो मे इंग्लैण्ड मे बने क़ानूनो के बीच मे जो अन्तर है उससे ही यह बात स्वयं स्पष्ट हो जाती है। परन्तु ये अन्तर तथ्य के मूल मे कोई आघात नही पहुँचाते। सत्ता की प्रवृत्तियाँ अपने कार्यों के लिए, अपने पास क्या है इस बात के ज्ञान, संगठन करने के अभ्यास, और तात्कालिक प्रभाव डालने की योग्यता पर निर्भर रहती है। प्रजातन्त्रीय राज्य-संस्था मे, जहाँ कि आर्थिक शक्ति की बड़ी-बड़ी विषमतायें होती है, निर्धन मनुष्यो मे मुख्य विशेषता तो यही होती है कि उनमे ये बाते नही होती। वे नहीं जानते कि उनके पास भी कुछ शक्ति है। वे इस बात का बहुत कम अनुभव करते हैं कि अपने स्वार्थों को संगठित कर लेने से क्या परिणाम प्राप्त किया जा सकता है। उनकी सीधी पहुँच अपने ऊपर शासन करनेवाले व्यक्तियो तक नहीं होती। प्रजातन्त्रीय राज्य मे भी यदि श्रमिक वर्ग कोई कार्य करते है, तो उस काम से जितना लाभ होना निश्चित होता है उसकी अपेक्षा उनकी आर्थिक निश्चिन्तता बहुत अधिक खतरे मे पड़ जाती है। उनके हाथो मे वे साधन

कचित ही होते है जिनसे वे अपनी इच्छाओ को पूर्ण कर सके। वे यह भी नही जानते कि इनका किस प्रकार विधिवत् व्यक्त किया जाय और किस प्रकार इनका समर्थन किया जाय। वे नीचेपन की भावना से सदा दबे रहते है जो कि आज्ञाओ का सदा पालन करते रहने से पैदा होती है, और आज्ञा देने के अभ्यास द्वारा उत्पन्न आत्मविश्वास के समस्त अनुभवो से वे वंचित रहते हैं। वे भूल से समझ बैठते है कि जिन संस्थाओ को उन्होने उत्तराधिकार मे पाया है, वे समाज के अनिवार्य आधार स्तम्भ हैं। वास्तव मे, प्रत्येक प्रकार से यह आशा की जा सकती है कि सार्वजनिक मताधिकार की भित्ति पर बनी हुई राज्य-संस्था से, अन्य किसी प्रकार की राज्य-संस्था की अपेक्षा, जनसमुदाय को अधिक विस्तृत रिआयते मिलेगी, परन्तु ऐसा कोई ऐतिहासिक कारण नही है जिससे यह अनुमान किया जा सके कि आर्थिक-रूपेण विपम समाज के जो सामाजिक परिणाम होते हैं उनको ऐसी राज्य-संस्था स्वय सीधी तरह से मूलत परिवर्तित करने मे समर्थ हो सकेगी।

तात्पर्य यह है कि, हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि किसी विशेप राज्य-संस्था में जो विधि-निदेश बनते हैं उनका स्वरूप उन कार्यसाधनार्थक माँगो के अनुरूप होता है जिनका सामना राज्य-संस्था को करना पडता है, और फिर ये मांगे भी, सामान्य रूप से, उसी प्रकार की होती हैं जिस प्रकार की उस राज्य-संस्था द्वारा नियन्त्रित समाज में आर्थिक शक्ति बटी हुई होती है। इससे यह निष्कर्प निकलता है कि आर्थिक शक्ति जितनी समानता से

विभक्त होगी उतना ही घनिष्ट सादृश्य समाज के साधारण हितों और राज्य-द्वारा लागू किये हुए क़ानूनी विधि-निदेशों के बीच होगा। क्योंकि यह तो स्पष्ट है कि आर्थिक शक्ति समान होने से कार्य-साधनार्थक माँग भी समान होती है और उस अवस्था में राज्य की इच्छाशक्ति एक दिशा की अपेक्षा दूसरी दिशा की ओर विशेष पक्षपात लिये हुए नहीं होती। और यदि राज्य-संस्था माँग को पूरा करने के लिए एक संगठन माना जाय तो जिस शक्ति का उसे सामना करना पड़ता है वह जितनी समानता से विभक्त रहेगी उसकी पूर्ति भी राज्य-संस्था की ओर से उतनी ही व्यापक होगी।

कुछ भी हो इतिहास का सामान्य अनुभव तो यही मालूम होता है। कुलीन जन-सत्तात्मक राज्य इसलिए चलता रहा कि उसके लाभों से बहिष्कृत रहनेवाले लोगों की संख्या, जो उस राज्य की भित्तियों का विरोध करने की अपनी शक्ति को पहचानते भी थे, इतनी कम थी कि उसका कुछ परिणाम नहीं हो सकता था। और वह इसलिए नष्ट हो गया कि उत्पत्ति-प्रणाली में परिवर्तन होजाने से राज्य में सम्पत्ति का विभाजन इतना बदल गया कि जो लोग सत्ता से बहिष्कृत थे, वे नई समाज-व्यवस्था में अच्छी तरह हिस्सा लेने पर राज्य-संस्था द्वारा लागू किये जानेवाले क़ानूनी विधि-निदेशों के दायरे को अपने लाभ के लिए बढ़वा सके।

अतः इस स्थान पर अब हम इस बात की जाँच कर सकते हैं कि राज्य-संस्था को शुद्ध क़ानूनी व्यवस्था मानने का क्या अर्थ है। ऐसा मानने से यह मालूम नहीं होता कि क़ानूनी क्षेत्र के बाहर

भी राज्य-संस्था की प्रामाणिकता है या नहीं। क़ानूनी विधि-निर्देशों के समूह की हैसियत से राज्य-संस्था शक्तियों का एक अस्थायी समानान्तर चतुर्भुज है और जैसे-जैसे इसके क्षणिक स्वरूपों को निर्धारित करनेवाली शक्तियाँ बदलती रहती हैं वैसे-वैसे ही इसका स्वरूप भी बदलता रहता है। इसके क़ानून इसी दृष्टि से प्रामाणिक हैं कि किसी विशेष समय पर वे वास्तव में बलपूर्वक लागू किए जा सकते हैं। यदि, उनका मूल उद्गम राज्य-संस्था है, इसके अतिरिक्त अन्य आधार पर हम उनके प्रामाणिक होने का कभी दावा करते हैं, तो हम क़ानून के क्षेत्र का उल्लङ्घन करके उस प्रदेश मे आ जाते हैं जहाँ दूसरे ही हेतु प्रधान हैं। तात्पर्य यह है कि सयुक्त राष्ट्र की कॉंग्रेस या ब्रिटिश पार्लमेण्ट का कोई भी क़ानून क़ानूनी क्षेत्र में माननीय किये जाने का दावा केवल इसलिए करता है कि वह उस कॉंग्रेस का या पार्लमेण्ट का कानून है। यदि वह अन्य आधारों पर मान्यता पाना चाहे, उदाहरणत. यदि वह इस कारण मान्य होना चाहे कि वह बुद्धिमत्ता-पूर्ण है या न्याय पूर्ण है, तब तो इस आधार की दृष्टि से उद्गम स्थान के कारण मान्य होने की उसकी बात असङ्गत होगी। क्योंकि फिर तो वह अपने आपको मूल्य-सम्बन्धी सिद्धान्त के शब्दों मे उपस्थित करता है, जो क़ानून के शुद्ध क्षेत्र में उचित नहीं हो सकता।

२

यहाँ राज्य-संस्था सम्बन्धी तत्व-ज्ञान का दूसरा पहलू सामने आता है, जिसका उल्लेख पहले ही कर दिया गया है। हमने बताया

है कि कुछ लोगो का एक समुदाय, जिनका सामूहिक नाम सरकार है, विधि-निदेशो को बल-पूर्वक लागू करता है, और राज्य संस्था की दृष्टि मे कानून ऐसे ही विधि-निदेशो का समूह है। हमने यह मालूम किया है कि विधि-निदेशो का वास्तविक स्वरूप आर्थिक व्यवस्था के अनुरूप ही बनता है, और क़ानूनी व्यवस्था का, जो कार्य साधनार्थक माँगो को पूर्ण करती है, आधार किसी भी विशेष समय पर यह आर्थिक व्यवस्था ही होती है। परन्तु, स्पष्टतः, इस से हमे शुद्ध वस्तुस्थिति के सिवाय अन्य कुछ ज्ञात नहीं होता। इससे यहाँ ज्ञात होता है कि कोई राज्य-संस्था किसी विशेष स्वरूप के क़ानून को क्यो बनाती है। इससे यह ज्ञात नहीं होता कि राज्य-संस्था के क़ानूनो का स्वरूप, तत्वत, कैसा होना चाहिए।

कहने का तात्पर्य यह है कि राज्य-संस्था की शुद्ध कानून-परक व्याख्या उसके उद्गम-स्थान के कारण ही माननीय है। परन्तु यदि मै प्रश्न करूँ कि मुझसे राज्य-संस्था का आज्ञा पालन करने की आशा क्यो की जानी चाहिए, तो स्पष्टत., मुझे यह बताया जाना काफी नही है कि तुम्हे उसका आज्ञा-पालन इसलिए करना चाहिए कि वह राज्य-संस्था है। मैं प्रश्न करूँगा, जैसा कि भूतकाल मे लोगो ने प्रश्न किया है, कि राज्य-संस्था के निर्देश पालन किये जाने योग्य क्यो हैं, और यदि वे, जो कुछ मै विचारता हूँ, जो-जो आशाये रखता हूँ और जिस-जिस बात का अनुभव करता हूँ, उन सबके विरुद्ध जाते हैं, तो मैं यही परिणाम निकाल सकता हूँ, जैसा कि भूतकाल मे लोगो ने निकाला था, कि मेरे सामने इसके सिवाय

दूसरा चारा नहीं है कि जो आज्ञा-पालन मुझसे इस प्रकार चाहा जाता है मैं उससे इनकार कर दूँ।

इसलिए राज्य-संस्था की आज्ञाएँ इस कारण मान्य नहीं है कि वे राज्य-संस्था की है परन्तु उनके औचित्य के लिए और भी कारण होने चाहिएं। ऐसे उद्गम स्थान से तो इतना ही ज्ञात होता है कि वे कहाँ से निकली है। उससे यह तो ज्ञात होता है कि आज्ञापालन कराने के लिए बल-प्रयोग करना, सामान्यत., उनके अधिकार मे होगा। परन्तु उससे और अधिक कुछ ज्ञात नही होता। वह यह नहीं बताता कि इन आज्ञाओ को निकालकर राज्य-संस्था ने उचित कार्य किया। इस प्रकार राज्य की क़ानून-परक व्याख्या न्याय्यता-परक व्याख्या नहीं है, जबतक कि वह क़ानून की व्याख्या से कुछ अधिक नहीं बनती। हमें इस बात की जांच करनी होगी कि क़ानून है किस लिए, वह किस उद्देश्य को सिद्ध करने का दावा करता है, वह ऐसा क्यों समझता है कि वही हमारा भी उद्देश्य होना चाहिए। इसके पश्चात् ही हम राज्य-संस्था की ऐसी व्याख्या प्राप्त कर सकेंगे जो राजनैतिक तत्व-ज्ञान के प्रयोजन के लिए उपयुक्त हो सकेगी। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि हमे क़ानून के साथ उसका प्रयोजन भी लगाना होगा, जिससे वह मनुष्यो को स्वीकार्य हो सके।

कानून के प्रयोजन प्रायः उतने ही भिन्न-भिन्न है जितने कि मनुष्य-जाति के ऐतिहासिक अनुभव। परन्तु मनुष्य जिन संस्थाओ के अधीन रहे है उनका औचित्य सिद्ध करने के लिए उन्होने किस प्रकार प्रयत्न किया है, यह जानने के लिए कुछ मुख्य-मुख्य विचारो

का भेद समझ लेना उपयोगी होगा। मानव जाति की आरम्भिक अवस्था के अनुभवों का जो अत्यन्त सामान्य दृष्टिकोण रहा है वह दैवी कहा जा सकता है। क़ानून ऐसे दैवी नियमों का समूह है जो उनकी अधीनता में रहनेवाले मनुष्यों के लिए किसी परमेश्वर या देवताओं की ओर से मिले हैं, अतः वे पालन करने योग्य हैं क्योंकि उनकी उत्पत्ति दैवी है। स्पष्टतः मूसा का क़ानून या सूर्य देवता द्वारा पूर्ण ब्योरेवार दिया हुआ हम्मूराबी का क़ानून ऐसा ही था। लोगों से उनका पालन करने को इसलिए कहा जाता है कि इनका भंग करने पर दैवी प्रकोप होगा। अथवा, इससे एक क़दम आगे बढ़े तो हमें क़ानून ऐसे प्राचीन रीति-रिवाजों का समुदाय मिलता है, जो सम्भवतः लिखे नहीं गये परन्तु जिनकी एक पुरोहित जाति ने परम्परा से रक्षा की है, और वे अपना पालन इसलिए चाहते हैं कि उनको तोड़ने से दैवी-अप्रसन्नता का भय है।

ऐसे सिद्धान्त, अधिकांश, मानव जाति के प्रारम्भिक इतिहास के समय के हैं। अधिक परिपक्व युग में, उदाहरणतः रोम के न्याय-विज्ञान (क़ानून-शास्त्र) के समय में, क़ानून का पालन करना इसलिए अच्छा बताया गया है कि समस्त पदार्थों और तथ्यों का जो मूल स्वरूप है उससे क़ानून के सिद्धान्तों की उत्पत्ति हुई है, अतः मनुष्यों का व्यवहार उनके अनुकूल होना चाहिए। ऐसी सृष्टि-रचना शास्त्रीय दृष्टिकोण टॉमस एक्विनास के दृष्टिकोण से मिलता-जुलता है। टॉमस एक्विनास के विचारानुसार क़ानून एक ऐसा दर्पण है जिसमें विश्व की रचना और शासन करनेवाली दैवी बुद्धि का

प्रतिबिम्ब है। मनुष्यो को उसका पालन करना चाहिए, मनुष्य उसके पालन द्वारा स्पष्टतः उस योजना के अनुकूल अपना व्यवहार बनाते हैं जिस पर ससार की अच्छी व्यवस्था निर्भर है। केण्ट की विचार-दृष्टि भी इसीके समान है। उसके मतानुसार क़ानून उन नीति-नियमो का समूह है जिनसे प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्तियो को भी वैसी ही स्वतन्त्रता देता हुआ अपनी अधिक-से-अधिक स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकता है। हेगेल इसी विचार को सृष्टि-रचना-शास्त्र पर घटा देता है। उसने प्रतिपादन किया है कि इतिहास का क्रम अधिकाधिक बढ़नेवाली स्वतन्त्रता के विकास के सिद्धान्त का व्यक्त रूप है, और वह सिद्धान्त राज्य-संस्था के विकास के रूप मे पूर्ण होता जाता है।

इन सब व्याख्याओं में एक सामान्य विशेपता है। उनके अनुसार क़ानून की प्रामाण्यता मनुष्य की नियन्त्रण-शक्ति के परे है। चाहे वे ईश्वर का प्रकोप मानें, चाहे विश्व की आन्तिरिक योजना का पूर्ण करना माने, चाहे बढ़ती हुई स्वतन्त्रता की प्राप्ति करना मानें, परन्तु वे यह कभी नहीं मानते कि मनुष्य एक स्वाधीन अवयव है जो स्वय अपने अनुभव से इच्छापूर्वक और जानता हुआ क़ानूनो के निर्माण को रूप देता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि क़ानून का तत्व 'दूर अन्यत्र, रहता है, और उसका पता लगाना मनुष्य का काम है। अच्छाई इसी बात मे है कि मनुष्य ऐसे व्यवहार-शास्त्र के अनुकूल आचरण करे जिसके निर्माण करने में उसका कोई हाथ न रहा हो। उससे कहा जाता है कि वह

नीति-नियोगो के ऐसे समूह पर विश्वास करे जिसमे सृष्टि-क्रम के अनिवार्य परिणाम समाविष्ट है अथवा ऐसे परिणाम समाविष्ट हैं जिनसे वह मुक्ति-रूपी मूल्य देकर ही छुटकारा पा सकता है।

बिलकुल स्पष्ट है कि ऐसी व्याख्याये काम की नहीं हैं। ऐतिहासिक अन्वेषण ने उन सब व्याख्याओ का खण्डन कर दिया है जो दैवी प्रामाण्यता के आधार पर बनी हुई थी। उनके दिव्य-संदेशोवाला ईश्वर ऐसे रहस्य की भाषा मे बोलता है, जो उसके स्वयं-नियुक्त भक्तो के सिवाय और किसीके लिए आकर्षण नहीं रखता। इसके अतिरिक्त, सृष्टि-क्रम की, जो प्रकृति या दैवी बुद्धि का व्यक्त रूप है, कल्पित युक्ति के आधार पर बनी हुई व्याख्यायें, स्पष्टत सामाजिक जगत में अचेतन प्रकृति के से क़ानून ढूँढ निकालने के प्रयत्न का फल है। परन्तु यह प्रयत्न असफल रहा है। इसमे यह बात भुला दी गई है कि सामाजिक जगत केवल निरन्तर गतिशील ही नही है परन्तु निरन्तर नवीनता-शील भी है, और व्यक्तिगत मनुष्यो की सक्रिय इच्छाशक्तियाँ ही उसके समीकरण के अङ्ग हैं, और व्यक्तिगत मनुष्य आकस्मिक परिणामो की छानबीन करके उनको बदलने मे भी समर्थ हैं। वे इच्छापूर्वक परिवर्तन करते है। इसलिए भौतिक-विज्ञान और रसायन-विज्ञान जैसे प्राकृतिक क़ानूनो के समान दृढ नित्यता रखने वाले क़ानून राजनैतिक क्षेत्र मे काम नही दे सकते। प्रकृति के अनुकूल सामाजिक जीवन हो इसमे, स्टोइकवाद (वैराग्यवाद) की भाँति, यह भुला दिया गया है कि सभ्य संसार मे कला ही

मनुष्य की प्रकृति है। और, कला के उच्चतम सिद्धान्तों के अनुकूल जीवन सुन्दरत्व या शिवत्व सम्बन्धी उस दृष्टिकोण पर निर्भर है जो सर्वत्र घटित हो सके।

अब बात यह है कि क़ानून की जिन व्याख्याओ पर हमने ऊपर विचार किया है उनमें से अधिकांश उस समाज-व्यवस्था का समर्थन करती है जिसमे बहुत लोग थोड़े लोगो के लाभ के लिए जीते है। उदाहरण के लिए 'हेगेल यह मानता था कि प्रशिया के राजा का आज्ञापालन करना ही मनुष्य की स्वतन्त्रता का उच्चतम विकास है'। यह कहना उसकी राज्य-संस्था सम्बन्धी व्याख्यान का हास्यजनक चित्र न होगा। संक्षेप मे, आंशिक और पक्षपातपूर्ण अनुभव के आधार पर बनी हुई धारणाओ को शेष समाज की इच्छाओं पर लाद देने से ही ऐसी विचार-दृष्टियाँ बनी हैं, इनमे यह जानने का प्रयत्न नहीं किया गया है कि इन धारणाओ के परिणाम से उनके अनुभव कहाँ तक मिलते हैं। यही कारण है कि लोग कानून की उस व्याख्या की ओर आकर्षित होते हैं जो प्राचीन यूनान के समय से अबतक लोगो पर मोहिनी डाले हुए है।

वह व्याख्या, कम-से-कम अपने मूल-तत्वो मे तो, सरल है। उसके अनुसार क़ानून मनुष्यों के लिए तबतक माननीय नही है जबतक वे उसको माननीय स्वीकार न करलें। इसलिए, किसी भी ढग की राज्य-संस्था के क़ानूनी विधि-निदेशो को प्रामाणिकता इस बात ने दी है कि मनुष्यों ने उन आधारभूत सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया है जिन पर वे बने हैं। प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि यदि

मनुष्य अपनी-अपनी की हुई प्रतिज्ञाओं का पालन न करें तो जीवन असम्भव होजाय और इसलिए यदि राज्य-संस्था की नींव सर्व-स्वीकृति पर स्थित हो तो उसके निर्मित क़ानून नागरिकों के लिए बाध्य हो सकते है। अन्यथा, स्पष्टत, वह नग्न बल-प्रयोग होगा और उसको कोई नैतिक आधार नहीं दिया जा सकता।

मोटे तौर पर कहे तो यह सामाजिक ठहराव का सिद्धान्त है। मतलब यह है कि मनुष्य मिलकर राज्य-संस्था बनाने पर राजी होते हैं, और उसके हाथ मे आज्ञाये निकालने की शक्ति देते हैं। कभी-कभी, जैसा कि हॉब्स का मत है, यह शक्ति अपरिमित और अनुल्लङ्घनीय होती है, मनुष्य अराजकता के भीषण त्रास से बचने के लिए एक निरङ्कुश स्वेच्छाचारी को अपना स्वामी बना लेते हैं। कभी-कभी, इसके विरुद्ध, जैसा कि लॉक का मत है यह शक्ति परिमित और लङ्घनीय होती है; मनुष्य राज्य-संस्था के लाभो को समझते हैं, परन्तु वे उसे सर्वाधिकार-सम्पन्न बनाने के लिए राजी नही होते। यदि उसे क्रान्ति के ख़तरे से बचना हो तो उसे एक 'लिमिटेड कम्पनी' के समान बिलकुल अपने 'मेमोरेण्डम आव् एसोसिएशन' की सीमा के भीतर रहना चाहिए। और कभी-कभी, जैसा कि रूसो का मत है, राज्य-संस्था मनुष्यो की सहमति से सर्वाधिकार-सम्पन्न ही बनती है, परन्तु जब वह कार्य करती है तो ज्यो-ज्यो वह एक-एक कार्य करती जाती है त्यों-त्यो उन मनुष्यो की प्रत्येक इच्छा उसकी ही इच्छा बनती जाती है। राज्य-संस्था निरन्तर सर्वसम्मति-

निर्धारण द्वारा सञ्चालित हो रही है, और उसके क़ानून उसके सदस्यो के लिए इसलिए पालनीय होते है कि वे सदस्य ही स्वय क़ानून के तत्वो का निर्माण कर रहे हैं।

मेरे विचारानुसार, इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता कि जो व्याख्याये क़ानून के पालनीय होने के दावे को, इस दृष्टि से कि वह स्वीकृति से बना है, उचित ठहराती है वे अन्य समस्त प्रतिद्वन्द्वी व्याख्याओ की अपेक्षा बहुत सबल हैं। उनके कथनानुसार, व्यक्ति क़ानून को स्वीकार कर लेने से अपनी बाध्यता को स्वय उत्पन्न करता है और इस प्रकार यह स्पष्टतः युक्तियुक्त है कि वह अपने को इस प्रकार बाध्य समझे। परन्तु इन व्याख्याओ में जो गम्भीर त्रुटियाँ हैं, उनकी ओर से हमें ऑख नहीं बन्द करना चाहिए। इस व्याख्या मे जिस प्रारम्भिक सामाजिक ठहराव का ज़िक्र है उसका कोई प्रमाण हमारे पास नहीं है, राज्य-संस्था बनाई नहीं गई है, किन्तु विकसित हुई है। और, उसके कार्य केवल स्वीकृति की भित्ति पर ही सञ्चालित नहीं किये जा सकते थे। न केवल किसी विशेष अवसर पर भिन्नमतावलम्बी अल्पपक्ष को बलपूर्वक झुकाना ही पडता है, वल्कि जब हम एक बार छोटे नगर-राज्य से आगे बढ जाते हैं तब राज्य का आकार बड़ा होने के कारण, किसी-न-किसी रूप में, प्रतिनिधिसत्तात्मक सरकार ही एक ऐसा स्वरूप रह जाता है जिसके द्वारा राज्य-संस्था की इच्छाशक्ति व्यक्त हो सकती है। यहाँ यह ठहराव के सिद्धान्त के प्रतिपादक लोग कहते हैं कि स्वीकृति मौन होती है। परन्तु चूँकि स्वीकृति मे मन

के इच्छापूर्वक कार्य करने का भाव रहता है, इसलिए इसमे कुछ अधिक निश्चित बात का होना आवश्यक है। और उस क़ानून के विषय मे हम क्या कहेगे जिस पर मनुष्य उसके बनते समय स्वीकृति दे देता है और बाद मे उसके कार्यपरिणाम का अनुभव करके अपनी स्वीकृति वापिस ले लेता है ? क्या वह क़ानून उसके लिए फिर भी प्रामाणिक है ? क्या स्वीकृति वापिस ले लेने की शक्ति शासन-सञ्चालन के कार्य को असम्भव न बना देगा ? नि'सन्देह विधि-निदेशो का वही समूह अच्छा होता है जिसमे कम-से-कम बलप्रयोग करना पड़े, फिर भी किसी ऐसे आधुनिक समाज की कल्पना करना असम्भव है जिसका उद्देश्य, कम-से-कम उसके कुछ नागरिको पर ही, बल का प्रयोग किये विना सिद्ध हो सके।

४

हम अपने मुख्य प्रश्न को दूसरी तरह रखते है। जैसा कि मैंने बताया है, राज्य-संस्था मानवीय आचरण-व्यवहार को नियन्त्रित करने की एक विधि है। वह ऐसी क़ानूनी व्यवस्था है जिसके आदर्श-नियम मनुष्यो को एक विशेप प्रकार से ही व्यवहार करने के लिए बाधित करते है, और अन्य प्रकार से व्यवहार नहीं करने देते। उसका कार्य मूलतः विधि-निदेशात्मक कार्य है, जिससे बचने का हक़ क़ानूनन उसके किसी भी नागरिक को नहीं है। उसे यह शक्ति क्यों उपलब्ध है ? इसके लिए इसकी कर्तृत्व-सम्बन्धी व्याख्या के अतिरिक्त अन्य कारण मिलना कठिन है। राज्य-संस्था की शक्ति जो-कुछ करना चाहती है उसके अनुरूप ही उस (शक्ति)

का औचित्य हो सकता है। उसके क़ानून का औचित्य, जिन माँगों को वह पूर्ण करना चाहता है, उनकी दृष्टि से ही ठहराया जा सकता है। राज्य-संस्था व्यक्तिगत और सामूहिक, प्रतियोगी और सहयोगी, अनेक प्रकार के बहुसंख्यक स्वार्थों पर अधिष्ठातृत्व करती है। उसका मनुष्यों की ओर से निष्ठा प्राप्त करने का अधिकार स्पष्टतः सामाजिक माँग को अधिक-से-अधिक पूर्ण कर सकने की उसकी शक्ति पर निर्भर रहता है। उसे स्वार्थों में समतोलता इस प्रकार प्राप्त करनी चाहिए कि जो पर्याप्त (संतोष-प्रदान-रूपी) परिणाम उत्पन्न हो वह किसी भी दूसरे कार्यक्रम के परिणाम से अधिक हो। समतोलता किस प्रकार प्राप्त की जाय इसके लिए हम कोई स्थायी सिद्धान्त नहीं बता सकते, केवल इस कारण कि भिन्न-भिन्न युगों में बातों का मूल्य भी भिन्न-भिन्न होता है, और यदि वास्तविक मूल्य का कोई निरपेक्ष सूत्र बनाया जायगा, तो वह बनते ही निकम्मा हो जायगा। हम इतना ही कह सकते हैं कि यदि क़ानूनी विधि-निर्देशों के कार्यान्वित होने से हम कम-से-कम बलिदान करके अधिक-से-अधिक मानवीय आवश्यकता को पूर्ण कर सकें तो वे लागू किये जा सकते हैं। अत: जिन संस्थाओं द्वारा राज्य-संस्था कार्य करती है उनका निर्माण हमें इस प्रकार करना होगा कि जिससे वह इस उद्देश्य को सर्वोत्तम प्रकार से पूर्ण कर सके।

: २ :

बृहत् समाज में राज्य-संस्था का स्थान

१

मैने बताया है कि राज्य-संस्था की शक्ति उसी मात्रा मे औचित्य रखती है जिस मात्रा मे वह कम-से-कम बलिदान करके मानवीय आवश्यकताओं को अधिक-से-अधिक पूर्ण कर सके। इस कर्तव्य को वह जितनी खूबी के साथ सम्पन्न करती है उसे, शुद्ध क़ानूनी से अतिरिक्त, निष्ठा प्राप्त करने का हक़ भी उतना ही होता है।

इसके तात्पर्य को ठीक-ठीक समझने के लिए हमे बृहत् समाज मे राज्य-संस्था के स्थान को समझ लेना चाहिए। जैसा मैंने कहा है वह मानवीय व्यवहारो को नियन्त्रित करने की विधि है, स्पष्टत नियन्त्रण-नियमो का औचित्य राज्य-सस्था के व्यक्तिगत सदस्यो के जीवनो मे होनेवाले उनके परिणामो से सिद्ध होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छाओ के पूर्ण करने का निरन्तर प्रयत्न करते हुए सुख प्राप्त करना चाहता है। उसके लिए राज्य-संस्था ही ऐसी सर्वोपरि संस्था है जिसके बनाए हुए नियमो के अन्दर रहकर ही

वह अपनी इच्छा-पूर्ति के लिए कार्य कर सकता है। सम्भव है उसके कुछ विधि-निदेशों को वह पसन्द करे और कुछ को वह बिलकुल नापसन्द करे। दूसरे शब्दों मे कह सकते है कि राज्य-संस्था कुछ ऐसे कार्य कर सकती है जिनको उसके प्रति नहीं करना चाहिए और कुछ ऐसे कार्य करना भूल सकती है जिनको उसके प्रति करना चाहिए। वह राज्य-संस्था की इच्छा को तत्वत॰ इस प्रकार संस्कृत करना चाहता है कि जहाँतक हो सके वह अपने निज के अनुभव की शिक्षा के अनुरूप होजाय।

क्योंकि व्यक्ति केवल राज्य-संस्था का सदस्य ही नही है। जिस समाज का वह एक अङ्ग है, उसमे असंख्य स्वार्थ-घटक हैं जिनसे उसका सम्बन्ध हो सकता है। वह धर्मसंस्था (चर्च) का सदस्य, तीव्र व्यवसाय-संघवादी (ट्रेड-यूनियनिस्ट), फ्री-मेसन लॉज का उत्साही सभासद, अनिवार्य शीतला-टीका लगवाने के आन्दोलन का जबरदस्त समर्थक हो सकता है; वह शान्तिवादी हो सकता है जिसको सैनिक नौकरी के विरुद्ध धार्मिक आपत्ति रखना ही जीवन का मुख्य सिद्धान्त है। कहने का तात्पर्य यह है कि वह साथ-साथ ऐसे सङ्घों से सम्बन्ध रखता है जो अपने पृथक्-पृथक् स्वार्थों की उन्नति करना चाहते हैं। वे सङ्घ अधिकतर राज्य-सस्था द्वारा निर्धारित नियमो की सीमाओ के अन्दर ही रहते हुए अपना कार्य करते हैं। राज्य-संस्था की इच्छा उस सीमा को निश्चित करती है जिनके अन्दर उन सङ्घों की इच्छाओं को कार्य करना चाहिए। क़ानन की दृष्टि में, उनकी इच्छायें उनके सदस्यों

पर केवल उसी हद तक बाध्य होती है, जहाँतक वे राज्य-संस्था के निश्चित किये हुए क़ानूनी विधि-निदेशों के अनुकूल हों।

परन्तु, चूँकि, व्यक्ति केवल राज्य-संस्था का सदस्य ही नहीं है, इसलिए, वह केवल इसी कारण कि राज्य-संस्था क़ानूनन समाज का सर्वोपरि सङ्गठन है, उसकी आज्ञापालन करने के लिए अपने को बाध्य नहीं समझता। उसका, निज का अनुभव भी महत्व रखता है। वह राज्य-संस्था के कार्यों का परीक्षण करता है। उसके अन्दर एथेनेशियस की वृत्ति भी है जो उसे राज्य-संस्था के कार्यों से अलग भी करती है और जोडती भी है। यदि उसकी धर्मसंस्था का संघर्ष राज्य-संस्था से होता है, तो वह निर्भय करता है, और वही निर्भय कर सकता है, कि उसकी निष्ठा दोनों में से किसकी ओर जानी चाहिए। यदि राज्य-संस्था उसके व्यवसाय-सङ्घ का दमन करने का निश्चय करती है तो उस दमन को स्वीकार किया जाय या नहीं इस बात के निर्णय करने में वह सहायता देता है। तात्पर्य यह है कि राज्य-संस्था सदा अपने कार्य सापेक्षता के वातावरण में करती है। उसमें सफलतापूर्वक बलप्रयोग करने के लिए सफलतापूर्वक समझाने की योग्यता भी होनी चाहिए। उसे व्यक्ति को यह अनुभव करवाना चाहिए कि उसकी भलाई उन क़ानूनी विधि-निदेशों के साथ संलग्न है जिनको वह स्थापित करने का प्रयत्न कर रही है। वह उसकी निष्ठा को, राज्य-संस्था होने की हैसियत से नहीं, बल्कि राज्य-संस्था की हैसियत से जो कुछ करना चाहती है, उससे प्राप्त करती है।

हम इस बात का अनुभव, कि राज्य-सस्था का निष्ठा-प्राप्ति का अधिकार कुछ शर्तों पर निर्भर है, साधारणत कदाचित इसलिए नही करते कि सामान्यत व्यक्ति आज्ञापालन करने मे तर्क-वितर्क नही करता। राज्य-संस्था की शक्ति महान् है। जब उसका आघात उसके अस्तित्व के मूल पर ही पहुँच जाता है तभी वह उसकी सत्ता पर प्रहार करने की आवश्यकता का अनुभव करता है। परन्तु कोई भी व्यक्ति जो राष्ट्रीय आन्दोलनो के सामान्य इतिहास पर, या क्रान्तिकारी नेताओ और उनके सञ्चालित दलो के जीवनो पर, या १६१४ से पहले के इङ्गलैण्ड के स्त्री-मताधिकार सम्बन्धी हलचल के समान आन्दोलनो पर विचार करेगा उसे ज्ञात हो जायगा कि जब राज्य-संस्था की प्रवृत्तियाँ व्यक्ति की न्याय्यता की भावना पर प्रबल आघात पहुँचाती हैं तभी, अन्तिम सारासार-निर्णय करके, वह और उसके ही समान मत रखनेवाले उसके साथी उसके कार्यों से मतभेद प्रकट करने को तैयार होते हैं।

और, हम उनके मतभेद को तबतक निन्दित नही ठहरा सकते जबतक हम यह सिद्धान्त स्वीकार न करले कि व्यवस्था ही संसार मे सबसे कल्याणकारी बात है। निश्चय ही, इस बात को कोई नही मानेगा। व्यवस्था अपने अभीष्ट प्रयोजन के कारण अच्छी है, स्वत ही अच्छी नहीं है। जहाँ राज्य-संस्था के कार्यों से नागरिको पर निरन्तर अत्याचार होरहा हो, वहाँ व्यवस्था क़ायम रखना, जिन बातो से जीवन जीवन-योग्य है, उनकी ही हत्या करना होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि हम राज्य-संस्था को अपनी निष्ठा सदा

इस शर्त पर देते है कि उसके उद्देश्य, हमारे अपने सामने स्थापित किये हुए उद्देश्यो को पूर्ण करते हो। उसका सर्वोपरित्व इस शर्त पर आश्रित है कि हम उसके शक्ति-प्रयोग को स्वीकार करे। उसे अपने कार्यों द्वारा हमारे अन्दर यह भावना उत्पन्न करनी चाहिए कि उसका कल्याण होने मे हमारा कल्याण भी समाविष्ट है। हमे यह अनुभव होना चाहिए कि उसके निश्चित किये हुए नियम उसके अन्य सदस्यो के लिए जितने सुखसाधक हो सकते हैं उससे कम हमारे लिए नही हैं। परन्तु जब वह इस प्रकार कार्य करने लगती है कि उसके कार्य हमारे गहरे अनुभवो के विरुद्ध पड़ते हैं, तो हमारे लिए उसका विरोध करना, यदि हम विरोध को परिणाम-कारी बना सके, आवश्यक होजाता है।

यही बात दूसरी तरह कही जा सकती है। राज्य-संस्था अपने नियमो की रक्षा इसलिए नही करती कि वे नियम है, बल्कि इस-लिए कि उनसे व्यक्तिगत जीवनो पर कुछ विशेष परिणाम होता है। उसका प्रत्येक सदस्य सुखी होना चाहता है। इसलिए उस सदस्य को ऐसी अवस्थाओ की आवश्यकता होती है जिनके बिना सुख अप्राप्य हैं, और वह राज्य-संस्था विषयक अपना विचार अपने लिए उन अवस्थाओ को प्राप्त करा सकने की उसकी योग्यता के अनुसार बनाता है। परन्तु स्पष्ट है कि राज्य-संस्था प्रत्येक व्यक्ति के सुख प्राप्त होने का अभिवचन नही दे सकती, केवल इसी कारण कि कुछ अवस्थाये जिनपर सुख निर्भर है उसकी शक्ति के बाहर हैं। सम्भव है कि कोई व्यक्ति यह अनुभव करे कि किसी अमुक

स्त्री का प्रेम सम्पादित किये विना उसका जीवन जीवन-योग्य नहीं है, परन्तु कोई नही कहेगा कि उसे राज्य-संस्था द्वारा उस स्त्री के प्रेम-सम्पादन का विश्वास दिलाए जाने का अधिकार है। हम इतना ही कह सकते हैं कि सुख-प्राप्ति के लिए कम-से-कम कुछ ऐसी सामान्य बातो की जरूरत है जिनका सब नागरिको से समान सम्बन्ध है और जिन पर सन्तोष-जनक सामाजिक जीवन अवलम्बित है। राज्य-संस्था को, कम-से-कम ये बाते तो अपने सदस्यो को प्राप्त करानी ही चाहिएँ, यदि वह उनसे अपने नियमो का निरन्तर पालन कराने की आशा रखना चाहती है।

संक्षेप मे, राज्य-संस्था के बनाये हुए नियमो से मालूम होता है कि उसके प्रति कुछ माँगे भी होनी चाहिएँ। क्योकि, वह राज्य-संस्था क्या कर सकती है, यह बात स्पष्टत उसके उद्देश्य से मर्यादित है, और इस उद्देश्य में राज्य-संस्था के समक्ष नागरिक के अधिकार भी समाविष्ट हैं, ताकि उद्देश्य सुरक्षित रह सके। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अधिकारों के सिद्धान्त से हमारा क्या तात्पर्य है, यह एक ऐसी शर्त है जिसके बिना, ऐतिहासिक अनुभव की दृष्टि से, व्यक्ति को विश्वास नहीं हो सकता कि वह सुख प्राप्त कर सकेगा। अर्थात्, हम यह तो नहीं कह सकते कि व्यक्ति के अधिकार नित्य हैं, स्पष्टतः वे समय और प्रदेश के अनुसार सापेक्ष हैं। परन्तु इस सापेक्षता के रहते हुए भी व्यक्ति को राज्य-संस्था से उसकी आज्ञाओं के पालन के लिए शर्त-स्वरूप उन अधिकारो की स्वीकृति पाने का अधिकार है।

इसका अभिप्राय समझने के लिए सबसे अच्छा तरीक़ा सम्भवतः यही है कि हम अपने जैसे समाज में एक सामान्य नागरिक की स्थिति की कल्पना करें। वह शारीरिक सुरक्षिता के बिना सुख की आशा नहीं कर सकता, समाज की साधारण और प्रतीक्षित अवस्था ही ऐसी होनी चाहिए जिसमें उसे विश्वास रहे कि वह शारीरिक आक्रमण से सुरक्षित रहेगा। उसके पास जीविका के साधन होने चाहिएं, इसका अभिप्राय यह है कि या तो उसका काम पाने का अधिकार अथवा, उसके तथा उसके अभाव में, योग्य भरण-पोषण पाने का अधिकार स्वीकृत किया जावे। परन्तु मोटे तौर पर यह कहने से कि काम पाने का हक़ है सभ्य जीवन की आवश्यकताये पूर्ण नहीं हो सकती। इसलिए इसका अर्थ यह होगा कि उसका अधिकार है कि उसे उचित वेतन पर और इतने निश्चित श्रम-घण्टो का काम मिले जिससे वह अपनी आजीविका प्राप्त करने के अतिरिक्त भी समाज में अपना महत्व प्राप्त कर सके। मेरा कहना है कि उचित वेतन मिले, इससे तात्पर्य है कि इतना पुरस्कार मिलना चाहिए कि जिससे सामान्य शारीरिक आवश्यकतायें पूर्ण हो सके, और मनुष्य की अन्य आध्यात्मिक मांगो की पूर्ति मे भी रुकावट न पड़े। मेरा कहना कि श्रम-घण्टो की उचित मर्यादा निश्चित होने का अधिकार भी होना चाहिए, क्योंकि हमारी जैसी सभ्यता के अन्दर जिसमे यान्त्रिक औद्योगिक कलाओ की प्रधानता है, अधिकांश नागरिक अपने व्यक्तित्व की पूर्णता श्रम के समय मे नही बल्कि विश्राम के समय में ही प्राप्त

कर सकते हैं। जो राज्य-संस्था कारखानेदारों को लोगों से उस प्रकार का अविश्रान्त श्रम लेने देगी, जिस प्रकार की 'औद्योगिक क्रान्ति' के प्रारम्भिक दिनो मे प्रायः लिया जाता था, वह उनके सुखप्राप्ति की सम्भावना को नष्ट ही कर देगी। इसलिए विश्राम-प्राप्ति के अधिकार के सम्बन्ध मे क़ानूनी विधि-निदेश बनाने पर प्रत्येक सुव्यवस्थित राज्य-संस्था को जोर देना चाहिए।

परन्तु यदि राज्य-संस्था मे प्रत्येक व्यक्ति का सुख अवश्य विचारणीय हो तो उसे इससे भी कुछ अधिक की आवश्यकता है। उसे दूसरे मनुष्यो से अपने सम्बन्ध का ज्ञान होना चाहिए और उसे स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वह इस सम्बन्ध के अपने अनुभव के परिणाम को व्यक्त कर सके। इस उद्देश्य-पूर्ति के लिए ज्ञान की आवश्यकता है, और इसलिए शिक्षा-प्राप्ति का अधिकार भी नागरिकता के लिए मूलभूत है। कारण कि, सामान्यतः, शिक्षा के बिना मनुष्य महान जगत मे, जिसे वह समझने मे असमर्थ होता है, हक्का-बक्का रह जाता है, वह अपने को अधिक-से-अधिक उपयोगी नहीं बना सकता, वह अनुभव के परिणाम की ठीक-ठीक छान-बीन नहीं कर सकता। आधुनिक सभ्यता की जटिलताओं के बीच अशिक्षित मनुष्य अन्धे के समान है, जो कारण और कार्य का सम्बन्ध नहीं समझ सकता। जो राज्य-संस्था अपने नागरिकों के लिए शिक्षा देने से इनकार करती है वह उनको उनके व्यक्तित्व की पूर्णता के साधनो से वञ्चित रखती है।

परन्तु अकेली शिक्षा ही पर्याप्त नहीं है। सम्भव है, वह नागरिक को ज्ञान प्रदान करे परन्तु फिर भी उसे अपने ज्ञान का उपयोग करने के अवकाश से वञ्चित रक्खे। और चूँकि उपयोग करने का अधिकार न देने का सामान्यतः अर्थ है लाभ उठाने का अधिकार न देना, इसलिए इस विषय में भी नागरिक के हित का संरक्षण करना आवश्यक है। इसके लिए चार अधिकार आवश्यक है। उसे स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वह अपने मन के भाव को व्यक्त कर सके, उसे किसी उद्देश्य या उद्देश्यों की उन्नति के लिए अपने समान बुद्धि रखनेवाले अन्य नागरिकों के साथ, जो उस उद्देश्य या उद्देश्यों से सहमत हो, सम्मिलित होने का अधिकार होना चाहिए। उसे उन लोगों के चुनने में सहायता देने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए जो उस पर शासन करेंगे, और इस बात की स्वतन्त्रता भी होना चाहिए कि, यदि वह दूसरों को राज़ी कर सके कि वे उसे चुने, तो राज्य-संस्था के शासन-कार्य में स्वयं भी भाग ले सके।

इसका परिणाम दूसरे शब्दों में यह होगा कि कोई भी राज्य-संस्था अपने उद्देश्य को जिसके लिए उसका अस्तित्व है, तबतक पूर्ण नहीं कर सकती जबतक वह सार्वजनिक मताधिकार पर स्थित प्रजातन्त्र न हो, उसमें भाषण और सम्मेलन की स्वतन्त्रता न हो, और यह बात स्वीकार न की जाय कि जाति, मत, जन्म और सम्पत्ति नागरिक अधिकारों के प्रयोग में बाधक न होंगे। हमें यह बात केवल इसलिए माननी पड़ती है कि इतिहास का

अनुभव है कि मनुष्यो के किसी समुदाय का शक्ति से वञ्चित रहने का परिणाम यह होता है कि कभी-न-कभी वे शक्ति के लाभो से भी वञ्चित होजाते हैं। जो सरकार अपनी सत्ता की वल वृद्धि के लिए जिन लोगो का आश्रय लेती है, वह सदा उनकी मांगो के अनुरूप ही राज्य-सस्था की इच्छा को कार्य-परिणत करती है। इसलिए उस आश्रय-क्षेत्र को समस्त नागरिक-समूह के साथ मिला देने से ही इसकी सम्भावना अधिक-से-अधिक बढ़ सकती है कि सम्पूर्ण आवश्यकताओ का ख़याल रक्खा जायगा। हमे इससे इनकार करने की आवश्यकता नही है कि प्रजातान्त्रिक पद्धति मे कुछ स्वाभाविक कठिनाइयॉ है, परन्तु राजनीति का कोई भी तत्व-ज्ञान, जबतक यह स्वीकार न करे कि सब नागरिक अपनी इच्छाओ की पूर्ति पाने के लिए समान-रूप से अधिकारी है तब तक व्यक्ति की मांगो को पूर्ण करने का गम्भीर दावा नही कर सकता। और नागरिक की इच्छाये निरन्तर जोर के साथ राज्य-सस्था की इच्छा-शक्ति पर प्रभाव डाल सकें, इसके लिए एकमात्र तरीक़ा यही है कि राज्य-सस्था की सरकार शासन-विधान के द्वारा उनका निश्चित-रूप से ध्यान रखने के लिए वाधित की जाय।

भाषण और सम्मेलन की स्वतन्त्रता के विषय मे भी दो शब्द कहना आवश्यक है। राज्य मे इससे अधिक आवश्यक बात दूसरी नहीं है कि मनुष्यों को उसकी समस्याओं पर अपने मन की वात स्वच्छन्दतापूर्वक प्रकट करने और जिन उद्देश्यो पर वे सहमत हैं उनकी पूर्ति के लिए सम्मिलित होकर स्वच्छन्दतापूर्वक कार्य करने

की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। यदि ये बाते दण्डनीय कर दी जायँगी तो हमे निश्चय है कि अनुभव के परिणामो से मनुष्यो को वञ्चित रक्खा जायगा। राज्य-संस्था अरुचिकर सम्मति का दमन करेगी, और वह जिन उद्देश्यो को पसन्द नही करती उनकी पूर्ति चाहने-वाले स्वेच्छा-निर्मित सङ्घो का सङ्गठन होना रोक देगी। चूँकि अनुभव भिन्न-भिन्न हुआ करता है इसलिए उसके परिणामो के अनुसार कार्य करने का अधिकार व्यक्तित्व-पूर्णता के लिए मूलभूत है। नि'सन्देह, इस बात मे बडी सचाई है कि राज्य-संस्था की अवस्था की परीक्षा इस कसौटी के अतिरिक्त और किसी प्रकार नहीं हो सकती कि वह अपने क़ानूनी विधि-निदेशो से भिन्न या विरुद्ध विचारो को सहन करती है या नहीं। दमन का प्रत्येक प्रयत्न, वास्तव मे, इच्छा की पूर्ति रोकने का प्रयत्न है जो कभी महत्व प्राप्त कर सकता है। दमन के प्रयत्न से राज्य-संस्था का रुख़ समाज के केवल एक भाग के लाभ की ओर झुक जाता है।

तथापि हम नही कह सकते कि इन स्वतन्त्रताओ के उपभोग का अधिकार अपरिमित है। चूँकि राज्य-सस्था का कर्तव्य व्यवस्था को क़ायम रखना है इसलिए उसको चिन्ता रखनी चाहिए कि शान्ति स्थापित रहे। इसलिए उसे यह कहने का अधिकार है कि कोई भी उद्गार जो तात्कालिक अव्यवस्था को प्रत्यक्षत प्रोत्साहित करेगा दण्डनीय होगा; और, यह कहने का भी अधिकार होगा कि जो संस्था ऐसा कोई कार्य करेगी जिससे व्यवस्था की रक्षा कठिन हो जायगी तो वह भी दण्डनीय होगी। उदाहरणत, इस बात को

लेकर वह किसी पुस्तक या पुस्तिका का दमन कभी नहीं कर सकती, परन्तु मान लीजिए कि ट्रेफलगार चौक मे कोई वक्ता उत्तेजित भीड़ को डाउनिंग स्ट्रीट पर धावा करने के लिए कहता है, तो वह उसको दण्डनीय कर सकती है। वह टॉल्स्टॉय मत के अराजकवादियो की समिति को नहीं दबा सकती, क्योकि स्व-परिभाषा से ही उनके सिद्धान्त बलप्रयोग के विरुद्ध हैं; परन्तु 'अल्स्टर स्वयंसेविकाओ' की भाँति यदि कोई समिति राज्य-संस्था के क़ानूनी विधि-निदेशो का बलपूर्वक विरोध करने के लिए ही जान-बूझकर संगठित होगी, तो उसे दबाने का उसको अधिकार होगा। सामाजिक शान्ति के खतरे मे पड़ने की सम्भावना से स्वतन्त्रता की सीमा सदा मर्यादित रहती है। जहाँ ऐसी आवश्यकता नहीं है वहाँ राज्य-संस्था का हस्तक्षेप करना अधिकार-वञ्चन मात्र है।

हम उन अधिकारो की उपेक्षा भी नहीं कर सकते जो व्यक्तित्व के हितो की रक्षा के लिए हैं। मनुष्य जिस धार्मिक मत को मानना चाहे उसे मानने का उसको अधिकार है, और जबतक उस मत-सम्बन्धी आचरण से सार्वजनिक शान्तिभंग होने की आशङ्का नहीं होती, तबतक राज्य-संस्था को उसमें हस्तक्षेप करने का भी अधिकार नहीं है। उसे न्याय-विचार सम्बन्धी पूर्ण संरक्षण पाने का भी अधिकार है। दोहरे खतरे की-सी बातें अर्थात व्यक्ति को दण्ड देने के लिए किसी कृत्य के होजाने के बाद उसको अपराध की परिभाषा में लेना, विधिवत वारण्ट के बिना उसके मकान की

तलाशी होना, न्यायालय-सम्बन्धी व्यय की ऊंची दरो का रक्खा जाना जिससे निर्धनो के लिए न्यायालय पहुँचना ही असम्भव हो जाय, ये सब ऐसे कार्यों के उदाहरण हैं जो व्यक्ति को अपने अधिकार-पूर्ति से वंचित करते है। इसके अतिरिक्त व्यक्तित्व के हितार्थ भी भाषण-स्वातन्त्र्य पर एक निश्चित मर्यादा लगाना आवश्यक हो जाता है। अपने पड़ोसी के विषय मे लांछनात्मक बातें कहने का अधिकार मुझे तबतक नहीं होना चाहिए, जबतक कि मैं यह सिद्ध न कर सकूँ कि (१) लगाया हुआ लांछन सत्य है, और (२) सार्वजनिक हित के लिए उसका प्रकाशन होना आवश्यक है, अन्यथा मै दण्ड पाने का अधिकारी होऊँगा।

२

ऐसे अधिकारो का राज्य-संस्था में होना आवश्यक है, जिससे नागरिक को उपयुक्त व्यवहार पाने का विश्वास हो सके। इनके बिना वह स्वतन्त्र न होगा; तात्पर्य यह है कि इन अधिकारो के बिना उसे अनुभव होगा कि उसके व्यक्तित्व के व्यक्तीकरण पर लगाई हुई मर्यादायें उसकी पूर्णता-प्राप्ति की सम्भावना मे भयङ्कर-रूप से बाधा पहुँचाती हैं। और, ये अधिकार जबतक सामान्य नहीं होते तबतक उसे आशा नहीं हो सकती कि उसे दूसरे मनुष्यो के समान समझा जाने का अभिवचन मिलेगा।

किसी भी समाज में, जहाँ इस प्रकार के अधिकारो का उपभोग करनेवाले मनुष्य संख्या में परिमित होते है, फिर चाहे संख्या किसी भी सिद्धान्त के अनुसार परिमित हो, वहाँ परिणाम यह पाया

जाता है कि राज्य के कार्यों का लाभ विशेषाधिकार-धारियो के लिए ही सीमित रहता है।

अधिकारों की इस भावना का आधारभूत सिद्धान्त यह है कि किसी भी एक नागरिक को दूसरे नागरिक की अपेक्षा, केवल नागरिक होने की हैसियत से, अपनी माँगो की पूर्ति पाने का अधिक अधिकार नही है। जिन क़ानूनी विधि-निदेशों से नागरिको के किसी समुदाय को भेदभाव-पूर्वक विशेष लाभ पहुँचे, उनसे जब तक यह सिद्ध न किया जासके कि इस भेदभावपूर्ण लाभ-प्राप्ति और समस्त समाज के कल्याण-प्राप्ति के बीच प्रत्यक्ष कारण-कार्यात्मक सम्बन्ध है, तबतक उनसे राज्य-संस्था के प्रयोजन पर आघात पहुँचता है, और उसका उद्देश्य खण्डित होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि राज्य-संस्था माँगों की पूर्ति मे भेदभाव की रक्षा करती है तो उसे यह सिद्ध कर सकना चाहिए कि ये भेद-भाव सर्व-साधारण के हित के लिए वाञ्छनीय हैं।

जो कोई आधुनिक सामाजिक जीवन की अवस्थाओ का विश्लेषण करेगा वह इस बात से अवश्य प्रभावित होगा कि व्यक्ति-गत माँग की पूर्तियाँ असमान होती हैं। प्रयत्न और पुरस्कार के बीच बिलकुल अनुपात नहीं है। राज्य-संस्था जो सुरक्षितता अपने नागरिको को प्रदान करती है उसके समानीकरण करने का कोई प्रयत्न नहीं किया जाता। उसके क़ानूनी विधि-निदेशो के कार्य वर्तमान विशेषाधिकारों की वृद्धि की अपेक्षा रक्षा अधिक करते हैं। समाज के धनी और निर्धन, दो विभागों में विभक्त होजाने के

कारण राज्य-संस्था के क़ानूनी विधि-निदेशो से धनिको को ही लाभ पहुँचता है। और इसका तात्पर्य है कि जिस साम्पत्तिक प्रणाली के नीचे हम रहते हैं उसका परिणाम यह होता है कि मनुष्यों के जीवनो को सञ्चालित करनेवाले क़ानूनी विधि-निदेशो का अर्थ-निर्णय पक्षपात-पूर्ण होजाता है। इससे समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों की मॉग की शक्ति इतनी भिन्न-भिन्न होजाती है कि, डिज़्रेली के प्रसिद्ध शब्दो मे, वर्ग एक ही राष्ट्र की अपेक्षा दो भिन्न-भिन्न राष्ट्र के मालूम होने लगते हैं।

राजनैतिक तत्वज्ञान इस परिस्थिति से यही निष्कर्ष निकाल सकता है कि यदि नागरिको की स्थिति मे बड़े-बड़े वास्तविक भेद होगे तो राज्य-संस्था के उद्देश्य की रक्षा नही हो सकेगी। धनिको और निर्धनो मे विभक्त हुआ समाज वैसा ही है जैसे कोई कुटुम्ब अपने आपके विषय मे विभक्त हो। जिस प्रकार निर्धनता से नीचेपन का भाव उत्पन्न होता है वैसे ही सम्पत्ति से वृथाभिमान उत्पन्न होता है। धनिक वर्ग अनिवार्य-रूप से अपने अधिक-से-अधिक लाभो की रक्षा का प्रयत्न करता है; और निर्धन लोगो को बाधित होकर उन लाभो के परिणामो का उपभोग करने के एक-मात्र उपाय-स्वरूप उन पर आक्रमण करना पड़ता है। इसलिए यदि राज्य-संस्था अपना उद्देश्य पूर्ण करना चाहती है, तो उसे बाधित होकर अपने कार्यों को इस प्रकार संगठित करना पडता है कि जिससे इस वास्तविक विषमता के परिणामो को जान-बूझ-कर कम किया जा सके। कर-शक्ति के द्वारा उसे निर्धनो की माँगो

को पूर्ण करने के लिए धनिको से रुपया लेना पडता है। जो कोई यह देखेगा कि किस प्रकार पिछले पचास वर्षों मे उन्नीसवी शताब्दि का पुलिस-राज्य बीसवी शताब्दि का समाज-सेवा-राज्य बन गया है, उसे ज्ञात होगा कि विषमता अपने अस्तित्व को रिआयते देना स्वीकार करके ही क़ायम रख सकी है, जिसके लिए उसे व्यय भी देना पडता है। और ये रिआयते परिमाण मे बढ़ती ही जाती हैं। क्योकि गरीबो के लिए शिक्षा या स्वास्थ्य या मकानो के प्रत्येक सुधार से अधिक रिआयतो की माँग तेज होजाती है। वे अनुभव करते हैं कि जो सामाजिक प्रणाली जीवन के श्रम और पुरस्कार को उचित अनुपात से सम्बन्धित नहीं करती वह अनुपयुक्त है। संक्षेप में, समानता की आकांक्षा मानवीय स्वभाव का स्थायी रूप है। जबतक कोई राज्य-संस्था इस भावना को सन्तुष्ट करने योग्य व्यवस्था नहीं करती तबतक वह सुरक्षित नहीं रह सकती; वह अपने सदस्यो को यह बात समझाना स्थगित कर सकती है कि उसके क़ानूनी विधि-निदेश, बाह्यरूप मे ही नहीं बल्कि वास्तव में, न्याय की सामान्य प्राप्ति के लिए हैं, परन्तु इसको बिलकुल टाल नहीं सकती।//

यहाँ हम कुछ सिद्धान्त उपस्थित करते हैं जो पूर्व-विचारित अधिकारो के दृष्टिकोण से उत्पन्न होते हैं। कानूनी विधि-निदेशों का कोई समूह स्थिर नहीं रह सकता। प्रति दिन वह भिन्न-भिन्न और प्राय नवीन-नवीन परिस्थितियो पर प्रयुक्त किया जाता है। और तत्वज्ञान मे यह मानी हुई बात है कि जो लोग नियमो को कार्या-

न्वित करते है वही वास्तव मे उनके स्वामी होते हैं। क़ानूनी विधि-निदेशो का सदा अर्थ-निर्णय करना पडता है। स्वतन्त्रता-पूर्ण भाषण की सीमा-रेखा कहाँ खींचनी चाहिए, कोई संस्था समाज के शान्तिपूर्ण जीवन के लिए ठीक कब विघ्न-स्वरूप हो जाती है, कोई विशेष कानून वाञ्छनीय है या नहीं है, क्या, उदाहरणतः, मजदूर-सङ्घो के स्वरूप से यह निष्कर्ष निकल सकता है या नहीं कि पार्लमेण्ट मे उनको प्रतिनिधित्व मिले; क्या, जैसा कि संयुक्तराष्ट्र (अमेरिका) मे हुआ, श्रम के घण्टो के निश्चित कर देने से इक़रार की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का भङ्ग हो जाता है या नहीं, इन और ऐसे ही अनेक प्रश्नो पर निर्णय करने पडते हैं। प्रत्येक प्रश्न मे स्वार्थों के समानीकरण की बात समाविष्ट है; और इस बारे में स्पष्ट दृष्टि रखना सबसे पहले आवश्यक है कि यह समानीकरण कैसे प्राप्त किया जाता है।

जिस राज्य-संस्था मे वर्गों के बीच मे बडे-बड़े वास्तविक वैषम्य हैं वहाँ होता यह है कि राज्य-संस्था के उद्देश्य धनिको के हितो के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। धनिको की शक्ति अपनी इच्छाओ को राज्य-संस्था के कार्य कर्त्ताओ से सर्वप्रथम विचार-णीय बनवा लेती है। उनकी कल्याण-सम्बन्धी विचार-दृष्टि शासन-तन्त्र के मानसिक वातावरण मे अज्ञात रूप से व्याप्त होजाती है। वे राज्य-संस्था के तन्त्र पर प्रभाव डाल लेते हैं। न्याय से उनका तात्पर्य होता है उनकी मांगो की पूर्ति। इतिहास की शिक्षाओ से उनका अभिप्राय होता है उनके अनुभव का संग्रह। उदाहरणार्थ

जो कोई इङ्गलैण्ड के मजदूर-सङ्घ सम्बन्धी क़ानून का वहाँ के न्यायाधीश क्या अर्थ लगाया करते थे इसके इतिहास पर विचार करेगा, विशेषत प्रसिद्ध ऑस्बॉर्न मामले के फैसले के समान प्रकट किए हुए अर्थों पर विचार करेगा, वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे विना नही रह सकता कि मध्यम वर्ग के न्यायाधीशो का मस्तिष्क श्रमिक वर्ग की आवश्यकताओ मे प्रवेश ही नही कर सकता। जो कोई संयुक्त राष्ट्र (अमेरिका) के 'चौदहवे संशोधन' के इतिहास को देखेगा, वह यह कहे विना नही रह सकता कि न्यायालय व्यापारी लोगो के साम्यवादी क़ानूनो की वृद्धि के विरुद्ध संग्राम करने के लिए हथियार रहे हैं। हाल मे ही फिनलैण्ड मे जो मताधिकार की अवस्थायें वदली गई है उसका इतिहास इस बात का प्रमाण है कि वहाँ के कारखानेदारों को मजदूरी की दरे घटाने की सुविधा देने के लिए व्यवसाय-सङ्घ के सङ्गठन पर आघात किया गया है; इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए राज्य-संस्था के शासन-विधान की सारी व्यवस्था परिवर्तित की गई है। कम-से कम आधुनिक समय से तो, ऐसा वहुधा नहीं होता, कि प्रजातान्त्रिक मशीनरी को विकृत करने का इतना नग्न प्रयत्न इतने वल-पूर्वक किया जाय।

मेरे कहने का निष्कर्ष यह है कि जहाँ मांग को परिणामकारी वनाने की शक्ति राज्य-संस्था के सदस्यो मे वहुत भिन्न-भिन्न होती है, वहाँ राज्य-संस्था का उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सकता, और ऐसा वैषम्य आर्थिक व्यवस्था के कारण होता है। इस दृष्टि से राज्य-

संस्था क़ानूनी विधि-निदेशों के कार्यों के लिए, सिवाय क़ानूनी औचित्य के, अन्य औचित्य नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति-समूह को अधिकार है कि वह उनकी प्रामाणिकता के विषय में अपना मत बनावे, और अपने निर्णय के परिणामों के अनुसार कार्य करे।

इससे क़ानून की एक व्याख्या निकलती है, जो राजनैतिक तत्वज्ञान के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण है। यह प्रतीत होता है कि क़ानून समाज की उस इच्छाशक्ति की पूर्ति है जिसने अपने आपको परिणामकारी बनाने की विधि जान ली है। क़ानून को मान्यता पाने का अधिकार केवल इसीलिए नहीं है कि वह बलवान है। उसका मान्यता पाने का अधिकार उस परिणाम के कारण है जो वह व्यक्तिगत नागरिकों के जीवनों पर करती है। इस परिणाम की जाँच भी केवल नागरिक ही कर सकते हैं; और इसीलिए क़ानून की न्याय्यता उसके सम्बन्ध में उन लोगों के निर्णय पर निर्भर है। इसलिए अपने उद्देश्यों के स्वरूप के कारण, राज्यसंस्था को अपनी अन्तर्गत संस्थाओं का इस प्रकार संगठन करना पड़ता है, कि उसके क़ानूनी विधि-निदेशों पर उसके नागरिकों का निर्णय पूर्णतया प्रकट हो सके, और उसको समानतया महत्व दिया जा सके। क्योंकि, अन्यथा राज्य-संस्था के परिणाम उपयुक्त बलशाली रीति से मालूम नहीं हो सकते। उसकी पूर्ति बलशाली नागरिकों की आवश्यकताओं की पूर्ति तक ही सीमित रह जाती है; और चूँकि उनका अनुभव शेष समाज के स्वार्थों से भिन्न है, अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि वह पूर्ति उनके ही लाभ की ओर

प्रवृत्त होती है। ऐसी परिस्थिति मे, राज्य-संस्था को मान्यता पाने का जो हक़ मिल सकता है वह उसकी सत्ता के विरोध के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न होनेवाली गडबडी के आधार पर ही मिल सकेगा। हम यह मान सकते है कि यह हक़ जबरदस्त है। चूँकि सत्ता के विरोध का मूल्य बहुत अधिक होता है इसलिए वह सदा अन्तिम शस्त्र होना चाहिए। यहाँ जिस दृष्टिकोण का ग्रहण किया गया है उसके अनुसार यह मानना कि वह कभी काम मे नहीं आना चाहिए गलत होगा। क़ानून का विरोध करने का अधिकार समाज की एक ऐसी सञ्चित शक्ति है जिसके द्वारा जिन मनुष्यो की माँगो की पूर्ति नहीं की जाती, वे वैध रूप से राज्य-संस्था में शक्तियो के तारतम्य को वदलने की इच्छा कर सकते हैं।

इसलिए क़ानून माननीयता पाने का दावा करनेवाली एक ऐसी शक्ति है जिसकी प्रामाणिकता उसके परिणामो के अनुभव पर निर्भर है। क़ानून के दावे, और किसी व्यक्ति या व्यक्ति-सङ्घ के अनुभवो से निकले हुए किसी नियम के दावे के बीच, सिवाय इसके कि अपनी आज्ञाओं का पालन कराने के लिए राज्य-संस्था के पास वलप्रयोग है, अन्य कोई स्वाभाविक अन्तर नहीं है। राज्य-संस्था द्वारा वनाये हुए नियमो की प्रामाण्यता केवल वल के कारण है; और वल मे स्वत नैतिकता नहीं है। इसलिए जहाँ राज्य-संस्था किसी धर्म-संस्था के या किसी व्यवसाय-सङ्घ के या कम्यूनिस्ट दल जैसी किसी संस्था के सङ्घर्ष मे आती है, वहाँ राज्य-संस्था को केवल इसलिए कि वह राज्य-संस्था है निष्ठा प्राप्त करने का हक़

नहीं है। उसका हक़, उस संघर्ष से सम्बन्ध रखनेवाले मनुष्यों के तद्विषयक दृष्टिकोण पर निर्भर रहता है। उसको विजय पाने का अधिकार तभी है जब वह अपने नागरिकों को यह सिद्ध करदे कि उसके क़ानूनों के परिणाम-स्वरूप उनके जीवन अधिक तत्वपूर्ण होजायँगे। उसका सर्वोपरित्व अपने सदस्यों के जीवनों को उत्तम बनाने की शक्ति के कारण है।

३

इस व्याख्या पर भिन्न-भिन्न कारणों से भिन्न-भिन्न आपत्तियाँ की जाती हैं। कुछ लोग कहते है कि यह कोई ऐसी सुन्दर व्याख्या नहीं है जिससे पूर्ण सुसम्बद्ध सामाजिक संस्थाओं का नमूना उपस्थित होता हो। यह न केवल अराजकता के लिए ही गुंजाइश रखती है, प्रत्युत बताती है कि ऐसे भी अवसर हो सकते हैं जब अराजकता उचित हो सकती है। यद्यपि यह राज्य-संस्था को क़ानूनी व्यवस्था की हैसियत से सर्वोपरि बताती है, तथापि तत्काल ही उस सर्वोपरि सत्ता में से शुद्ध क़ानूनी से अतिरिक्त सब प्रकार के महत्व को छीन लेती है। इस व्याख्या के अनुसार राज्य-संस्था को समाज की अन्य सब संस्थाओं के साथ नागरिकों की निष्ठा प्राप्त करने के लिए प्रतियोगिता करनी चाहिए; और यह जहाँ उनके बीच संघर्ष हो वहाँ राज्य-संस्था को विजय का अभिवचन नहीं देती। यह राज्य-संस्था के क़ानून को न्याय से बिलकुल पृथक् बताती है; और यद्यपि राज्य-संस्था का तात्वज्ञानिक प्रयोजन बताती है, तथापि उस प्रयोजन को उसके कार्यों में स्वाभाविक-रूपेण अन्तर्निहित नहीं मानती।

मैं यह नही कहता कि क़ानून की उपर्युक्त व्याख्या पर यहाँ गिनाई हुई सब आपत्तियाँ उत्पन्न नहीं होतीं। परन्तु क्या उनमे से एक भी आपत्ति महत्वपूर्ण है ? कुछ भी हो, जीवन की समस्त अभिव्यक्तियाँ इतनी जटिल और भिन्न-भिन्न है कि वह एक सूत्र में बाँधी नही जा सकती। राज्य-संस्था मे अराजकता की कुछ-न-कुछ सम्भावना तो तबतक अवश्य रहेगी जबतक मनुष्य परस्पर-विरोधी इच्छाओ को पूर्ण करने के लिए भिन्न-भिन्न रीति से प्रयास करते रहेंगे; और यह कोई नहीं कह सकता कि राज्य-संस्था की आज्ञा पालन करने से इनकार करना सदा औचित्य-रहित है। यह सत्य है कि इस व्याख्या के अनुसार राज्य-संस्था का सर्वोपरि स्वरूप केवल नैयमिक उद्गमस्थान बताने के लिए है। इसको इसके अतिरिक्त और कुछ मानना निश्चय ही तबतक असम्भव है, जब तक यह न पाना जावे कि उसके सब कार्यों मे सदा बुद्धिमत्ता ही रहती है, जो अनुभव के प्रत्यक्ष विरुद्ध है। यह भी सत्य है कि इस विचार-सरणि के अनुसार राज्य-सस्था को नागरिको की निष्ठा प्राप्त करने के लिए समाज की अन्य सब संस्थाओ के साथ प्रतियोगिता करनी पड़ेगी। परन्तु, फिर भी, क्या यह बात वास्तव मे स्पष्ट नहीं है कि राज्य-संस्था इस प्रकार प्रतियोगिता करती है ? जो कोई, बिस्मार्क और रोमन कैथॉलिक मत के बीच, सिनफीन और ब्रिटिश सरकार के बीच, रिसार्जीमेण्टो के समय में ऑस्ट्रिया और उसके इटैलियन नागरिकों के बीच, अथवा अन्तिम उदाहरण-स्वरूप ज़ारशाही रूस और क्रान्तिकारी सस्थाओं के बीच, के जैसे संघर्षों

के इतिहास पर विचार करेगा, उसे सचमुच यह कहना कठिन होगा कि जबतक राज्य-संस्था के सदस्यों की माँग अपूर्ण रहती है तबतक वह अन्य शर्तों पर जीवित रही है या रह सकती है। और अमेरिका के मद्य-निषेध के अनुभव से यह बात बिलकुल स्पष्ट होजाती है कि जहाँ राज्य-संस्था के विधि-निदेशों का तत्व उन लोगों को न्यायोचित प्रतीत नहीं होता जिनपर वे लागू किये जाते है, वहाँ वह उनको उपयुक्त रीति से पालन करा सकने की आशा नहीं कर सकती।

कहा जाता है कि यह व्याख्या कानून को न्याय से पृथक् कर देती है। यह सचमुच एक को दूसरे से पृथक् करती है, परन्तु उसी प्रकार करती है जिस प्रकार हम जीवन-व्यवहार मे करते है। जब हम कहते है कि अमुक क़ानून अन्याय-पूर्ण है, तो हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि क़ानून और न्याय के बीच मे कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं है, इन दोनो के बीच की सन्धि-पूर्ति क़ानून के परिणाम द्वारा होती है वे जब इसे न्यायपूर्ण स्वीकार करते हैं, तब यह न्यायपूर्ण बनता है। सक्षेपत बनाया हुआ क़ानून स्वभावत न न्यायोचित होता न अन्यायोचित, उसका न्यायपूर्णता का गुण उसके प्राप्त करनेवालो द्वारा आरोपित किया जाता है। चूँकि क़ानून का प्रयोजन माँग को पूर्ण करना है, इसलिए वह अपने कर्तृत्व को पूर्ण करने की सफलता या असफलता के कारण ही अच्छा या बुरा बनेगा। और यह बात इसी प्रकार मालूम हो सकती है कि जो लोग इसके सम्पर्क मे आवे वे इसके कार्य के

परिणामो पर अपना मत प्रकट करे। उदाहरणत, यदि मताधिकार सम्बन्धी कानून मत-प्रदान के अधिकार को केवल पुरुपो के लिए ही सीमित रखता है और यदि स्त्रियाँ उसको अन्यायपूर्ण कहकर निन्दित ठहराती है, तो हम यह नही कह सकते कि कानन न्याय-पूर्ण है। यदि १६२७ के ब्रिटिश-व्यवस्था-संघ सम्बन्धी कानन को व्यवसाय-संघ-वादी लोग व्यापकरूप से वर्ग-विशेप का हितरक्षक वताकर निन्दित ठहराते हैं तो हम यह नहीं कह सकते कि यह न्यायपूर्ण है। यह दोनो विधान क़ानून है, क्योंकि यह उस सत्ता द्वारा प्रकाशित किये गये है जिसको इस विपय मे क़ानून वनाने का नियमानुसार अधिकार है, परन्तु दोनो तवतक न्यायोचित नहीं हो सकते जवतक कि जिन लोगो पर इनके परिणाम होवेंगे वे इन्हे स्वीकार न करे।

राज्य-सस्था का अस्तित्व जिस तात्वज्ञानिक प्रयोजन की पूर्ति के लिए है वह इस व्याख्या के अनुसार इसके कार्यों मे नही पाया जाता, इस आपत्ति से भी हमे प्रभावित होना आवश्यक नहीं है। यह भी प्रत्यक्ष वास्तविकता है। क्या आजकल की परिस्थिति मे प्रत्येक नागरिक का जीवन ऐसा है कि वह अपनी सारी निहित शक्तियो को पूर्ण विकसित कर सके? तात्पर्य यह है कि क्या राज्य-सस्था वास्तव मे उसको वह समस्त अधिकार दे देता है जिनके विना उसके व्यक्तित्व की पूर्णता का होना मैंने असम्भव वताया है। इसके अतिरिक्त कोई एसा मार्ग नहीं है जिससे हम ठीक तरह से राज्य-सस्था के स्वरूप का निर्णय कर सके। कोई भी व्यक्ति ईमा-

नदारी से नहीं कह सकता कि सन् १७८९ से पहले की फ्रांस की राज्य-संस्था या सन् १९१७ से पहले की रूस की राज्य-संस्था अपने सारे प्रजाजन के हितकारी कानूनी विधि-निदेश बनाती थी, और उसके प्रजाजन उनको हितकारी समझते थे। यदि इसका यह उत्तर दिया जाय कि राज्य-संस्था को इतना श्रेय तो देना ही चाहिए कि उसमे कल्याण भावनाये या यथाशक्ति प्रयत्न करने की इच्छा तो थी, तो निश्चय ही इसका प्रत्युत्तर यह होगा कि इस मामले पर केवल उसके कार्यों के परिणामों पर रहनेवाले लोग ही निर्णय दे सकते है। १७८९ मे फ्रान्सवासियो और १९१७ में रूसवासियो ने स्पष्टतया निर्णय किया था कि जिस पद्धति के नीचे हम रहते हैं वह हमारी माँगो को पूर्ण नहीं करती, जिनके पूर्ण होने का अधिकार हमारे मतानुसार हमको है। मैं नहीं समझता कि हम कैसे इस निर्णय के विरुद्ध जा सकते हैं।

४

निष्कर्ष यह है कि यदि किसी राज्य-संस्था के क़ानूनी विधि-निदेशो को न्यायोचित मानना हो तो उनको राज्य-संस्था जिस उद्देश्य को पूर्ण करना चाहती है उस दृष्टि से देखना चाहिए, दूसरे शब्दो मे कह सकते है कि वे हेतुहेतुमद्‌रूप मे लिखे हुए स्थायी निबन्ध हैं। और यदि हम राज्य-संस्था को इस दृष्टि से देखें तो निष्कर्ष यह निकलता है कि वह एक निक्षेप (ट्रस्ट) है, और उसकी सफलता (वचनपूर्ति) का निर्णय वे लोग करेंगे जिनको अधिकार है कि उसके कार्यों से लाभ पाने की आशा करे।

अब यदि सूक्ष्म विवेचन करके देखे तो कह सकते है कि सरकार कुछ ऐसे व्यक्तियो का समूह है जो राज्य-संस्था के नाम से आज्ञाये निकालते हैं। उनके हाथ मे शक्ति का रहना उनकी बुद्धिमत्तापूर्वक आज्ञाये निकालने की योग्यता पर निर्भर है। वे भिन्न-भिन्न अश मे गुरुता रखनेवाली असंख्य मांगो से घिरे रहते हैं, जो उनसे पूर्ति चाहती है। सरकार की हैसियत से उनके कार्यों की बुद्धिमत्ता माँगो की अधिक-से-अधिक पूर्ति करने की योग्यता पर निर्भर है। और मांगो की अधिक-से-अधिक पूर्ति करने के लिए, वे अपने प्रजाजन के मतो और इच्छाओ को जितनी अधिक पूर्णता से जानेगे उतनी ही अच्छी तरह वे अन्दाज़ लगा सकेगे कि उन्हे कौन-सी नीति ग्रहण करनी चाहिए। इसी कारण समाज में स्वतन्त्रता और समानता महत्वपूर्ण हैं। स्वतन्त्रता के कारण ही यह सम्भव है कि मांगें विधिवत उपस्थित की जा सके, और समानता के कारण ही हमे यह विश्वास हो सकता है कि उनपर उचित गौर किया जायगा।

स्वतन्त्रता और समानता दोनों तभी रहती हैं जब कि वे अधिकार, जिनका मैंने वर्णन किया है, राज्य मे सक्रिय रूप से प्रयोग मे आते हो। परन्तु चूँकि मनुष्य सामाजिक प्राणी है इसलिए यह भी सत्य है कि राजनैतिक रूप से वह परम्परा के हाथ की कठपुतली है। वह व्यक्ति की हैसियत से अपनी शक्ति को प्राय नहीं पहचानता, और यदि पहचानता हो तो भी व्यक्ति की हैसियत से अपनी आवश्यकताओ पर ध्यान आकर्षण करने योग्य

प्राय बिलकुल नही होता। आधुनिक राज्य आकार-विस्तार मे इतने बडे है कि व्यक्ति की आवाज तो उनमे अरण्यरोदन के समान होजाती है। व्यक्ति जब अपने समान विचार रखनेवाले अन्य व्यक्तियों के साथ अपने अधिकारो को मनवाने के लिए सङ्गठित होता है, तभी आशा हो सकती है कि उसकी माँग परिणामकारी होगी। इसीलिए सस्थाओ या संघो का बहुत बडा महत्व है। वे इस बात का ज्ञान कराते हैं कि जिस अनुभव पर कदाचित अन्यथा ध्यान न दिया जासके उसका कितना महत्व है। वे मनुष्यो के स्वयं किये हुए उन प्रयत्नो के फलस्वरूप हैं जिन्हे उन्होने दुनिया मे अपने लिए स्थान प्राप्त करने के लिए किया था। निःसन्देह सभी प्रकार के संघ राज्य-सस्था के प्रयोजन के लिए सङ्गत नही हैं, उदाहरणार्थ, क्रिकेट-सङ्घ प्राय. राजनैतिक सम्बन्ध नहीं रखता। परन्तु कई संस्थाओ की सफलता अपने प्रयत्नो के परिणाम को राज्य-संस्था के क़ानूनो के रूप मे परिवर्तित करने की अपनी शक्ति पर ही निर्भर है। कारखानेदारो का सघ, मजदूर-संघ और राष्ट्रीय अभिनय-शाला की उन्नति करनेवाली सस्था, ये सब अपनी इच्छाओ को राज्य संस्था की इच्छा मे समाविष्ट करवाना चाहती हैं। उनके अस्तित्व की सार्थकता राज्य-संस्था के क़ानूनी विधि-निदेशो के तत्व को बदलने का प्रयत्न करने के कारण ही है।

और, स्वेच्छानिर्मित सङ्घ आवश्यकताओ को पूर्ण करने की अपनी शक्ति द्वारा जीवित रहते हैं। राज्य-संस्था उन्हे जीवन-प्रदान नहीं करती; और वे १८२४ से पहले के ब्रिटिश मजदूर-सङ्घों की

भाँति बहुधा राज्य-संस्था की अप्रसन्नता के होते हुए भी जीवित रहते हैं। वे मनुष्यो की अनुभवजन्य आवश्यकताओ के स्वयमुद्भूत व्यक्तरूप हैं। चूँकि समाज की जीवन-प्रवृत्ति इतनी विस्तृत है कि उसपर केवल राज्य-संस्था द्वारा ही शासन होना चाहे अभीष्ट भी हो पर असम्भव है, इसलिए उसकी प्रगति का बहुत कुछ भाग इन सङ्घों पर ही निर्भर है। सचमुच यह कहा जा सकता है कि समाज मे सङ्घ-जीवन जितने विविधप्रकार का होगा, उसको मिलने-वाला संतोष भी उतना ही पूर्ण और उत्कृष्ट होगा। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि राज्य-संस्था सङ्घो के जीवनो मे जितना कम हस्तक्षेप करेगी, दोनो के लिए उतना ही अच्छा होगा। उसकी सर्वोपरि सत्ता उनके ऊपर यथाशक्य केवल नैयमिक (formal) और अप्रदर्शित रहनी चाहिए। उसे उनके अस्तित्व रखने के स्वाभाविक अधिकार को स्वीकार करना चाहिए, और उसे यह भी मानना चाहिए कि जीवन के कुछ ऐसे पहलू भी हैं, उदाहरणत. धार्मिक पहलू, जिनपर यदि वह अपनी प्रधानता का ज़ोर डालने का प्रयत्न करेगी तो उसका परिणाम सामाजिक अवनति होगा। क्योकि जहाँ मौलिक विश्वासों का सम्बन्ध है, वहाँ नागरिको के लिए अपनी विचार दृष्टि को व्यक्त करने के लिए स्वेच्छापूर्वक चुने हुए सङ्घ जितना आकर्षण रख सकते हैं उसके सामने राज्य-संस्था की आज्ञा सारहीन और निरर्थक प्रतीत होगी। इस सम्बन्ध मे, राज्य की सर्वोपरि सत्ता इतनी भावनायुक्त नहीं होती कि उसके प्रति परिणामकारी और सफल निष्ठा होसके।

इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि वास्तव में प्रत्येक समाज स्वरूपतः बहुघटनात्मक (मल्टीय) है। नैयमिक क़ानून की बात छोड़ दें तो राज्य-संस्था अन्य संस्थाओं के समान ही एक है, उनसे अधिक और उच्च नहीं है। उसके क़ानूनी विधि-निर्देशों को सफलता इसलिए मिलती है कि उनका अन्य संस्थाओं द्वारा अपने सदस्यों के लिए बनाये हुए विधि-निर्देशों के साथ सजीव (आनन्दप्रद) सम्बन्ध होता है। और राज्य-संस्था को वास्तव में अधिकांश-रूप से उन्हीं संस्थाओं में पाई जानेवाली उन माँगों को क़ानून का रूप देना चाहिए जिनसे समाज में सबसे अधिक सम्पूर्ण सन्तोष हो सके। और उसे, जिन मनुष्यों पर क़ानून के कार्यों का परिणाम होनेवाला है, उनसे विचार-विमर्श का पूर्ण प्रयत्न किये बिना कानून बनाने का प्रयास नहीं करना चाहिए। क्योंकि सफल क़ानून प्रायः सदा वही होता है जिसके साथ अधिक-से-अधिक अनुभव का संग्रह हो। उदाहरणतः प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि इङ्गलैण्ड की 'स्वास्थ्य-बीमा' जैसी योजना को सफलता तभी मिली है जब उसके बनने से पहले प्रत्येक बात पर डाक्टरों के संघों और प्रतिष्ठित संस्थाओं से विचार-विमर्श किया गया था। इस क़ानून ने अच्छा काम इस-लिए दिया है कि उसको लागू करते समय प्रत्येक पद पर जिन मनुष्यों को उसके विषय का अनुभव है या जिनका उसके कार्य के परिणाम से सम्बन्ध है उनको पूर्ण विश्वास दिलाने का हर तरह प्रयत्न किया गया है। जिन लोगों पर क़ानून का परिणाम

होता है उनके साथ होनेवाला विचार-विमर्श, चाहे मतैक्य पैदा करे, कम-से-कम उसके मन पर इतना प्रभाव तो उत्पन्न करता ही है कि निर्णयो के करने मे उनके ज्ञान का प्रयोग किया गया था। क़ानून वनानेवाली इच्छाशक्ति तो राज्य-संस्था की ही रही, परन्तु क़ानून वन जाने तक का क्रम ऐसा रहा जिससे नागरिको मे यह भावना उत्पन्न नहीं हुई कि राज्य-संस्था उनसे ऊंची या उनके विरुद्ध है। वे अपने अन्दर उत्पादक आनन्द की उस भावना को अनुभव करते हैं जो क़ानून-निर्माण-क्रम के सक्रिय और आवश्यक अङ्ग होने के फलस्वरूप पैदा होती है।

यह उदाहरण एक महत्वपूर्ण सत्य का दिग्दर्शन कराता है। चूंकि समाज आवश्यकरूप से वहुघटनात्मक है, इसलिए क़ानून का अद्वैतसत्तात्मक रूप जितना शुद्ध नैयमिक रहेगा समाज के लिए उतना ही अच्छा होगा। स्वार्थघटक, जिन्हें हम संस्थाये (या सघ) कहते हैं, शासनक्रम के साथ, जितना पूर्णता से सम्वन्धित रहेंगे, उतना ही सफल न केवल वनाये जानेवाले क़ानून का तत्व ही होगा वल्कि उसके वन जाने के वाद उसका कार्य भी शासन-विधानानुसार चुनी हुई सरकार, जवतक वह सरकार है, अपने निर्णय स्वयं करने के अधिकार को छोड़ नही सकती; परन्तु साथ ही यह वात भी माननी पडेगी कि सम्भवत. वही सरकार सरकार रह सकती है जो अपने नागरिकों को यह विश्वास दिला दे कि वह उनकी माँगो को पूर्ण करने के प्रयत्न करती है।

लेते है तो उस विश्वास को उत्पन्न करने का सबसे अच्छा तरीका यही है कि उन संस्थाओ को शासन-संचालन के क्रम के साथ प्रत्यक्षत और पूर्णत. सम्बन्धित कर दिया जावे। जिस परिवर्तन का जिन मनुष्यो के जीवन पर प्रभाव पडता है उसके विषय मे यदि उनसे विचार-विमर्श नही किया जाता तो उनके हृदय मे उसकी न्याय्यता के विषय मे विश्वास या उसकी सम्भावनाओ के विषय मे सदिच्छा उतनी नही हो सकती जितनी उन मनुष्यो के हृदय मे हो सकती है, जो यद्यपि जानते है कि उनके अनुभव को ग्रहण नही किया गया फिर भी अनुभव करते है कि उनकी विचार-दृष्टि को समझने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है। आधुनिक सरकारो की बहुत कुछ असफलता इस कारण हुई है कि उनकी संस्थाये, जिन स्वार्थों को सन्तोष देना चाहिए, और अपनी कार्य-प्रगति से जिनको सहयोग और रक्षा प्रदान करना चाहिए, उनके विरुद्ध पड़ती हैं।

इसके अतिरिक्त, इस मत से, एक और सिद्धान्त निकलता है जिसका महत्व कुछ कम नहीं है। चूँकि समाज स्वरूपत बहुघटनात्मक है इसलिए राज्य-संस्था मे शक्ति जितने व्यापक रूप से बिखरी हुई होती है उसके कार्य भी उतने ही सफल होते है। इसके औचित्य के लिए तीन मौलिक कारण है। सबसे बडी बात तो यह है कि मनुष्यो पर क़ानूनो के परिणाम के लिए जितना उत्तरदायित्व होगा, वे उसके परिणाम के विषय मे उतनी ही रुचि रखेंगे। अत्यन्त केन्द्रीकृत राज्य-संस्था मे, आज्ञापालन सजीव

(आनन्दप्रद) कभी नही होता। वह जडवत् और निष्क्रिय होता है, और उत्तरदायित्वपूर्ण सहयोग की भावना जो गुरुतापूर्ण अवसरो पर सदा आवश्यक होती है, आवश्यकता पडने पर नही पाई जाती। दूसरी वात यह है कि केन्द्रीकरण समान-रूपता पैदा करता है; उसमे काल और देश का ध्यान नहीं रहता। उसके कार्य इतने वडे परिमाण मे होते है कि नये प्रयोगो का होना दुष्कर होजाता है, और असफलता का मूल्य प्राय: इतना अधिक होता है कि कोई भी शासन-संचालक, जिसका प्रथम सिद्धान्त कम-से-कम गलती करना हो नवीनता की ओर आकर्षित नही हो सकता। और अन्तिम वात यह है कि केन्द्रीकरण का परिणाम होता है शासन-कार्य मे समय की समस्या के साथ न चल सकना। मन्त्रि-मण्डल और व्यवस्थापिका सभा जैसी संस्थाये दिन मे निश्चित घण्टे ही काम कर सकती हैं। केन्द्रीभूत प्रणाली मे उनके निवटाने के लिए वहुत अधिक संख्या मे और वहुत प्रकार के प्रश्न रहते है। इस कार्यभार का फल यह होता है कि जिन अनेक बातो पर विचार किया जाना चाहिए उनपर विचार ही नहीं किया जाता, और वहुधा जिस वात पर पूर्णतम विचार करने की आवश्यकता होती है उसपर जल्दी-जल्दी मे वहस कर ली जाती है। इस स्थिति से उत्पन्न होनेवाले ख़तरो का एक महत्वपूर्ण उदाहरण आजकल ब्रिटेन की राजनैतिक सस्थाये उपस्थित करती हैं। जिस पार्लमेण्ट पर भारतवर्ष का उत्तरदायित्व है उसको उसके प्रश्नों पर बहस करने के लिए वर्ष मे सामान्यत केवल दो दिन मिल पाते

है; और मन्त्रिमण्डल बजट को पहली बार हाउस आव कामन्स मे पेश होने के कुछ घण्टे पहले ही देख पाता है।

सौ वर्ष पहले तो केन्द्रीकरण आजकल से कम भयङ्कर था, क्योकि उस समय राज्य-संस्था के कार्यों का क्षेत्र बहुत ही छोटा था। आजकल की भाँति, जहाँ राज्य-संस्था की उंगलियाँ समाज-रूपी भवन के प्रत्येक कोने और सन्धि मे गहरी पहुँचती हैं, वहाँ तो शीघ्र और स्थित्यनुकूल कार्य करना आवश्यक होता है, परन्तु इसके लिए मेरे विचारानुसार एक ऐसी निष्केन्द्रीभूत राज्य-संस्था होनी चाहिए, जिसके अन्तर्गत ऐसी संस्थाये हो, जिनका उसके कर्तृत्वो से उपयुक्त सम्बन्ध हो। इस समस्या का स्वरूप केवल भौगोलिक ही नही है। निःसन्देह यह तो आवश्यक है कि लन्दन और मेचेस्टर, न्यूयार्क, बर्लिन और पेरिस नगर स्थानीय स्वरूप के मामलो मे केन्द्रीय सरकार के प्रति पूर्ण उत्तरदायी और उसकी ओर से पूर्ण स्वतन्त्र होने चाहिएं; और उन्हे स्थानीय मामलो मे नवीन-नवीन प्रयत्न करने के लिए उस सरकार से अधिकार लेने की आवश्यकता न रहनी चाहिए। परन्तु, समानरूप से, यह समस्या कर्तृत्व सम्बन्धी भी है। जिस तरह लङ्काशायर या कान्सस या बेडन को शासन-सम्बन्धी अपनी उचित संस्थाओ की आवश्यकता है, उसी प्रकार सूती वस्त्र-व्यवसाय जैसे स्वार्थ-घटको को भी अपने योग्य शासन-सम्बन्धी संस्थाओ की कम आवश्यकता नहीं है। उनका भी एक ऐसा क्षेत्र है जिसमे, उपयुक्त संरक्षणो के साथ, उनको अपने शासन-कार्य के लिए ठीक उसी प्रकार के

नियम बनाने की आवश्यकता है जिस प्रकार वीयना या लिवरपूल या टोकियो नगर को। सारे क़ानून-निर्माण को, अथवा सारे ही न्याय-विज्ञान को प्रादेशिक आधार पर रखना समाज मे काम करनेवाले स्वार्थों के स्वरूप को गलत समझना होगा। जबतक हम राज्य-संस्था के क़ानूनी विधि-निदेशो को समय-समय पर उन के लिए उपयुक्त होनेवाली संस्थाओ से सम्बन्धित नही कर सकेंगे। आधुनिक सभ्यता की बहुत कुछ उद्विग्नता इस कारण रही है कि, राज्य-संस्था जिस समाज का सूत्र-सञ्चालन करती है उसमें उसकी संस्थाये, अन्य परिवर्तनो, विशेषत. आर्थिक परिवर्तनो, के साथ नही चल सकीं।

५

इस विवेचन का सार यह है कि राजनैतिक तत्वज्ञान मे हमे सब से अधिक आवश्यकता राज्य-संस्था सम्बन्धी ऐसी व्याख्या ढूँढ निकालने की है जिसका लक्ष्य क़ानून का निरन्तर समाजीकरण (Socialisation) करना हो। आधुनिक राज्य-संस्था की निर्बलता उन धारणाओ के कारण है जिन पर उसके क़ानूनी विधि-निदेश अवलम्बित है। वह समस्त सामाजिक प्रणालियों की भाँति न्याय के किसी विशेष विचार को लेकर सङ्गठित है। परन्तु उस विचार के अनुसार व्यक्ति सम्पत्ति का स्वामी माना जाता है, और इसमे उसकी रक्षा करने का ही सबसे अधिक ध्यान रक्खा गया है। वह अठारहवीं शताब्दि का तत्वज्ञान है, वह स्वेच्छाचारी शक्ति के आक्रमण से अपने आपको सुरक्षित करने की मध्यमवर्ग की

अभिलाषा का व्यक्त रूप है। परन्तु जो स्वतन्त्रता और सामानता उसके अनुसार मिलती है वह सम्पत्ति-स्वामी की स्वतन्त्रता और समानता है; इस विचार-दृष्टि से जो कोई फ्रान्स और जर्मनी के दीवानी क़ानूनों का परीक्षण करेगा उसे उनके आधारभूत सिद्धान्तों पर से यह जानना कठिन होगा कि ऐसे स्त्री पुरुष भी बहुत हैं जिनके पास काम में लाने के लिए अपनी श्रम-शक्ति के सिवाय अन्य सम्पत्ति नहीं है। उस विचार के अनुसार ऐसे मनुष्यों की इक़रार की स्वतन्त्रता सुरक्षित की गई है। परन्तु यह कल्पना करना कि इनके हाथों में इनको काम देनेवाले कारखानेदारों के मुक़ाबले में इक़रार की स्वतन्त्रता रहती है केवल भ्रम है। इसलिए हमारे सामने आवश्यकता इस इस बात की है कि जो विशेषाधिकार हमारे विधि-निदेश प्रदान करते हैं उनको वास्तव में सारे नागरिकों के समूह के लिए विस्तृत कर दिया जाय।

वास्तव में आज हमारी स्थिति, रोम के साधारण वर्ग के लोगों की जो स्थिति विशेष न्यायमण्डल और 'बारह टेबल' के क़ानून की व्यवस्था द्वारा संरक्षण मिलने से पहले थी, उससे कुछ भिन्न नहीं है। ये दोनों व्यवस्थाये न्याय के विचार के क्षेत्र को अधिक विस्तृत करने के प्रयत्न थे। जिस प्रकार पहले जिन साधारण लोगों के पास कोई ख़ास सम्पत्ति नहीं थी उनके वास्ते क़ानून भी नहीं थे, ठीक इसी प्रकार आजकल जो नागरिक सम्पत्तिहीन है वह उन अधिकारों को वस्तुतः उपयोग नहीं कर सकता जो सिद्धान्ततः उसको मिले हुए है। और चूँकि वह मानसिक और आर्थिक दोनों

प्रकार की स्वतन्त्रताओं को अधिकाधिक पहचानता जाता है, और उसने राष्ट्रीय शिक्षा और मजदूर-संघ इन दोनो को राज्य-संस्था से स्वीकार करवा लिया है, इसलिए वह राज्य-संस्था के न्याय-सम्बन्धी विचार को इस प्रकार विस्तृत करवा रहा है कि जिसमे उसके स्वार्थो का समावेश सम्पत्ति-स्वामियो से कम न हो। नि सन्देह, मार्ग मे अनेक बाधाये हैं। उसकी माँगो पर जो रिआयते-पूर्ति प्रदान की जाती है वह उतनी ही आंशिक होती हैं जितनी कि रोम के कुलीन-वर्ग के मनुष्य साधारण-वर्ग के मनुष्यो के लिए प्रदान करने को तैयार थे; किसी भी एक पक्ष पर एक ही रीति से प्रणाली नही बदलती। उदाहरणतः, मजदूर-संघो द्वारा निश्चित की हुई आदर्श कोटि की शर्तो के बाहर व्यक्तिगत श्रमजीवी की इक़रार-स्वतन्त्रता के रक्षण से मजदूर-मालिक के विशेषाधिकारो का संरक्षण भी उतना ही होजाता है, जितनी कि रोम की व्यवस्थापिका-सभा मे वहाँ के कुलीन-जनो की प्रधानता के कारण उन्हे प्राप्त था। अब भी न्याय-विज्ञान मे परम्परा और रूढियाँ श्रमिक-वर्ग के विरुद्ध उतनी ही पडती हैं जितनी कि उस समय जब कि रोम के पुरोहित-वर्ग ने क़ानून के नियमो और क्रमो को एक रहस्य बना रक्खा था और जिन्हे फ्लेवियस के समय से पहले कोई भी साधारणवर्ग का मनुष्य समझ नही सकता था।

रोमन क़ानून का परिणाम यह हुआ कि जन्म के समय व्यक्ति की जो पद-मर्यादा निश्चित थी उससे उसकी मुक्ति तो हुई, परन्तु कहना पडेगा कि वह आंशिक मुक्ति ही थी। हमारे साथ

भी ऐसा ही होरहा है। नई आर्थिक व्यवस्था का मतलब ही यह है कि कानूनी विधि-निदेशों के तत्व मे भी परिवर्तन होगया है; उसके कारण कानूनी विधि-निदेशो को अधिक विस्तृत मॉगो की पूर्ति का प्रयत्न करना पडता है, अन्यथा वे क़ानूनी विधि-निदेश ही न रहे। नई आर्थिक व्यवस्था का परिणाम होगा सार्वजनिक मताधिकार, सार्वजनिक मताधिकार का परिणाम होगा राजनैतिक संस्थाओ को काम मे लाने की शक्ति पर जनसमुदाय का अधिकार वे निश्चय ही उस शक्ति से क़ानूनी विधि-निदेशो का इस प्रकार प्रयोग करेगे कि जिससे राज्य-संस्था की प्रवृत्तियो के कारण अभी तक अपूर्ण रही हुई उनकी आवश्यकताओ की पूर्ति हो सके। जो बाते एक ही पीढी पहले राजनीतिज्ञो द्वारा अव्यवहार्य समझी जाती, वही उनकी सत्ता के कारण स्वाभाविक न्यायपूर्ण प्रतीत होने लगती है। जिस तरह उनके पूर्वाधिकारी अपनी प्रधानता के हितो के अनुकूल अवस्थाये समाज पर लादते थे ठीक उसी प्रकार वे भी लादते हैं क़ानून, सदसद्-विचार, धर्म, यह सब जीवन की नई धारा की दृष्टि का अनुसरण उसी प्रकार करते है जिस प्रकार अन्य वर्गों के पास शक्ति होने के समय करते थे। उन्हे जिन विचारो की आवश्यकता होती है, उनको वह उसी प्रकार पूज्यता के पद पर पहुँचा देते हैं जिम प्रकार पूर्ववर्ती सामाजिक पद्धतियो से अन्य विचारो को वह पद प्राप्त था। क्योकि जो वर्ग राज्य-संस्था पर अपना प्रभुत्व जमा लेता है, वह जिन लोगो से शक्ति छीनता है केवल उनको लूटने की शक्ति ही नहीं चाहता, बल्कि आजकल

के सोविएट रूस की तरह यह भी चाहता है कि उसकी लूट न्याय्यता के अनुकूल समझी जाय; और जिन लोगो के विशेषाधिकारो का जिन सिद्धान्तो के अनुसार हरण हुआ है वे ही लोग उन सिद्धान्तो की न्यायोचितता को स्वीकार करे। अत, भूतकाल मे समाज सम्पत्ति पर होनेवाले आक्रमण को घोरतम पाप समझता था, और वह उस मनुष्य को आदरणीय समझने को तैयार था जो अपने पडोसी की चीजे लेने की अपेक्षा अपने स्त्री और बच्चो को भूखो मरने देता था।

जैसा कि मैंने दर्शाया है आजकल जो होरहा है वह है क़ानून के क्षेत्र का विस्तार। जिन अधिकारो का होना मैंने आधुनिक सामाजिक अवस्थाओ मे स्वाभाविक रूपेण आवश्यक बताया है, वे केवल नैतिक दावे न रहकर अब निश्चित क़ानूनी कर्तव्य बनते जा रहे है। व्यक्ति की सम्पत्ति इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए राज्य-संस्था द्वारा जान-बूझकर छीनी जारही है। सम्पत्ति-स्वामित्व से होनेवाली जिन सुविधाओ का उपभोग आजकल सम्पत्ति-स्वामी राज्य के शन्नियोग के विना भी करते है, उनकी व्यवस्था अब राज्य-सस्था द्वारा उन्ही सम्पत्ति-स्वामियों के खर्चे पर जनसमुदाय के लिए अधिकाधिक होरही है। और यह अधिकार-पूर्ति, सामाजिक पद्धति मे, आर्थिक शक्ति के महत्व मे परिवर्तन होने के कारण, न्याय सम्बन्धी अधिक विस्तृत विचार फैल जाने का परिणाम है।

अन्त मे दो बाते और कहने योग्य हैं। यह समझने का कोई कारण नहीं है कि उक्त क्रम अनिवार्य ही है; और न हम आवश्यक रूप से यह मान सकते है कि वह शान्तिपूर्वक ही पूर्ण हो जायगा। पहली बात के विषय में हम इतना ही कह सकते हैं कि वर्तमान आर्थिक विकास का स्वरूप ही इस प्रकार का है कि जिसके कारण सत्ता जनसमुदाय के हाथ मे जारही है, और उसके साथ-साथ क़ानूनी विधी-निदेशो का बल किसी छोटे वर्ग के स्वार्थ के स्थान पर जनसमुदाय के स्वार्थ की ओर अधिक होता जा रहा है। परन्तु यदि आर्थिक पद्धति किसी अप्रतीक्षित दिशा मे अचानक बदल होजाय तो उस परिवर्तन के फलस्वरूप जिनके हाथ मे शक्ति पहुॅचेगी, वे निश्चय ही अधिकारो के तत्व को अपने हित के लिए परिवर्तित कर लेगे।

इसी प्रकार हम परिवर्तन के निश्चय ही शान्तिपूर्वक होजाने के विषय मे भी विश्वास नहीं कर सकते। मनुष्य न्याय-सम्बन्धी अपने विचारो पर दृढ रहते हैं; और प्राय. ऐसा नहीं होता कि वे अपनी शक्ति को स्वेच्छा से त्याग देते हो। प्रतीत होता है कि क़ानूनी सत्ता और राजनैतिक शक्ति के बीच सादृश्य उत्पन्न करने के लिए मॉग-पूर्ति करते जाने का सतत-प्रयास ही शान्ति है। जहाँ यह सादृश्य किसी शासन-विधान की रचना के अन्दर रहते हुए प्राप्त नहीं किया जा सकता, वहॉ नई व्यवस्था अपनी इच्छा को बलपर्वक लागू करती है। ऐसा परिवर्तन सर्वनाश के समान प्रतीत हो सकता है; क्योकि आधुनिक सभ्यता ऐसे जटिल

और क्षिप्र-भङ्गुर तन्त्रो पर निर्भर है कि जिन पर यदि किसी पर्याप्त परिमाण मे बलप्रयोग किया जाय तो वे बच नही सकती। इस-लिए बुद्धि तो यही बताती है कि सन्तत सुधार की नीति रक्खी जानी चाहिए, परन्तु मनुष्य पूर्णतया केवल विवेकशील प्राणी ही नहीं है, और इसका भी कोई विश्वास नही है कि विवेक ही विजयी होगा।

: ३ :

राज्य-संस्था का संगठन

१

राज्य-संस्था के सङ्गठन की समस्या उसके प्रजाजन और क़ानून के बीच के सम्बन्ध की समस्या है। सम्भव है क़ानून के बनाने मे प्रजाजन का हाथ हो, इस दशा में राज्य-संस्था भिन्न-भिन्न अंश में प्रजातन्त्र राज्य-संस्था होगी। अथवा, सम्भव है कि क़ानून-निर्माण में प्रजाजन का कोई भाग न हो और वह उनपर लादा जाता हो; इस दशा मे राज्य-संस्था भिन्न-भिन्न अंश मे एक-तन्त्र राज्य-संस्था होगी।

दोनो प्रकार के सङ्गठन शुद्ध रूप मे नहीं रह सकते। पूर्ण प्रजातन्त्र राज्य-संस्था निर्णयार्थ उठनेवाले सब मामलो मे अपने सब नागरिको से सलाह लेगी; और शुद्ध एकतन्त्र राज्य-संस्था राज्य के सारे विधि-निदेशो को स्वय ही बनायगी और स्वयं ही लागू करेगी। आधुनिक आकार-विस्तार के समाजो मे दोनो प्रकार के सङ्गठनो को इस आधार पर कार्य करना व्यावहारिक रूप से असम्भव है।

सामान्य जीवन मे तो वास्तव मे हमे सम्मिश्रित रूप की राज्य-संस्थाये मिलती है। कुछ समाजो मे, जैसे फ्रांस या ग्रेट-ब्रिटेन में, प्रजातान्त्रिक तत्व प्रधानता रखता है; कुछ समाजो मे, जैसे रूस या इटैली मे, एक-तान्त्रिक तत्व का बल अधिक स्पष्ट है। जितने प्रकार के सम्मिश्रण हो सकते हैं, सब पाये जाते है। कहीं तो, प्रजातन्त्रीय व्यवस्थापिका के साथ-साथ ऐसी कार्यकारिणी होती है जिसकी शक्तियाँ एकतन्त्र-प्राय होती हैं। कही, स्वीजर-लैण्ड की भाति, व्यवस्थापिका, जो स्वय निर्वाचक-मण्डल द्वारा नियन्त्रित है, कार्यकारिणी पर पूर्ण प्रभुत्व जमाये हुए है। और कहीं, संयुक्त राष्ट्र (अमेरिका) की भांति, व्यवस्थापिका और कार्य-कारिणी दोनो के अधिकार का निर्णय न्याय-विभाग (न्याय-कारिणी संस्था) करता है, जिसकी शक्ति स्वय भी वैधानिक संशोधन के अधीन है।

प्रत्येक विद्यमान राज्य-सस्था के रूप उसकी ऐतिहासिक परम्पराओ द्वारा निर्धारित हुए है, और प्रत्येक जाति के अनुभवो मे उनके जीवन-व्यवहार को जो पृथक्-पृथक्, थोडा-थोडा अन्तर रखनवाली. सुन्दर-सुन्दर विशुषताये प्राप्त हुई है, उनके कारण यह कहना असम्भव है कि एक विशेष पद्धति दूसरी पद्धति से श्रेष्ठ है। हम इतना ही कह सकते है कि, सामान्यत एकतन्त्रीय की अपेक्षा प्रजातन्त्रीय रूप अधिक अनुकूल है, कम-से कम पश्चिमी सभ्यता की प्रवृत्तियो के लिए। क्योकि, प्रजातन्त्र पद्धति मे चाहे कितनी ही कमजोरियों हो, उसमे राज्य के विधि-निदेशो का रूप-निर्माण

करते समय अधिक-से-अधिक माँगो पर विचार करना शक्य हो-जाता है। यह पद्धति क़ानूनी विधि-निदेशो के कार्यों की समा-लोचना को ही उनके जीवन का आधार बना देती है। यह उत्तर-दायित्व की भावना को विस्तृत करके स्वय विचार और कार्य करने की प्रवृत्ति को बढाती है। यह नागरिक को निर्णय मे भाग लेने की भावना ही नहीं, प्रत्युत, उसके तत्त्व पर प्रभाव डालने का अवसर भी प्रदान करती है। यदि यह मान भी ले कि अन्य पद्धति की अपेक्षा प्रजातन्त्रीय पद्धति, जैसा कि अनुभव से सूचित-सा होता है, अवश्य धीरे कार्य करेगी, क्योकि, उसके सामने उपस्थित होनेवाली माँगे बहुत ही भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं, तो भी, अन्य कोई ऐसी पद्धति नहीं है जिसके पास राज्य के सिद्धान्तभूत उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए कोई संस्था-सम्बन्धी योजना हो।

परन्तु यह कहना कि राज्य-संस्था का स्वरूप प्रजातान्त्रिक होना चाहिए, उस स्वरूप को प्रकट करनेवाली संस्थाओ को ही निश्चित करना नहीं है. क्योकि, मोटेतौर पर यह कहना गलत नहीं है कि प्रजातन्त्र प्रणाली अभी, किसी विशेष रूप मे, अपने लिए उपयुक्त संस्थाओ को ढूँढ नहीं सकी है। यदि क़ानूनी विधि-निदेशो के समूह का विश्लेषण किया जाय तो प्रतीत होता है कि तीन प्रकार की सत्ता की आवश्यकता है जैसे (१) हमे ऐसी संस्थाओ की आवश्यकता है जो या यो समस्त नागरिक-समूह के लिए या समस्त नागरिक-समूह से स्पष्टत भिन्न निश्चित स्वार्थ रखनेवाले नागरिक-समूह के किसी भाग के लिए लागू होनेवाले साधारण

नियम बनाता है। ऐसी संस्थाओं का स्वरुप व्यवस्थापनात्मक होता है। वे, या तो पार्लमेण्ट-सहित राजा की भांति, सर्वोपरि व्यवस्थापिका हो सकती है, या मेञ्चेस्टर नगर-शासन-सभा की भांति, अ-सर्वोपरि क़ानून बनानेवाली संस्था हो सकती है, जिनका अधिकार-क्षेत्र उनको सत्ता देनेवाले विधान द्वारा निश्चित रहता है। (२) हमें ऐसी संस्थाओं की आवश्यकता है, जिनका कर्तव्य है जिस व्यवस्थापिका के नीचे वे कार्य करती हैं, उनके निश्चित किये हुए नियमों के अपेक्षित लक्ष्यों को कार्यान्वित करना। ऐसी संस्थाओं की मुख्य विशेषता यह है कि वे सामान्यत. अपने अधिकार-क्षेत्र को स्वयं निश्चित नहीं करतीं। जिन सिद्धान्तों के अधीन वे रहती हैं वे उनके लिए उस व्यवस्थापिका द्वारा निश्चित किये जाते हैं जिसके प्रति वे सामान्यत उत्तरदायी होती हैं। इस प्रकार की व्यवस्थापिका अधिकारों का जो क्षेत्र निश्चित कर देती है उसके अन्दर ही उनके कार्यों का स्वरूप सीमित रहता है। उनका कार्य राजनैतिक जीवन की रूप-रेखा का रूप-निर्माण करनेवाले क़ानूनी विधि निदेशों को कार्यान्वित करना है। (३) हमें ऐसी संस्थाओं की आवश्यकता है जो दो प्रकार के झगड़ों को निबटावे। नागरिक और कार्यकारिणी के बीच झगड़े होते हैं, उदाहरणात., नागरिक यह दावा पेश करता है कि कार्यकारिणी का अमुक कार्य उसके अधिकार-क्षेत्र से बाहर जाता है। यह स्पष्ट है कि यदि कार्यकारिणी को ही अधिकार हो कि वह अपने अधिकार-क्षेत्र का स्वयं ही निर्णय करले, तो वह जिन क़ानूनी विधि-निदेशों से जीवित

रहती है उनकी वास्तव मे स्वामिनी हो जावें। ऐसे झगड़ो के निर्णय का अधिकार कार्यकारिणी से बाहर सौंपने से प्रामाणिकता की यथार्थता मालूम की जा सकती है। और, दूसरे प्रकार के झगड़े है नागरिको के बीच के झगड़े। 'क' का दावा है कि 'ख' ने उसे हानि पहुँचाई। यहाँ यह निर्णय करने की आवश्यकता है कि जिस व्यवहार की शिकायत 'क' करता है वह राज्य-संस्था के कानूनी विधि-निर्देशो द्वारा वास्तव मे निषिद्ध है या नहीं, यदि वह इस प्रकार निषिद्ध है तो, क़ानून की दृष्टि से ही, किसी उपयुक्त दण्ड को भी निर्धारित करने की आवश्यकता है।

कम-से-कम अरस्तू के समय से तो, राजनीतिक तत्वज्ञान ने बराबर यह माना है कि प्रत्येक सुव्यवस्थित राज्य-संस्था मे यह तीनो प्रकार की संस्थाये, अपने कर्तृत्व के विषय मे भी और अपने अन्तर्गत व्यक्तियो के विषय मे भी, एक-दूसरे से पृथक्-पृथक् रहनीं चाहिएं। मान्टेस्क्यू जैसे कुछ विचारक यहाँ तक आगे बढ गये है कि उनका दावा है कि इनके पृथक्करण मे ही राजनैतिक स्वतन्त्रता का रहस्य है।

हम इतने कट्टर मत को स्वीकार नहीं कर सकते। पहले तो, शुद्ध सिद्धान्त के आधार पर न्याय-विचार सम्बन्धी कर्तृत्व, पूर्ण युक्तित, व्यवस्थापिका का काम माना जा सकता है; क्योंकि जो व्यक्ति क़ानून को बनाता है उसके अतिरिक्त अन्य व्यक्ति उसके अर्थ को जाननेवाला नहीं माना जा सकता। इसके अलावा व्यवहार मे भी कठोर पार्थक्य रखना असम्भव है। व्यवस्था-

पिकायें अपने कर्तव्य को तबतक उचित रीति से पूर्ण नहीं कर सकतीं जबतक उन्हे कानून के कार्यान्वित करने मे हस्तक्षेप करने और यथावसर न्यायाधीशो के निर्णयो को, जो व्यापक रूप से असन्तोषजनक प्रतीत होते हो, विधान द्वारा बदलने की स्वतन्त्रता न हो। कार्यकारिणी को क़ानून का प्रयोग करते समय, सामान्य सिद्धान्तो को ब्योरे का जामा पहनाना पड़ता है, और आधुनिक राज्य-संस्था मे इस कर्तृत्व का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि इसको व्यवस्थापिका के कार्य से पृथक् करना प्राय कठिन होजाता है। अन्तिम बात यह है कि, न्याय-कारिणी जब कार्यकारिणी के अधिकार-क्षेत्र का निर्धारण करती है (इस दशा मे वह व्यवस्थापिका की इच्छा के तत्व का निर्धारण करती है), या दो नागरिकों के बीच के झगडे का निर्णय करती है (इस दशा में वह राज्य-संस्था के क़ानूनी विधि-निदेशो के कार्य का क्षेत्र बढाती है, या यह बताती है कि उन विधि-निदेशो ने जो कार्यक्षेत्र घेर लिया है वह उसकी सीमा से बाहर का है), तब वह ऐसा कर्तृत्व पूर्ण करती है जो स्वरूपत व्यवस्थापनात्मक है। उदाहरणत, इङ्गलैण्ड और अमेरिका में जो कानून न्यायाधीश-निर्मित कहलाता है, और ठीक ही कहलाता है वह विधान के क़ानून से अधिक व्यापक क्षेत्र घेरे हुए है, और अमेरिका मे इस कारण कि वहाँ व्यवस्थापिकाये स्वरूपत असर्वोपरि है, क्योकि उनकी सत्ता लिखित शासन-विधानो से जिनको वे नहीं बदल सकतीं, उत्पन्न होती है, इन शासन-विधानो का अर्थ-निर्णय करनेवाले न्यायाधीशो के हाथ मे व्यवस्थापिका से भी

अधिक शक्ति है (उदाहरणत उन मामलो मे जहाँ किसी विधान पर या किसी कार्य कारिणी की सत्ता पर शङ्का है.) कारण कि न्यायकारिणी इच्छा ही व्यवस्थपिका के अधिकार की सीमाओं को निर्धारित करनेवाला मुख्य अवयव है।

प्रत्येक संस्था का पृथक्-पृथक् विश्लेपरण प्रारम्भ करने से पहले सामान्य प्रकार के दो और सिद्धान्तो पर विवेचन करना आवश्यक है। प्रत्येक सुव्यवस्थित राज्य-संस्था के पास ऐसा शासन-विधान होता है जो उसके क़ानूनी विधि-निदेशो के बनाने के मूल तरीक़े को निश्चित करता है। इस प्रकार के शासन-विधान दो तरह से विभक्त किये जा सकते हैं। वे लिखित या अलिखित हो सकते हैं, और, वे कठिनतया-परिवर्तनीय या सुगमतया-परिवर्तनीय हो सकते हैं। उदाहरणत संयुक्त-राष्ट्र (अमेरिका) का शासन-विधान एक ऐसा पत्रक है जो व्यवस्थापिका कार्यकारिणी और न्यायकारिणी के पारस्परिक सम्बन्धो को निर्धारित करता है, और इनमें से कोई भी जबतक यह सिद्ध न कर दे कि जो शक्ति वह ग्रहण करना चाहती है वह उस पत्रक की धाराओ से उत्पन्न होती है, तबतक कार्य करने का अधिकार नहीं रखती। दूसरी ओर, ब्रिटेन का शासन-विधान अनेको विधानो, न्यायकारिणी के निर्णयो, और अलिखित प्रथाओ का बना हुआ समूह है, जिनका पारस्परिक सम्बन्ध नियमतः इस बात से निर्धारित होता है कि पार्लमेण्ट-सहित राजा के हाथ मे उनमें यथोचित परिवर्तन करने की शक्ति है, पारिभाषिक शब्दों मे कह सकते हैं कि

साधारण कानून और शासन-विधान सम्बन्धी क़ानून दोनो समान श्रेणी के हैं। उदाहरणत संयुक्त-राष्ट्र (अमेरिका) की कॉग्रेस को राष्ट्रपति के कर्तृत्वो मे परिवर्तन करने की शक्ति नही है, परन्तु पार्लमेण्ट-सहित राजा जब उचित समझे ब्रिटेन की कार्यकारिणी की शक्ति को परिवर्तित कर सकता है।

आधुनिक संसार मे लिखित शासन-विधान ही अधिकाधिक नियमरूप होते जाते है, यह अनुभव किया जाता है कि राज्य-संस्था में शक्ति का विभाजन इतना महत्वपूर्ण मामला है कि जिस के विषय मे बहुत ही निश्चितता की आवश्यकता है, जो लिखित शासन-विधान ही प्रदान करता है। सब मिलाकर विचार करे तो अनुभव यह बताता है कि इस दृष्टिकोण मे वस्तुत' तथ्य है, क्योकि शासन-विधान सम्बन्धी कुछ सिद्धान्त इतने महत्वपूर्ण है कि उनपर जितना जोर दिया जाय कम है। दूसरी ओर यह बिलकुल अवांछनीय बात है कि शासन-विधान का स्वरूप कठिनतया-परिवर्तनीय हो। समाज की आवश्यकताये बदलती रहती है, और उसके लिए जो रूपरचना आवश्यक होती है वह भी आवश्यकताओ के परिवर्तन के साथ परिवर्तित हुआ करती है। उदाहरणार्थ, अमेरिका के शासन-विधान की दृढता कुप्रसिद्ध है, वह तभी बदल सकता है जब कॉंग्रेस की दोनो खण्ड-सभाओं मे से प्रत्येक की दो-तृतीयाश सम्मति हो, और उसपर अमेरिकन संघान्तर्गत तीन-चतुर्थांश राज्य सात वर्ष के समय के अन्दर स्वीकृति दे। अनुभव ने प्रकट किया है कि कार्यपद्धति संशोधित

करने की शक्ति को इतना दुष्कर बना देने का परिणाम यह है कि, जब कोई आवश्यक परिवर्तन स्पष्टत वांछनीय होजाते है तब वे नहीं किये जा सकते। उदाहरणत, सयुक्त-राष्ट्र (अमेरिका) में शक्ति के प्रारम्भिक विभाजन के कारण मजदूरो-सम्बन्धी और दाम्पत्य-सम्बन्धी क़ानूनो मे एकरूपता लाना प्राय. असम्भव हो जाता है, जो आजकल की दुनिया मे आवश्यक है। अमेरिकन-संघ के पिछड़े हुए राज्यो मे प्रतिगामी कारखानेदार लोग अनुचित रूप से लाभ मे रहते है, और शासन-विधान की "पूर्ण ईमानदारी और साख" वाली धारा के 'कारण व्यावहारिक रूप मे धनिकों को तो तलाक़ की सुविधाये मिल जाती है परन्तु निर्धनो को नहीं मिल पाती। अनुभव से यह सिद्ध होता है कि शासन-विधान लिखित होना, वांछनीय है, जो स्पष्ट और सीधे क्रम से संशोधित किया जा सके। सब बातो पर विचार करते हुए सम्भवत सर्व-श्रेष्ठ उपाय यही हो सकता है कि व्यवस्थापिका ही शासन-विधान मे सशोधन करे, परन्तु शर्त यह रक्खी जानी चाहिए कि किसी प्रस्तावित परिवर्तन के लिए काफी ऊँचे अनुपात मे सदस्यो का समर्थन मिले।

कभी-कभी कहा जाता है कि प्रजातान्त्रिक पद्धति मे शासन-विधान मे मौलिक प्रस्ताव उपस्थित कर सकने, तथा समुपस्थित प्रस्ताव पर सार्वजनिक-सम्मति-निर्धारण करने की विधियाँ समाविष्ट रहनी आवश्यक है। इस पक्ष के समर्थक कहते हैं कि यदि क़ानूनी विधि-निदेशो के निर्माण के कार्य मे किसी जनता का भाग

केवल इसी हद तक परिमित हो कि वह उन विधि-निदेशो के तत्व के लिए उत्तरदायी मनुष्यो को चुन दे तब तो वह अपने जीवन पर वास्तव मे नियन्त्रण नही रखती। मौलिक प्रस्ताव उपस्थित कर सकने की रीति से सर्वसाधारण की इच्छा निश्चित रूप ग्रहण कर सकती है, और समुपस्थित प्रस्ताव पर सार्वजनिक-सम्मति-निर्धारण करने की रीति से जनता अपने प्रतिनिधियो के उन कार्यो को रोक सकती है जिनके साथ वह सहमत नही है। इस पक्ष के लोगो का दावा है कि प्रतिनिधि-स्वरूपात्मक पद्धति के साथ प्रत्यक्ष शासन अवश्य होना चाहिए, अन्यथा जैसा कि अंग्रेज जनता के विषय मे रूसो ने कहा था, वह केवल चुनाव के समय मे ही स्वतन्त्रता होती है।

परन्तु कहा जा सकता है कि इस मत मे जिन समस्याओ पर निर्णय करना है उनके स्वरूप, तथा जिस स्थान पर सार्वजनिक सम्मति का अधिक-से-अधिक मूल्यवान परिणाम हो सकता है, इन दोनो बातो को गलत समझा गया है। समस्त आधुनिक राज्य-सस्थाओ मे निर्वाचक-मण्डल आवश्यक-रूप से इतना बडा होता है, कि जनसाधारण, समष्टिरूप से, इससे अधिक कुछ नही कर सकते कि प्रत्यक्ष शासन उनके सामने जिन प्रश्नो को उपस्थित करे उन पर वह 'हॉ' या 'ना' के रूप मे प्रत्यक्ष उत्तर दे दे। परन्तु क़ानून बनाने का कार्य जितना सिद्धान्त-सम्बन्धी है, ब्योरा-सम्बन्धी भी उससे कम नही है, और कोई भी निर्वाचक-मण्डल अपने सामने विचारार्थ उपस्थित किये हुए मामलो के ब्योरे में नही जा

सकता। वास्तव मे, प्रत्यक्ष शासन आधुनिक शासन के प्रयोजन के लिए अत्यन्त भद्दा साधन है। वह, जिस स्थान पर वाद-विवाद आवश्यक है उस स्थान पर उसको उपयोगी नहीं बना सकता, और वह संशोधन के क्रम के लिए अवकाश नहीं देता। यह सत्य है कि, बिजली देने का काम राष्ट्रीय होना चाहिए या व्यक्तिगत इस प्रकार के सिद्धान्त-सम्बन्धी विशेष मोटे प्रश्नों को तो सार्वजनिक सम्मति के लिए छोडा जा सकता है, परन्तु अन्य सब प्रश्न इतने नाजुक और जटिल होते है कि निर्वाचक-मण्डल मे, अ-विशिष्ट निर्वाचक-मण्डल के रूप से, न तो इतनी रुचि होती है और न इतना ज्ञान कि वह उपयुक्त निर्णय कर सके।

इतना ही नही। केवल यही नहीं कि अधिकाश प्रश्न इस रूप मे बनाए जा सकते कि जिससे प्रत्यक्ष शासन उपयोगी हो सके, परन्तु इस पद्धति के अवान्तर परिणाम भी असन्तोपजनक होते है। उदाहरणतः यह प्रतिनिधि-सभा की पद्धति के अविरुद्ध नहीं है, क्योकि इसके अनुसार कार्यों का मुख्य उत्तरदायित्व व्यवस्थापिका के बाहर रहता है। उत्तरदायित्व के इस प्रकार के विभाजन से प्रयत्न की सु-सम्बद्धता नष्ट होजाती है, जिसके द्वारा सर्वसाधारण अपने प्रतिनिधियो के काम का उचित रीति से निर्णय कर सकती है। और, इस पद्धति मे यह बात मानी गई है कि लोकमत क़ानून बनाने के क्रम के विपय मे भी और उसके परिणामो के विपय मे भी विद्यमान है। परन्तु शासन की वास्तविक समस्या यह नहीं है कि जिन कार्यों के विपय मे निर्वाचक-मण्डल

को घनिष्ठ ज्ञान होना सम्भव न हो, उनपर भी निर्वाचक-मण्डल का अ-विशिष्ट और अरुचिपूर्ण मत बलपूर्वक लिया जावे। बल्कि शासन की समस्या तो यह है कि लोकमत का वह भाग जो क़ानूनी विधि-निदेश बनाने से पहले उसके तत्व से सम्बद्ध है और जो उनके विषय मे योग्यता रखता है क़ानून-निर्माण-क्रम से संयोजित कर दिया जाय। इसके लिए प्रत्यक्ष शासन आवश्यक नहीं है, बल्कि आवश्यक यह है कि किसी तरीक़े से समाज के सम्बद्ध स्वार्थ-घटको को, जिन क़ानूनो से उनके जीवनो पर कुछ प्रभाव पड़ेगा, उनके निर्माण-क्रम से सम्बन्धित कर दिया जाय। उदाहरणत स्वास्थ्य-बीमा सम्बन्धी किसी राष्ट्रीय योजना पर, यदि व्यवस्थापिका सभा मे बहस होने से पहले डाक्टरो, मजदूर-सङ्घो और इसी प्रकार की संस्थाओ को अपने विचार प्रकट करने का पूरा अवकाश देकर उनसे विचार-विमर्श करने की पद्धति न रखी जाय और सार्वजनिक-सम्मति ली जाय तो उसकी अपेक्षा इसके परिणाम बहुत कम मूल्यवान् होगे। संक्षेपत, शासन के प्रयोजन के लिए परिणामकारी सम्मति प्राय सदा जन-समुदाय की सम्मति से भिन्न विशेष ज्ञान रखनेवाली संगठित और विशिष्ट सम्मति होती है। सार्वजनिक-सम्मति स्वरूपत प्राय निषेधार्थक के सिवाय अन्य परिणाम नहीं दे सकती, और अनुभव की शिक्षा यही प्रतीत होती है जैसा कि विशेषत स्विट्जरलैण्ड का इतिहास बताता है कि वह परम्परा-गत प्रवृत्तियो मे इतनी जकडी हुई रहती है कि जब वह एक बाहरी सरक्षित शक्ति होती है, तब उसके

कारण कोई भी सामाजिक प्रयोग करना कठिन होता है।

२

यदि राज्य-संस्था की व्यवस्थापिका अपने अङ्गों में अपनी सत्ता बलपूर्वक मनवाना चाहती है तो उसे आधुनिक परिस्थितियों में सार्वजनिक मताधिकार पर आधारित होना चाहिए। वह इतनी बड़ी होनी चाहिए कि उसके सदस्य निर्वाचक-मण्डल के साथ काफी दृढ सम्पर्क में रह सकें, और इतनी छोटी होनी चाहिए कि समुचित वाद-विवाद किया जा सके। उदाहरणतः, रूस की सोवि-एट सरकार की कांग्रेस के समान किसी बड़ी परिषद् में वाद-विवाद में समस्त व्यक्तित्व डूब जाता है, और परिषद् सबसे अधिक प्रभाव रखनेवाले दल की इच्छा को कानून का रूप दे देनेवाला साधन-मात्र बन जाती है। उसे, एक निर्धारित काल के बाद, जिसे वह सामान्य परिस्थितियों में स्वयं नहीं बदल सकती, अपना दुबारा निर्वाचन स्वयं करवाना चाहिए। यह काल इतना लम्बा होना चाहिए कि दो परिणाम प्राप्त होसकें, एक तो यह कि व्यवस्थापिका अपने आपको काफी विस्तृत कार्यक्रम के लिए उत्तरदायी बना सके, और दूसरा यह कि उसके सदस्यों को इतना काफी समय मिल सके कि वे उसकी कार्यपद्धति से अपने आपको पूर्ण परिचित कर सकें। परन्तु यह काल इतना अल्प भी होना चाहिए कि व्य-वस्थापिका का अपने अवयवों से सम्पर्क छूट न जाय। इंग्लैण्ड में १९११ से पहले दो निर्वाचनों के बीच में सात वर्ष के काल की जो प्रणाली प्रचलित थी, वह बहुत लम्बी थी, क्योंकि उसके कारण

व्यवस्थापिका को इतना दीर्घ जीवन मिल जाता था कि जिससे उसपर लोकमत के प्रवाह का प्रभाव नही पडता था। दूसरी ओर, संयुक्तराष्ट्र (अमेरिका) की प्रतिनिधि-परिषद् का दो वर्ष का काल भी बहुत छोटा है, क्योंकि ज्योंही कोई सदस्य निर्वाचित होजाता है त्योंही उसके दूसरे चुनाव का विचार उसके मस्तिष्क को घेरने लगता है, और वह इतने थोड़े समय मे परिषद् के क़ानून बनाने क तरीक़ो को सीखने की आशा भी नही कर सकता। सब बातो को ध्यान मे रखते हुए पाँच वर्ष का काल इन आवश्यकताओ के लिए उपयुक्त प्रतीत होता है।

सामान्यत व्यवस्थापिका परिषद् का सदस्य किसी-न-किसी दल के समर्थक के रूप मे निर्वाचित होगा। आधुनिक राज्य-संस्था मे निर्वाचक-मण्डल इतना बडा होता है और स्वार्थों की संख्या इतनी भिन्न-भिन्न होती है कि निर्णयो पर पहुँचने के लिए उनको संगठित करना आवश्यक है। इस कर्तृत्व को, राज्य-संस्था मे राजनैतिक दल पूर्ण करते हैं, वे विचारो के दलाल हैं। वे ऐसे सिद्धान्तो को चुन लेते है, जो उनके विचारानुसार पूर्ण सम्भवतया निर्वाचक-मण्डल को स्वीकृत होगे, और उन सिद्धान्तो पर आरूढ होजाते हैं और यथाशक्य उनको कानून के रूप मे परिवर्तित करने की प्रतिज्ञा करते है। मोटे तौर पर कह सकते हैं कि प्रतिनिधि-स्वरूपात्मक शासन के लिए दल-पद्धति आवश्यक आधार है। दल-पद्धति के बिना हम न तो क़ानूनो का सुसम्बद्ध कार्यक्रम प्राप्त कर सकेंगे, और न उनके लिए व्यवस्थापिका परिषद् मे कानून बन सकने

योग्य आवश्यक मात्रा मे सङ्गठित समर्थन ही पा सकेंगे। उन दलों मे चाहे कितने ही दोप हों वे कार्यसाधनार्थक नागरिक-माँगो के कारण उत्पन्न होनेवाली जीवन-व्यवहार की एक रीति के व्यक्तरूप है।

दलों का विभाजन, वास्तव मे, राज्य-सस्था के सदस्यों मे जिस प्रकार मत विभाजित रहता है, ठीक उसीके अनुरूप नहीं होता। इस अनुरूप विभाजन के अभाव के कारण दो सिद्धान्त प्राय. स्थापित किये जाते है, जोकि अपने दावो मे दोनो ही असन्तोप-जनक है। जहाॅ किसी राज्य-संस्था के जीवन पर किसी दल-शासन का प्रभुत्व होता है, वहाँ मत को विभाजित करने की रीति स्पष्टतया अत्यन्त कृत्रिम है। उदाहरणत., इंग्लैण्ड मे यदि अनुदार और मजदूर दो ही दल हो तो अनेक नागरिको को दोनो मे से एक को चुनना पड़ेगा, चाहे दोनो के साथ उनकी पूर्ण और सजीव सहानु-भूति न हो। इसलिए कोई-कोई यह सूचित करते है कि वहु-दल-पद्धति जो वहुधा समुदाय-पद्धति कहलाती है लोकमत के विभाजन से अधिक अनुरूपता रखती है।

परन्तु जैसा कि फ्रांस और जर्मनी मे हुआ, समुदाय-पद्धति के अनुभव से यह प्रतीत होता है कि उसके साथ दो भयङ्कर दोप है। सबसे वडा दोप तो यह है कि जहाॅ यह पद्धति कार्य करती है वहाँ व्यवस्थापिका को नियन्त्रण मे रखने के लिए समुदायो का ऐसा मेल वनाना पड़ता है जिससे व्यवस्थापिका पर प्रभुत्व डालने योग्य वहुमत वन जाय। इसका परिणाम यह होता है कि कपट-चातुर्य उत्तरदायित्व का स्थान ग्रहण कर लेता है और नीति मे जो

सुसम्बद्धता और व्यापकता होनी चाहिए, जिससे नीति ठीक-ठीक जाँची जा सके, वह उसमे नही रह पाती। दूसरा दोप जो प्रधानतया फ्रास मे देखा जाता है, यह है कि समुदाय-पद्धति शक्ति को सिद्धान्तो पर नही बल्कि व्यक्तियो के हाथ मे इकट्ठा कर देती है। उदाहरणत फ्रांस मे सामान्य मत-दाता राज-तंत्रवादी और साम्यवादी के अन्तर को समझ सकता है, परन्तु इन दोनो प्रकारो के बीच मे ऐसे प्रकार के लोग बहुत संख्या मे है जिनका सूक्ष्म भेद ठीक-ठीक शब्दो मे कहना कठिन है। परिणाम यह होता है कि, जहाँ एक ओर ग्रेट-ब्रिटेन और सयुक्त-राष्ट्र (अमेरिका) मे मत-दाता जिस प्रकार के परिणाम को चाहता है उसको स्पष्टतया जानता है, और यह मान सकता है कि यदि उसके दल की जीत होगी तो उस परिणाम के अनुसार क़ानून बनेंगे, वहाँ दूसरी ओर, फ्रांस मे जबतक शासनाधिकार नरम और गरम दलो के उग्र लोगो के हाथ मे नहीं होता तबतक निर्वाचक-मण्डल की व्यक्त इच्छा और जिस प्रकार के शासन के नीचे उसे रहना पडेगा इन दोनो के बीच मे कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही होता। इसके अतिरिक्त, एक यह भी दोप है कि व्यवस्थापिका परिषद् में सरकार की हार सिद्धान्त के मतभेद पर उतनी निर्भर नहीं रहती जितनी कि भिन्न-भिन्न समुदायो के शासनाधिकार से अधिकतम लाभ उठाने के लिए अपने विशेष-विशेष प्रकार के मेल बनाने के झगडो पर रहती है।

दूसरी ओर, विभाजन की अनुरूपता के इस अभाव के कारण कुछ लोगो का आग्रह यह है कि व्यवस्थापिका परिषद् मे सदस्यों

की संख्या आनुपातिक प्रतिनिधित्व द्वारा निर्धारित की जानी चाहिए। वे कहते है कि व्यवस्थापिका परिषद् मे भिन्न-भिन्न दलो का वल उतना-उतना ही होना चाहिए जितना-जितना समर्थन उन्हे निर्वाचक-मण्डल से मिला है, यदि किसी अन्य प्रकार से चुनाव किया जायगा तो निर्वाचको की प्रकट इच्छा के विरुद्ध होगा, और परिणाम-स्वरूप जो क़ानून बनेगे वह लोकमत के निषेध-स्वरूप होगे। ग्रेट-ब्रिटेन मे जिस प्रकार की पद्धति है वह तो राज्य-संस्था के प्रदेश को मोटे तौर पर बराबर-बराबर अनेक निर्वाचक-अवयवो मे विभक्त कर देती है, और जिस उम्मेदवार को सबसे अधिक मत मिले हो उसको व्यवस्थापिका का स्थान प्रदान करती है। इस पद्धति का दुष्परिणाम यह हो सकता है कि किसी दल को सारे देश मे कुल जितना समर्थन मिले, उसकी अपेक्षा उसे बहुत अधिक स्थान मिल जॉय, और इसके अतिरिक्त यह भी हानि हो सकती है कि लोक-मत की कई बड़ी-बडी श्रेणियाँ प्रतिनिधित्व से अपने बल की अपेक्षा बिलकुल वञ्चित रह जाँय। उदाहरणत सन् १९२४ के सार्वजनिक निर्वाचन मे हाउस आव् कामन्स मे अनुदार दल का बडा बहुमत था, परन्तु समस्त मतो की अपेक्षा वह काफी अल्प-मत में था, परन्तु जिस उदार दल ने अपने पक्ष मे लाखों मत प्राप्त किये थे, उसको अपने समस्त वास्तविक समर्थको की संख्या की अपेक्षा केवल परिहास-जनक अल्प अनुपात में थोडे से स्थान मिले थे।

स्पष्टत', इस समालोचना मे वास्तविक तथ्य है। परन्तु हमे आनुपातिक प्रतिनिधित्व के केवल सैद्धान्तिक गुणो पर ही विचार नही करना चाहिए, प्रत्युत उसके वास्तविक कार्य पर भी विचार करना चाहिए। जहाँ-जहाँ यह काम मे आ रहा है वहाँ-वहाँ इसके दो मुख्य परिणाम हुए है जैसे (१) इससे सदा दल-तन्त्रो की शक्ति बढती है, (२) यह व्यवस्थापिका परिषद् मे दलो के बल को इस प्रकार समतोलित कर देता है कि प्राय' अल्पमत-पक्ष की सरकार बन जाती है, जिसके कारण सुसम्बद्ध कानून-निर्माण असम्भव होजाता है, अथवा सम्मिलित सरकार बनानी पड़ती है, जिसके कार्यों में समुदाय-पद्धति की सारी बुराइयॉ रहती हैं। इसके अतिरिक्त वास्तविक व्यवहार मे एक-सदस्य पद्धति के कारण कोई भी सरकार अनुचित रूप से अपना बहुमत (जिसका सम्मान न करना कठिन है) बनाकर जो कार्य कर सकती है, उसमे मर्यादा का बन्धन लग जाता है। उदाहरणत १९२४ मे इङ्गलैण्ड मे अनुदार सरकार के पास इतनी शक्ति थी कि यदि वह चाहती तो हाउस आव् लार्ड्स का सुधार कर सकती थी, तथा सरक्षणात्मक कर लगा सकती थी, और इन दोनो कार्यों को उसके समर्थक हृदय से चाहते थे। परन्तु वास्तव मे वह दोनो कार्य न कर सकी, क्योकि उसका बहुमत जिस प्रकार का था उसके कारण उसमे इन कार्यों को करने के लिए यथेष्ट नैतिक बल नही था, और उसे आगामी सार्वजनिक निर्वाचन मे इस प्रयत्न के परिणाम का भी भय था। इसके अतिरिक्त किसी एक प्रकार के मत की शक्ति केवल सार्व-

जनिक निर्वाचन मे मत-संख्या पा सकने की योग्यता से ही नही नापी जा सकती। क़ानूनी-निर्माण के वास्तविक क्रम मे उसकी सत्ता का निर्माण करनेवाले अवयव, जितने वर्तमान पद्धति के समालोचक मानने को तैयार है उनकी अपेक्षा अधिक बहुसंख्यक भी और अधिक सूक्ष्म भी हैं। यह कहना उचित भी होगा कि जो सरकार अपनी वास्तविक सत्ता की अभीष्ट सीमाओ से आगे बढ जायगी, अर्थात अपने बहुमत का अनुचित रूप से प्रयोग करेगी, उसे निश्चय ही न केवल आगामी सार्वजनिक निर्वाचन मे दण्ड भुगतना पडेगा, प्रत्युत, उसके स्थान पर जो नई सरकार आयगी वह उसके बनाये क़ानूनो को भी संशोधित कर देगी।

यदि व्यवस्थापिका परिषद् की सदस्यता के अधिकार पर कोई बन्धन लगाये जायॅ तो वह ऐसे होने चाहिएँ जो समस्त नागरिक-समूह पर समानता से लागू हो, और सामान्यत जहॉतक हो सके कम होने चाहिऍ। परन्तु योग्यता के जो लक्षण साधारणतया लगाये जाते है उनसे अधिक कठिन लक्षणो की मॉंग करना हमारे लिये असङ्गत न होगा। आजकल यदि आयु-सम्बन्धी लक्षण पूरा होजाता है तो व्यावहारिक रूप से किसी अन्य गुण की आवश्यकता नहीं होती। व्यवहार में इसका परिणाम यह होता है कि जिनके पास सम्पत्ति या (उच्च-कुल का) जन्म होता है या ग्रेट-ब्रिटेन-खनिक-सङ्घ के समान किसी शक्तिशाली स्वेच्छा-निर्मित सङ्घ से सम्बन्ध होता है, या क़ानून जैसा कोई पेशा होता है जो व्यवस्थापिका परिषद् की सदस्यता के विशेष अनुकूल पडता है, उन्हे ऐसा विशेष

अवसर मिल जाता है जो अन्य नागरिको को प्राप्त नही होता। मेरे विचारानुसार यह कहना युक्तियुक्त ही होगा कि जो व्यक्ति व्यवस्थापिका परिषद् की सदस्यता चाहे उसे सिद्ध करना चाहिए कि व्यवस्थापिका परिषद् जिस प्रकार का कार्य करती है उसके विषय मे उसे अनुभव है। उदाहरणत., यदि हम यह माँग करे कि निर्वाचन से पहले प्रत्येक उम्मेदवार के लिए म्युनिसिपल कौन्सिल या ऐसी ही किसी संस्था मे निश्चित वर्षों तक काम कर चुकना आवश्यक है, तो असम्भव नही कि सदस्य अधिक उत्तम कोटि के प्राप्त होसके। यह भी आवश्यक है कि सदस्यो को वेतन मिलना चाहिए। अन्यथा निर्धन मनुष्य तो चुने जाने की आशा ही नहीं कर सकते, और धनिको के सिवाय कोई भी व्यक्ति व्यवस्थापन-संबन्धी कार्यके लिए पूरा समय न दे सकेगा।

व्यवस्थापिका परिषद् सामान्यत एक-खण्डात्मक होनी चाहिए। परीक्षण से ज्ञात होगा कि जहाँ किसी एक घटनात्मक राज्य-संस्था मे द्वि-खण्डात्मक पद्धति विद्यमान है, वहाँ उसकी प्रवृत्ति, इङ्गलैण्ड के हाउस आव् लार्ड्स की भाँति, राज्य के किसी विशेष स्वार्थ के हितसाधन की ओर होती है। वास्तव मे सिद्धान्त-दृष्टया, दूसरे खण्ड के पक्ष मे युक्तियाँ दिखाई ही नहीं देतीं, जैसा कि बेन्हम ने कहा था, यदि दूसरे खण्ड की सम्मति प्रथम खण्ड के अनुसार है तो वह अनावश्यक है, यदि उसकी सम्मति विरुद्ध है तो वह अनिष्ट-कारी है। विशेष स्वार्थों के प्रभुत्व की बात को दूर रखते हुए, दूसरे खण्ड के पक्ष मे सामान्यत दो

युक्तियाँ दी जाती है। कहा जाता है कि उसकी आवश्यकता प्रथम खण्ड के जल्दबाजी मे और पूर्णरीति मे विचार न किये हुए क़ानूनों का बनाना रोकने के लिए है, और यह भी आवश्यक है कि एक ऐसी संस्था हो जो सरकार के प्रस्तावित क़ानूनो पर विशेषज्ञता पूर्ण आवश्यक पुनर्विचार कर सके। पर, इन युक्तियो मे तो दूसरे खण्ड (क) की रचना और (ख) उसके कर्तृत्व तथा अधिकार क्षेत्र के प्रश्न उत्पन्न होते है। प्रसङ्गवश यह भी कहा जा सकता है कि बहु-घटनात्मक (सङ्घीय) राज्य-संस्था मे भी, द्वि-खण्डात्मक पद्धति का परिणाम यही हुआ है कि दोनो खण्डो मे से एक खण्ड, सयुक्तराष्ट्र (अमेरिका) की सीनेट की भाँति, आवश्यक-रूपेण प्रभुत्व प्राप्त कर लेता है।

हम पहले रचना पर विचार करेगे। हाउस आव् लार्ड्स, या केनेडा की सीनेट की भाँति, विशुद्ध नामजद किये हुए दूसरे खण्ड को, कम-से-कम प्रजातन्त्रीय राज्य-सस्था मे तो, इतनी शक्ति नहीं हो सकती कि वह निर्वाचित परिषद् की इच्छा का विरोध करे, और उसकी सदस्यता, जबकि उसमे कोई स्थान रिक्त होगे, उन लोगो की इच्छा पर निर्भर होगी जिनके हाथ मे उस समय नामजद करने का अधिकार होगा। निर्वाचित द्वितीय खण्ड की भी स्थिति इससे कुछ अच्छी न होगी। यदि उसका निर्वाचन प्रथम खण्ड के निर्वाचन के ही समय और उसके ही समान मताधिकार पर होगा, तो वह केवल उसकी रचना का ही प्रतिबिम्ब होगा; यदि भिन्न समय और विशेषत. यदि भिन्न मताधिकार पर होगा, तो उससे सम्भ

वत उस समय की सरकार के कार्यों मे विघ्न पड़ेगा, और जैसा कि फ्रांस की सीनेट मे होता है, वह मताधिकार जितना अधिक परिमित होगा, उस परिमित मताधिकार से महत्व पानेवाले स्वार्थों को उतना ही अधिक संरक्षण प्रदान करेगा। कोई-कोई कहते है कि प्रादेशिक आधार पर नामजदगी या निर्वाचन दोनो बाते सन्तोषजनक नही है, और दूसरा खण्ड विशेष पेशेवालो के स्वार्थों के आधार पर बनना चाहिए। परन्तु विशेष पेशेवालो के स्वार्थों को उचित अनुपात मे महत्व देने की कोई रीति अभीतक मालूम नही हुई है, और उदाहरणत, यदि इञ्जीनियरिंग पेशेवाले लोग इस प्रकार की संस्था मे अपना एक सदस्य भेजें तो उसकी इञ्जीनियरिग सम्बन्धी सम्मतियो का इस संस्था को अधिकांश जिस प्रकार के निर्णय करने पडते हैं उनसे कुछ भी सम्बन्ध न होगा। संक्षेपत, सुसम्बद्धता प्राप्त करने के लिए पेशेवाले द्वितीय खण्ड को दल की भित्ति पर अपने सदस्य चुनने पडेगे और इस मे तो पेशेवालो के प्रतिनिधित्व से जो प्रयोजन सिद्ध होना अभीष्ट था वही नष्ट हो जायगा।

कर्तृत्व और अधिकार-क्षेत्र सम्बन्धी समस्याये भी सरल नही है। यह तर्क गभीर नही माना जा सकता कि एक देर लगाने की शक्ति रखनेवाला खण्ड भी होना चाहिए। क्योकि प्रथमत तो कोई भी सरकार बडे परिणाम मे क़ानून बनाने का प्रयत्न तबतक नही करती जबतक कि उसके तत्व पर ख़ूब बहस न होगई हो, और दूसरी बात यह है कि यदि देरी काफी होती है तो प्रारभिक

युक्तियाँ दी जाती है। कहा जाता है कि उसकी आवश्यकता प्रथम खण्ड के जल्दबाजी मे और पूर्णरीति मे विचार न किये हुए क़ानूनों का बनाना रोकने के लिए है; और यह भी आवश्यक है कि एक ऐसी संस्था हो जो सरकार के प्रस्तावित क़ानूनो पर विशेषज्ञता-पूर्ण आवश्यक पुनर्विचार कर सके। पर, इन युक्तियो मे तो दूसरे खण्ड (क) की रचना और (ख) उसके कर्तृत्व तथा अधिकार-क्षेत्र के प्रश्न उत्पन्न होते है। प्रसङ्गवश यह भी कहा जा सकता है कि बहु-घटनात्मक (सङ्घीय) राज्य-सस्था मे भी, द्वि-खण्डात्मक पद्धति का परिणाम यही हुआ है कि दोनो खण्डो मे से एक खण्ड, सयुक्तराष्ट्र (अमेरिका) की सीनेट की भाँति, आवश्यक-रूपेण प्रभुत्व प्राप्त कर लेता है।

हम पहले रचना पर विचार करेंगे। हाउस आव् लार्ड्स, या केनेडा की सीनेट की भाँति, विशुद्ध नामजद किये हुए दूसरे खण्ड को, कम-से-कम प्रजातन्त्रीय राज्य-सस्था मे तो, इतनी शक्ति नहीं हो सकती कि वह निर्वाचित परिषद् की इच्छा का विरोध करे, और उसकी सदस्यता, जबकि उसमे कोई स्थान रिक्त होगे, उन लोगो की इच्छा पर निर्भर होगी जिनके हाथ मे उस समय नामजद करने का अधिकार होगा। निर्वाचित द्वितीय खण्ड की भी स्थिति इससे कुछ अच्छी न होगी। यदि उसका निर्वाचन प्रथम खण्ड के निर्वाचन के ही समय और उसके ही समान मताधिकार पर होगा, तो वह केवल उसकी रचना का ही प्रतिबिम्ब होगा, यदि भिन्न समय और विशेषत. यदि भिन्न मताधिकार पर होगा, तो उससे सम्भ

वत उस समय की सरकार के कार्यो मे विघ्न पड़ेगा, और जैसा कि फ्रांस की सीनेट मे होता है, वह मताधिकार जितना अधिक परिमित होगा, उस परिमित मताधिकार से महत्व पानेवाले स्वार्थों को उतना ही अधिक संरक्षण प्रदान करेगा। कोई-कोई कहते है कि प्रादेशिक आधार पर नामजदगी या निर्वाचन दोनो बाते सन्तोषजनक नही है, और दूसरा खण्ड विशेष पेशेवालो के स्वार्थों के आधार पर बनना चाहिए। परन्तु विशेष पेशेवालो के स्वार्थो को उचित अनुपात मे महत्व देने की कोई रीति अभीतक मालूम नही हुई है, और उदाहरणत, यदि इञ्जीनियरिंग पेशेवाले लोग इस प्रकार की संस्था मे अपना एक सदस्य भेजें तो उसकी इञ्जीनियरिंग सम्बन्धी सम्मतियो का इस संस्था को अधिकांश जिस प्रकार के निर्णय करने पडते हैं उनसे कुछ भी सम्बन्ध न होगा। संक्षेपत, सुसम्बद्धता प्राप्त करने के लिए पेशेवाले द्वितीय खण्ड को दल की भित्ति पर अपने सदस्य चुनने पड़ेगे और इस से तो पेशेवालो के प्रतिनिधित्व से जो प्रयोजन सिद्ध होना अभीष्ट था वही नष्ट हो जायगा।

कर्तृत्व और अधिकार-क्षेत्र सम्बन्धी समस्यायें भी सरल नहीं हैं। यह तर्क गभीर नही माना जा सकता कि एक देर लगाने की शक्ति रखनेवाला खण्ड भी होना चाहिए। क्योकि प्रथमत. तो कोई भी सरकार बडे परिणाम में क़ानून बनाने का प्रयत्न तबतक नहीं करती जबतक कि उसके तत्व पर .खूब बहस न होगई हो, और दूसरी बात यह है कि यदि देरी काफी होती है तो प्रारंभिक

खण्ड का कार्य अधिकांश व्यर्थ चला जाता है। जिसको स्मरण होगा कि ग्रेट-ब्रिटेन मे मताधिकार संबन्धी सुधार, आयर्लैण्ड के स्वशासन, या राष्ट्रीय शिक्षा जैसे बडे-बडे क़ानूनो के बनाने में कितनी देर लगी है, उसे तो क़ानून-निर्माण मे देर लगाने की अपेक्षा जल्दी करनेवाली किसी पद्धति की मॉग करने का ही प्रलोभन होगा। इस मत मे कोई तत्व नहीं है कि विशेषज्ञतापूर्वक पुनर्विचार का कार्य करने के लिए एक द्वितीय खण्ड की आवश्यकता है। यह कार्य, स्वरूपत, मसौदा तैयार करने का कार्य है, जिसके लिए एक खण्ड की नहीं प्रत्युत इस कला के थोडे से विशेषज्ञो की सेवा की आवश्यकता है। अधिकार-क्षेत्र की समस्या पर केवल इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि द्वितीय खण्ड को पहले खण्ड की सत्ता तबतक नहीं मिल सकती जबतक उसका निर्वाचन भी प्रथम खण्ड के ही समान न हुआ हो, और यदि उसे कम सत्ता दी जाय तो तुरन्त, एक तो रचना की समस्या उत्पन्न होगी, जिस का कि सन्तोषजनक हल होना, मै पहले बता ही चुका हूँ, कठिन है, और दूसरी समस्या उत्पन्न होगी प्रथम खण्ड के अपनी इच्छा शक्ति को प्रधान बनाने के अधिकार की।

बहुघटकात्मक (सङ्घीय) राज्य-संस्था मे द्वितीय खण्ड की स्थिति के विषय मे भी दो शब्द कहना आवश्यक है। द्वितीय खण्ड का होना दो कारणो से आवश्यक माना जाता है। (१) सङ्घ के अङ्गभूत घटको का प्रतिनिधित्व होना चाहिए, और (२) शासन-विधान द्वारा किये हुए अधिकारो के विभाजन को

आक्रमण से बचाना चाहिए। परन्तु प्रथम युक्ति निश्चय ही अनावश्यक है, क्योंकि अङ्गभूत घटक अपनी-अपनी सरकारो द्वारा, शासन-विधान द्वारा सिपुर्द किये हुए मामलो मे, पहले ही नियन्त्रण रखते है; और अधिकारो के विभाजन की आवश्यक रक्षा तो दूसरे खण्ड के बिना भी ऐसा नियम बनाने से हो सकती है कि समस्त घटको की, जिनका अधिकार-क्षेत्र बदलना हो, बडे अनुपात मे स्वीकृति होने पर ही शासन-विधान का संशोधन हो सके। अमेरिका की सीनेट के जो इस प्रकार की एक श्रेष्ठ संस्था है, अनुभव पर से मेरे विचारानुसार गम्भीरता-पूर्वक यह नहीं कहा जासका कि उसके कारण अति-केन्द्रीकरण से कुछ महत्वपूर्ण संरक्षण मिला हो, और आस्ट्रेलिया का अनुभव इस पद्धति मे यह खतरा बताता है कि यह जहाँ वास्तव मे समानता नहीं है वहाँ कृत्रिम समानता पर बल देकर उचित समय पर उचित परिवर्तन करना रोकती है।

मैं यहाँ व्यवस्थापन-संबन्धी संगठन के ब्योरे मे नही जा सकता। मैं केवल कुछ ऐसे सामान्य सिद्धान्तो को ही बता सकता हूँ जो अनुभव से निश्चित रूप से स्थिर हुए प्रतीत होते है। ब्रिटेन की प्रसिद्ध पद्धति, जिसमे कि राजनैतिक कार्यकारिणी, व्यवस्थापिका परिषद् की सबसे प्रभावशाली दल की समिति के रूप मे, व्यवस्थापिका का समवायी भाग है और उसके कार्य को सञ्चालित करता है, अमेरिकन पद्धति (जो इतिहास का आकस्मिक परिणाम है) से श्रेष्ठ है, जहाँकि व्यवस्थापिका और कार्यकारिणी पृथक्-

पृथक् है। ऐसे सम्मिश्रण से सुसम्बद्ध योजना बनाना ही नहीं, परन्तु स्पष्ट उत्तरदायित्व लेना भी सम्भव होजाता है, और इसके कारण व्यवस्थापिका कार्यकारी उत्तरदायित्व के स्थानों के लिए योग्य मनुष्य चुनने का मुख्य साधन बनाई जा सकती है, जोकि उचित भी है। दूसरी बात यह है कि व्यवस्थापन सम्बन्धी कार्य मे, सिद्धान्त की बहस और ब्योरे की बहस के बीच भेद करना आवश्यक है। सिद्धान्त पर बहस करना समष्टिरूप से व्यवस्थापिका का काम है; ब्योरे पर बहस करने का काम उसके सदस्यो की छोटी-छोटी कमेटियो के सिपुर्द करना ही सबसे अच्छा है, पर वह ब्रिटेन के हाउस आव् कामन्स के ढङ्ग से नही, परन्तु इङ्गलैण्ड की लन्दन काउण्टी कौंसिल जैसी गौण परिषदो द्वारा विकसित किये हुए ढङ्ग से होना चाहिए। इसका अभिप्राय यह भी है कि व्यवस्थापिका परिषद् और शासन-सञ्चालन-क्रम के बीच घनिष्ट सम्बन्ध हो। इसके लिए राज्य-संस्था के प्रत्येक विभाग के साथ-साथ व्यवस्थापिका परिषद् के सदस्यो की एक-एक परामर्श-दायिनी समिति होनी चाहिए, जिसको यह अधिकार हो कि उससे व्यवस्थापन-संबन्धी योजनाओ मे सलाह ली जावे, वह सिपुर्द किये हुए व्यवस्थापन-कार्य की सफलता या असफलता पर रिपोर्ट करे, और विभाग की जिन समस्याओ पर जांच होना आवश्यक हो उनकी जांच करे। अपने विभाग की नीति का उत्तरदायित्व मन्त्री पर ही रखना आवश्यक है, परन्तु अनुभव ने यह स्पष्ट कर दिया है कि उसके कार्य और व्यवस्थापिका के कार्य के बीच अधिक घनिष्ट

सम्बन्ध होना जरूरी है। अन्यथा, व्यवस्थापिका परिषद्, सिवाय कभी-कभी उन अवसरो के जब वह विद्रोह कर दे, सामान्यत कार्यकारिणी की आज्ञाओ को क़ानून के रूप मे परिणत करने का एक साधन-मात्र बन जाती है।

मैंने बताया है कि व्यवस्थापिका का जीवनकाल लगभग पॉच वर्ष होना 'उचित है। परन्तु, संयुक्तराष्ट्र (अमेरिका) की भॉति, यह वांछनीय नही है कि यह निश्चित काल ही हो। ऐसे अवसर उत्पन्न होजाते है जब लोगो की राय लेना वाछनीय होजाता है, उदाहरणत, सम्भव है कि कभी कोई नवीन और अत्यन्त महत्वपूर्ण विचार सामने आजाय। इस प्रयोजन के लिए, और जब सरकार की हार होजाय और वह विश्वास करती हो कि व्यवस्थापिका का सम्पर्क लोकमत से छूट गया है, तब उस परिषद् को पुनर्निवाचन के लिए भंग करने की शक्ति का रहना आवश्यक है। यह शक्ति किसके हाथ में रहनी चाहिए? मेरे विचारानुसार इस शक्ति का मन्त्रि-मण्डल के सिवाय अन्यत्र रहना उपयोगी न होगा। मन्त्रि-मण्डल ही कानून-निर्माण की आवश्यकरूपेण प्रेरक शक्ति है, उस की नीतियो पर ही मुख्यतया वाद-विवाद हुआ करता है। परिषद् भङ्ग करने की शक्ति यदि राज्य-संस्था के नैयमिक प्रधान पुरुष के हाथ मे रक्खी जाय तो उसकी निष्पक्षता-संबन्धी बड़ी-बडी समस्यायें उत्पन्न हो जायँगी; और यह आशा नहीं की जा सकती कि कोई भी व्यवस्थापिका अपने ही भङ्ग के विषय मे बुद्धिमत्ता-पूर्वक मत देगी। इस शक्ति का दुरुपयोग होना भी सम्भव नहीं

है। क्योंकि इसका अबुद्धिमत्ता-पूर्ण उपयोग होने से न केवल निर्वाचक-मण्डल की असहमति ही प्राप्त होगी, किन्तु बुद्धिमत्ता-पूर्ण उपयोग न कर सकनेवाले अन्ततः अपने ही दल के समर्थकों द्वारा इस अधिकार से निश्चय ही वंचित कर दिये जायँगे। अचानक परिषद्-भग करने की शक्ति का यह भी एक लाभ है कि इस के द्वारा कार्यकारिणी अपने समर्थकों को (और विरोधियों को) सचेतन रख सकती है; और इसके आकस्मिक गुण के कारण व्यवस्थापिका की कार्यवाही मे निर्वाचक-मण्डल की निरन्तर रुचि रहती है। इस दृष्टिकोण से यह जान लेना महत्वपूर्ण है कि व्यवस्थापिका सर्वोत्तम काम प्राय. तभी करती है जब सरकार के पक्ष का बहुमत इतना अधिक हो कि वह व्यापक कार्यक्रम पूरा कर सके, परन्तु इतना अधिक भी न हो कि उसको अत्यधिक सत्ता मिल जाय। राजनीति मे जनता की रुचि सबसे अधिक तभी होती है जब राज्य-संस्था की सरकार सम्भवनीय हार के वातावरण मे रहती है।

मै यह पहले ही बता चुका हूँ कि आधुनिक बडे परिमाण की राज्य-संस्था यदि अपना कार्य सजीव ढङ्ग मे करना चाहे तो उसे बड़े परिमाण मे निष्केन्द्रीकरण करने की आवश्यकता है। यह तो स्पष्ट है कि व्यवस्थापिका ही एक ऐसा नैयमिक स्थान रहना चाहिए जहाँ राज्य-संस्था के क़ानूनी विधि-निदेशो का स्वरूप-निर्णय हो, परन्तु, साथ ही वह तबतक अच्छी तरह नही चल सकती जब तक कि उसकी शक्तियो का काफी भाग अन्य अधीन सस्थाओं

को समर्पित न कर दिया जाय। यह कार्य सर्वोत्तम-रीत्या तीन प्रकार से हो सकता है : (१) वह सब मामले जिनका स्वरूप भौगोलिक है, जैसे, स्थानीय माल का लाना-लेजाना, स्थानीय निर्वाचित परिषदों के सिपुर्द कर देना चाहिए जो उपयुक्त क्षेत्र का नियन्त्रण करे। इनके हाथ में परिमित शक्तियाँ नहीं, बल्कि यह अधिकार होना चाहिए कि ये उन सब मामलों में कार्यवाही कर सके जो स्पष्टतया उनके अधिकार-क्षेत्र से बाहर निर्धारित नहीं कर दिये गए है। इन्हे समान प्रयोजनों के लिए सम्मिलित होजाने का अधिकार भी होना चाहिए। केन्द्रीय सरकार को शिक्षा और सार्वजनिक स्वास्थ्य, जैसे कुछ मामलों में द्रव्य-सहायताओं और निरीक्षणाधिकार के द्वारा उनसे अपना सम्बन्ध बनाये रखना चाहिए। (२) उद्योग-धंधों के लिए केन्द्रीय व्यवस्थापिका द्वारा निर्धारित कुछ सामान्य प्रकार की न्यूनतम शर्तों की सीमा के अन्दर, छोटी व्यवस्थापिकाये बना देनी चाहिएँ जिनको नियम बनाने की शक्ति भी दी जाय जो, उचित संरक्षणों के साथ, आवश्यक-रूप से काम में लाई जा सके। तात्पर्य यह है कि हमको उद्योग-धंधों के लिए भी उचित परिवर्तनों के साथ उसी प्रकार के स्वशासन को विकसित करना चाहिए जैसा कि क़ानून और डाक्टरी पेशों के लिए विद्यमान है। (३) संयुक्त-राष्ट्र (अमेरिका) के अन्तर-राज्य-वाणिज्य-कमीशनतथा ग्रेट-ब्रिटेन के विद्युत-कमीशन जैसी छोटी संस्थाओं के हाथ में, उन औद्योगिक तथा वैज्ञानिक स्वरूप के मामलों में नियम बनाने की व्यापक शक्तियाँ दे देनी चाहिएँ (क)

जिन पर व्यवस्थापिका सुगमता से वाद-विवाद नहीं कर सकती और (ख) जिनका परिणाम किसी स्पष्ट और निश्चित निर्वाचन-क्षेत्र के अन्दर सीमित नहीं रहता। तीनो अवस्थाओं मे, स्वभावत ही अन्तिम निरीक्षण करने की शक्ति तो केन्द्रीय व्यवस्थापिका के अन्तर्गत ही रहनी चाहिए, परन्तु साधारण नियम यह है कि वह जितनी कम और नैयमिक रक्खी जा सकेगी, शासन-सञ्चालन भी उतना ही उत्तम हो सकेगा।

३

राज्य-संस्था की कार्यकारिणी के दो पहलू है—एक राजनीति-सम्बन्धी दूसरा राज्य-विभाग सम्बन्धी। वह, एक ओर तो, व्यवस्थापिका के सामने स्वीकृति के लिए एक नीति उपस्थित करनेवाले और उसके स्वीकृत होजाने के बाद उसको कार्यान्वित करने का उत्तरदायित्व रखनेवाले कुछ राजनीतिज्ञो का छोटा-सा समूह है, और दूसरी ओर, राजनितज्ञो के किये हुए निर्णयो को कार्यान्वित करनेवाले पदाधिकारियो का बडा भारी समूह है। स्पष्टत इन दोनो वर्गों मे शक्ति की अपेक्षा व्यक्ति सम्बन्धी भिन्नता अधिक है, क्योकि दीर्घकालीन अनुभव रखनेवाला एक महत्वशाली पदाधिकारी यद्यपि नियमानुसार अपने राजनैतिक मुखिया का अधीनस्थ होता है, तथापि राजनैतिक मुखिया की दृष्टि मे उसका बड़ा महत्व रहेगा और निर्णयो के करने मे उसका बडा प्रभाव पडेगा।

राज्य-संस्था के राजनैतिक मुखिया लोग ही साधारणतः मन्त्रि-मण्डल कहलाते हैं। यह उचित है और अच्छे शासन के लिए

वास्तव मे आवश्यक भी है कि वे व्यवस्थापिका परिषद् के सदस्य हो। वे उस स्थान से ही शक्ति प्राप्त करते है और उस स्थान पर ही उस शक्ति के प्रयोग के लिए उत्तरदायी होते है। इसका अर्थ यह है कि, सामान्यत', मन्त्रि-मण्डल एक ही दल का बना हुआ होना चाहिए, क्योंकि केवल इसीसे दृष्टिकोण की वह एकता हो सकती है, जिससे नीति की सुसम्बद्धता रहना सम्भव है। मन्त्रि-मण्डल छोटा होना चाहिए, अनुभव यह बताता है कि यदि उसकी सख्या लगभग १२ से अधिक होजाती है तो उसके अन्दर आन्तरिक सम्बद्धता नही रह पाती। उसके अधिकांश सदस्यो पर शासन, वैदेशिक नीति, अर्थनीति, और व्यापार-व्यवसाय के किसी-न-किसी बडे कर्तृत्व का भार होना चाहिए। परन्तु उसमे सबका सञ्चालन करनेवाला और सबको संयोजित कनेवाला एक मस्तिष्क भी होना चाहिए जिस पर किसी विशेप राज्य-विभाग का विशेप भार न हो: और कम-से-कम एक और भी ऐसा सदस्य होना चाहिए (जिसका नाम सामान्यत' विभाग-रहित मंत्री होता है) जिसकी सेवाएँ विशेप कार्यभार आ पड़ने पर काम मे आसके।

मन्त्रि-मण्डल का प्रधान, या तो संयुक्तराष्ट्र (अमेरिका) की भाँति राज्य-संस्था का भी नैयमिक प्रधान-पुरुप हो सकता है, या इङ्गलैण्ड और फ्रान्स की भाँति उसका पद भिन्न हो सकता है, और राज्य-संस्था का प्रधान-पुरुप मुख्यत. शिष्टाचारार्थक व्यक्ति हो सकता है जिसका राजनैतिक कर्तृत्व शासन सञ्चालन जारी रखना ही है। दोनो पद्धतियो मे से किसी मे भी एक दूसरे से मौलिक

श्रेष्ठता नहीं है. परन्तु इङ्गलैण्ड व फ्रान्स का तरीक़ा अधिक सुविधा-जनक है. क्योंकि इसमें प्रधानमन्त्री के रूप में मन्त्रि-मण्डल का प्रधान व्यवस्थापिका परिषद् में सरलता से भाग ले सकता है। वह सामान्यतया उस दल का नेता होता है जिसने उस परिषद् में प्राधान्य प्राप्त किया है। उसके सहकारियों का चुनाव किस प्रकार होना चाहिए ? अधिकांश राज्य-संस्थाओं में वह स्वयं अपने सह-कारियों को उन लोगों में से चुनता है जो उसके विचारानुसार सम्मिलित-रूप से शासन-सञ्चालन के सर्वोत्तम साधन हो सकेंगे. परन्तु आस्ट्रेलिया में मजदूर-दल अपने मन्त्रि-मण्डल को अपने दल के अधिवेशन में चुनता है।

मेरे विचारानुसार, इसमें अधिक संदेह का अवकाश नहीं है कि प्रधान-मन्त्री को अपने सहकारियों को चुनने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। किसी सरकारी विभाग का सञ्चालन करने के लिए जिन गुणों की आवश्यकता होती है, वह ऐसे नहीं होते कि उनका निर्धा-रण निर्वाचन द्वारा होसके। इसमें सहयोगी-भाव और समुच्चय-कार्य (team-work) की समस्याएँ उठती हैं, जिसका अर्थ है कि विवेचना-पूर्वक चुनने की पद्धति की आवश्यकता है, जिसके लिए बहुमत द्वारा निर्वाचन का क्रम अत्यन्त अपूर्ण साधन है। यदि मान भी लिया जाय कि प्रधानमन्त्री न केवल गलतियाँ ही करेगा बल्कि व्यक्तियों को अनुचित महत्व भी प्रदान कर देगा तो भी वह सम्भ-वत: उतनी गलतियाँ नहीं कर सकता जितनी कि आस्ट्रेलिया का मजदूर-दल या अमेरिका की जनता सभापति के चुनाव में करती

है, आस्ट्रेलिया और अमेरिका की यह पद्धति लॉटरी से बहुत अधिक समानता रखती है, और बेगहॉट के कथनानुसार लॉटरी में सफलता होजाना उस पद्धति के लिए साधक युक्ति नहीं है। और प्रधानमन्त्री जिन-जिन हेतुओं का ध्यान रखता हुआ सहकारी चुनता है, वे स्वयं ही सामान्यत यथेष्ट संरक्षण हैं। प्रत्येक दल में ऐसे मनुष्य होते हैं जो उससे कम प्रतिष्ठा और स्थिति के नहीं होते। उसे उनको चुनना पडता है और उनका समर्थन तभी मिल सकता है जब वह अन्य नियोजनाएं भी बुद्धिमत्ता-पूर्वक करे। यह मानते हुए कि मन्त्रि-मण्डल के स्थानों के लिए चुने हुए लोग व्यवस्थापिका परिषद् की कठिन उम्मेदवारी में से गुजरते ही हैं, उनमे से अधिकांश जिन स्थानों को प्राप्त कर लेते हैं वे उनपर नियोजित होने योग्य ही होते हैं।

कार्यकारिणी शासन के अ-राजनैतिक पहलू के कारण दूसरे ही प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। मोटे तौर पर, उससे तीन प्रकार के प्रश्न खडे होते हैं, (१) उसकी रचना और सङ्गठन किस प्रकार होना चाहिए ? (२) उसका कर्तृत्व क्या होता है ? (३) वह जिस जनता की मूलत सेवा करता है उससे उसके क्या-क्या सम्बन्ध होने चाहिएं ? स्पष्टत, इनमें से दूसरे प्रश्न पर हमारा जो उत्तर होगा उसीसे प्रथम और तृतीय प्रश्न उत्पन्न होंगे। राज्य-संस्था के पदाधिकारी लोग अपने राजनैतिक मुखिया की आज्ञाओं को कार्यान्वित करते हैं। मन्त्रियों का कर्तृत्व यह होता है कि वे ऐसी नीति का निर्माण करें जो अधिक-से-अधिक व्यापक सार्वजनिक

माँग को पूर्ण करें, और व्यवस्थापिका द्वारा उसके स्वीकृत होजाने पर उसको अधिक-से-अधिक परिणामकारी बनावें। यह भी स्पष्ट है कि आधुनिक राज्य-संस्था जिस बड़े परिमाण की है, उसमें वे इस कार्य पर सामान्य ध्यान से अधिक नहीं दे सकते। उन्हें सार्वजनिक माँग के परिज्ञान के लिए, उसको पूर्ण करने के शक्य मार्गों की सविस्तर सूचना के लिए और क़ानून को प्रतिदिन और ब्योरेवार कार्यान्वित करने के लिए अपने पदाधिकारियों पर निर्भर रहना पड़ता है। शासनाधिकारारूढ दल का स्वरूप कुछ भी हो, यह सब काम न्यूनतम सङ्घर्ष के साथ होने चाहिएँ।

इस उद्देश्य के लिए पदाधिकारियों का तटस्थ होना आवश्यक है, उनको प्रत्येक अधिकारारूढ दल की पूर्ण हार्दिक रूप से और कुशलता से समान सेवा करनी चाहिए। तटस्थ रहने के लिए, उन्हें कार्य-योग्यता के प्रतिबन्ध के साथ, इस बात का अभिवचन दिया जाना चाहिए कि उनकी सेवाएँ स्थायी रखी जायँगी, और यथाशक्य श्रेष्ठतम कार्य के प्रोत्साहन के लिए पदोन्नति की पद्धति होनी चाहिए, जिससे योग्य व्यक्तियों का पता लग सके और उन्हें योग्यतानुसार उत्तरदायित्व को कार्यान्वित करने का अवसर मिल सके। ऐसे गुणों को उपलब्ध करने के लिए, पदाधिकारियों की नियुक्ति का कार्य सदा सामयिक सरकारों से स्वतन्त्र एक कमीशन के हाथ में होनी चाहिए, उसपर सामायिक सरकार जितना कम दबाव डाल सके राज्य-संस्था के लिए उतना ही अच्छा होगा। साधारणत, कमीशन को पदाधिकारी चुनने का तरीक़ा ऐसा ग्रहण करना

चाहिए जिससे पक्षानुग्रह-भाव न्यूनतम होजाय, और मोटे तौर पर इस उद्देश्य-पूर्ति के लिए, विशेषज्ञता सम्बन्धी पदो के अतिरिक्त अन्य सब पदो के लिए प्रतियोगात्मक परीक्षाएँ सर्वोत्तम साधन है। एक बार जब उम्मेदवार सेवा मे प्रविष्ट कर लिया जावे, तो, यदि वह कार्ययोग्य और सद्वृत्त हो, उसे निश्चय रहना चाहिए कि उसका पद सेवा-निवृत्ति की वय तक क़ायम रहेगा। यह वय काफी नीची आयु पर निश्चित की जानी चाहिए, ताकि राज्य-विभागो के लिए ऐसे स्थायी प्रधानाधिकारी प्राप्त होसके जो अपनी पीढ़ी के नये विचारों के सम्पर्क मे रहते हो।

यह भी ध्यान रखने योग्य बात है कि पदाधिकारी जगत की निश्चित धारणाये यथाशक्य अधिक-से-अधिक परिवर्तनशील होनी चाहिएँ। नागरिक सेवा-श्रेणी (सिविल सर्विस) मे नौकर-शाहीपन का ख़तरा रहता है, और इसको उत्पन्न करनेवाले कारण दैनिक-कार्य-पद्धति की दुष्परिवर्तनशीलता और पुरानेपन के अनुसार पदोन्नति देना हैं। पदाधिकारियो के विषय मे सदा इस बात की आशङ्का रहती है कि वे दैनिक कार्य-निर्वाहन को कार्यकुशलता और पुरानेपन को अनुभव समझ बैठते है। वे स्वत. कार्य करने की प्रवृत्ति और नवीन प्रयोग से डरते हैं, और प्राय' यह समझ लेते हैं कि आलोचना से वचे रहना ही सुव्यवस्थित राज्यविभाग का प्रमाण है। सेवा-श्रेणी की सर्वप्रथम आवश्यकता यह है कि इन ख़तरो से वचने के लिए संरक्षणों की व्यवस्था की जाय। वास्तव मे इनके निवारण के लिए कोई स्पष्ट नियम नहीं है। राजनैतिक

मुखियाओं की बुद्धिमत्ता पर बहुत कुछ निर्भर है, और कदाचित इससे भी अधिक सेवा-श्रेणी की ही 'समूहान्तर्गत ऐक्य-भावना' पर निर्भर है। परन्तु ध्यान देने योग्य नियम यह है कि पदाधिकारियों को अपना कार्य तर्कशील और विचार-क्षम लोकमत के वातावरण में करना चाहिए।

चूँकि, पदाधिकारियों को सेवा जनता की ही करनी है, इसलिए जनता द्वारा ही उनका गुण-दोष-परीक्षण होना चाहिए। यदि सेवा और गुण-दोष परीक्षण दोनों का उचित रूप से होना आवश्यक हो, तो शासन-पद्धति के साथ लोकमत को उचित रूप से सम्बद्ध किया जाना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए परामर्श-दायिनी समिति की तरकीब अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जहाँ-जहाँ किसी राज्य-विभाग का किसी सामाजिक स्वार्थ के साथ सम्पर्क आता हो, वहाँ-वहाँ, जो संस्थाएँ उस स्वार्थ की हितसाधक होवें, परामर्श-सम्बन्धी सहयोग के लिए राज्य-विभाग से सम्बद्ध कर दी जानी चाहिएँ। उदाहरण के लिए, शिक्षा-विभाग के कार्य का, प्रत्येक पद पर, शिक्षकों, डाक्टरों, मनोविज्ञानज्ञों, माता-पिताओं आदि के सङ्गठित सङ्घों से निरन्तर सम्पर्क बना रहना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यदि उपयुक्त साधन-तन्त्र न होंगे, तो शासन-सञ्चालन के कार्य में न केवल सजीवता ही न होगी, बल्कि अपने परिणामों के विषय में तीव्र सचेतनता भी न होगी, जो उसकी उत्तमता की सच्ची कसौटी है। नागरिक सेवा-श्रेणी वालों और जनता के पारस्परिक शिक्षण के लिए परामर्श-दायिनी समिति

से अच्छा उपाय और कोई नहीं है। सेवा-श्रेणीवाले लोग तो समझा करके शासन करने की कला सीखते है, और जनता को यह ज्ञात होजाता है कि किस स्थान पर उनकी वास्तविक माँगो मे उनके स्वाभाविक भावोद्वेग और प्रचार के कारण विरूपता उत्पन्न होती है। वैध सरकार का बहुत कुछ भविष्य इस साधन को काम में लाने की बुद्धिमत्ता पर निर्भर है।

अन्त मे, पदाधिकारियो की तटस्थता, और राज्य-संस्था के सेवको के रूप मे उनकी स्थिति के कुछ परिणामो का थोडा-सा विवेचन करना आवश्यक है। मेरे विचारानुसार, यदि सरकार और साधारण समाज दोनो को उस तटस्थता में विश्वास रखना हो, तो यह आवश्यक है कि नीति-निर्माण मे भाग लेनेवाले सब नागरिक-सेवा-श्रेणीवालो को राजनैतिक जीवन में भाग न लेना चाहिए। यह बहिष्कार निम्न-पदस्थ कर्मचारियो पर लागू होना आवश्यक नहीं, परन्तु उदाहरणत, अनुदार विचार के किसी भी मन्त्री को अपने स्थायी सेक्रेटरी पर सहसा विश्वास नहीं हो सकता, यदि उसे यह ज्ञात होजाय कि वह अपना सायं-समय नित्य उग्र साम्यवादी प्रचार मे व्यतीत करता है। राजनैतिक उम्मेदवारो के लिए भी युक्तित यही बन्धन लागू होता है, कोई उच्च-पदाधिकारी व्यवस्थापिका परिषद् मे प्रवेश करने और हार जाने पर सेवा-श्रेणी मे लौट आने की आशा नहीं कर सकता। यहाँ पदाधिकारियो के विषय में जो बात कही गई है, वही राज्य-संस्था की सेनाओं और पुलिस के बारे में अधिक उपयुक्तता के साथ लागू होती है।

उनके अन्दर राजनैतिक प्रवृत्तियो का बढना नागरिक आज्ञाओं की उस नि शङ्क स्वीकृति के लिए घातक होगा जिसपर सामान्य अवस्था मे राज्य-संस्था का कल्याण निर्भर है। ऐसे नाजुक स्थान पर विशेप पक्षपात या धारणा का होना, कभी-न-कभी, पदाधिकारियो को प्रीटोरिया की रक्षा-सेना बना देगा, और फिर वहाँ से एकतन्त्र शासन की ओर क़दम बढना उतना ही अनिवार्य होगा, जितना वह अचिरस्थायी होगा।

इससे, स्वभावत. यह प्रश्न उठता है कि राज्य-संस्था के पदाधिकारियो को समेम्लन की स्वतन्त्रता किस सीमा तक है। यह समस्या जटिल है; और मै यहॉ कुछ निष्कर्पो का केवल सूत्र रूप मे वर्णन करूँगा। सशस्त्र सेना और पुलिस का राज्य-संस्था से जो सम्बन्ध है, उसके कारण यह आवश्यक होजाता है कि उनके हडताल करने के अधिकार का क़ानूनन निपेध किया जाय, परन्तु इसके बदले मे उनको एक ऐसे स्वशासन को पूर्ण विकसित करने का अधिकार होना चाहिए जिसमे उनकी प्रत्येक टुकडी को अपने कार्य करने की अवस्थाओ का निर्णय करने मे पूर्ण भाग मिल सके, और जिन बातो मे उनके और सरकार के बीच मतभेद उत्पन्न होजाय, उनमे उन्हे इङ्गलैण्ड के इण्डस्ट्रियल कोर्ट जैसी किसी स्वतन्त्र न्याय-पञ्चायत द्वारा निर्णय कराने का अधिकार हो। नागरिक सेवावालो के लिए मेरे विचारानुसार, ऐसा निपेध लागू नहीं हो सकता, और यदि इसका काम मे लाना आवश्यक भी होजाय तो भी सफल नही हो सकता। निश्चय ही, राज्य-संस्था को ऐसा

तन्त्र स्थापित करने का अधिकार है जिसके सामने सरकार और उसके सेवको के झगडे, सेवको के हड़ताल करने से पहले, निर्णय के लिए अवश्य लाये जाने चाहिएँ, और बहुत सम्भव है कि ऐसा तन्त्र सामान्यत सफल होगा। परन्तु, मेरे विचारानुसार सेवा लेनेवाले की हैसियत से, राज्य-संस्था को अपने सर्वोपरि-सत्तात्मक स्वरूप पर जोर देने का अधिकार नही है। इस अवस्था मे उसका, प्रत्येक मजदूरी करानेवाले व्यक्ति की भांति, यही कर्तव्य है कि वह अपने सेवको को अपने नियमो की न्याय्यता समझाकर उनकी निष्ठा प्राप्त करे, और उन लोगो को अधिकार है कि जिन सामान्य उपायो से एक मजदूर-सङ्घ अपने श्रम की अवस्थाओ को सुधारता है, उनका प्रयोग करे। और इसका भी कोई कारण मुझे दिखाई नहीं देता कि, राज्य-संस्था के निम्न-पदस्थ कर्मचारियो को, अन्य बाहर के उद्योग-धन्धो मे अपनी समान अवस्थावाले श्रमिको के साथ, अपने इच्छित योग्य उपायो से अपनी अवस्था सुधारने के लिए सम्मिलित होने का समान अधिकार क्यो न हो। सरकारी पद पर काम करने के गौरव से, क्लर्कों या पोस्टमैनो को जो अपने प्रति अन्यायोचित व्यवहार प्रतीत होता है उसकी उपयुक्त क्षतिपूर्ति नहीं होती।

४

मैं पहले ही बता चुका हूँ कि क्यो शासन-कार्य को कार्यान्वित करने मे न्यायकारिणी का स्वतन्त्र होना महत्वपूर्ण है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए, तीन सिद्धान्त ध्यान देने योग्य है। (१) नियुक्ति

का तरीका ऐसा होना चाहिए कि न्यायाधीशों के चुनने में राजनैतिक हेतुओं की सम्भावना न्यूनतम होजाय, (२) जिन व्यक्तियों की नियुक्ति हो उनको, बशर्ते कि उनका व्यवहार ठीक रहे, अपने पद के स्थायित्व का आश्वासन मिलना चाहिए। (३) पदोन्नति में केवल क़ानूनी उत्कर्ष का ध्यान रक्खा जावे। प्रथम सिद्धान्त में न्यायाधीशों के चुनने में जनता द्वारा या व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन का तरीका ठीक नहीं ठहरता, न्यायाधीश के पद के लिए जिन गुणों की आवश्यकता होती है वह निर्वाचन-पद्धति के लिए उपयुक्त होनेवाली कसौटी से भलीभाँति नहीं जाँचे जा सकते। तब सम्भवतया तीन तरीक़े शेष रहते है। पहला तरीक़ा, फ्रास की भांति, यह है कि प्रतियोगात्मक परीक्षा द्वारा न्यायाधीशवृन्द चुना जावे, और ऊँचे पदो पर उन्नति योग्यता के प्रमाणो पर निर्भर रहे। इस तरीक़े के विषय में काफी कहा जा सकता है निश्चय ही इससे फ्रांस को बडा विद्वान न्यायाधीश-समाज मिला है, जिसमे अपने पेशे की प्रतिष्ठा की उच्चतम भावना है। इस तरीक़े मे मेरी शङ्का यह है कि प्रथमत तो न्यायाधीशोचित गुणों मे कई ऐसे गुण है जिनकी जॉच प्रवेश के तरीके से नहीं हो सकती, और, इंग्लैड के न्यायाधीश की अपेक्षा फ्रास के न्यायाधीश की दृष्टि केवल क़ानूनी और सङ्कुचित रहती है। फ्रासीसी न्यायाधीश सामान्यत अच्छा न्यायाधीश होता है, परन्तु जिस सङ्कुचित अनुशासन में होकर उसका जीवन व्यतीत होता है उसके कारण वह न्याय-सम्बन्धी अनुभव के अतिरिक्त सब प्रकार के अनुभव

से अनुचित रूप से पृथक् होजाता है। दूसरा तरीका वह है जो इङ्गलैंड मे, और सङ्घीय नियुक्तियों के लिए संयुक्तराष्ट्र (अमेरिका) मे है, जहाँकि नीचे और ऊपर के दोनो ही न्यायालयों के न्यायाधीश कार्यकारिणी द्वारा नियोजित किये जाते है। इस पद्धति ने हमें नि.सन्देह बहुत से अच्छे-अच्छे न्यायाधीश दिये है, जैसा कि मैन्सफील्ड और मार्शल, जैसेल और बॉवेन और होम्स जैसे नामो से स्पष्ट प्रकट होता है, परन्तु जो कोई पिछले सौ वर्षों की नियुक्तियों का सूक्ष्म निरूपण करेगा उसे सन्देह न रहेगा कि उनमे राजनैतिक हेतुओ का बहुत अधिक भाग है। मैं इन दोनो की अपेक्षा एक तीसरा ही तरीका पसन्द करूँगा, जिसमे कि न्यायाधीश लोग स्वयं ही कार्यकारिणी के सामने एक छोटी-सी नामसूची उपस्थित करें, जिसके बाहर कार्यकारिणी अत्यन्त अपवादस्वरूप परिस्थितियो मे ही जावे। इसी प्रकार न्यायाधीशो को पदोन्नति की सिफारिशे स्वय ही करनी चाहिएँ, और उसमे केवल यह बन्धन रहे कि जो व्यक्ति केवल पाँच वर्ष से ही न्यायाधीश है या जो पाँच वर्ष के अन्दर सेवा से निवृत्त होनेवाला है वह नियोजित किये जाने योग्य न समझा जाय। मेरे विचारानुसार यह भी आवश्यक है कि न्यायाधीश राजनैतिक पद लेने से वञ्चित रखे जायँ, और राजनैतिक पद पर रह चुकनेवाला कोई भी व्यक्ति जबतक कि उसको पद से निवृत्त हुए तीन वर्ष न बीत चुके न्यायाधीश पद के लिए नियोजित न किया जाय। मेरे [illegible] सार, यह बात भी महत्वपूर्ण है कि न्यायाधीशो को सत्तर

आयु पर आवश्यकरूपेण निवृत्त कर दिया जाय, साथ ही उन्हे यह भी स्वतन्त्रता हो कि वे पन्द्रह वर्ष न्यायाधीश पद पर सेवा करने के बाद स्वेच्छापूर्वक निवृत्त होसके।

ऐसी पद्धति के गुण स्पष्ट है। इस पद्धति के कारण हमारा ऐसे न्यायाधीशो के खतरो मे संरक्षण होजाता है, जो संकुचित और विशेष पेशेरूप जाति के सदस्य होने के कारण प्रारम्भिक यौवन के समय से ही निरन्तर शेष संसार मे पृथक् रहे है। यह पद्धति किसी कानूनपेशा व्यक्ति के राजनैतिक सेवा के बदले मे पदोन्नति या नियुक्ति प्राप्त कर सकने के अवसर को न्यूनतम कर देती है। प्रथमत तो, न्यायाधीश-मण्डल द्वारा कार्यकारिणी के विचारार्थ नाम चुनवाने से यह बात मान ली जाती है कि जिन लोगो को पेशे सम्बन्धी योग्यताओ का सबसे अधिक अनुभव है उनको ही उन योग्यताओ का महत्व-निर्धारण करने का अधिकार होना चाहिए, और कार्यकारिणी के हाथ मे एक के बदले मे दूसरे को चुनने का अपवाद-स्वरूप अवसरो पर काम मे लाया जाने-वाला अधिकार होने से न्यायाधीश-मंडल के पक्षानुग्रह-भाव का खतरा परिमित होजाता है। यह भी कहना आवश्यक है कि मेरे विचारानुसार इंग्लैड की-सी वह पद्धति अवाञ्छनीय है, जिसमे कोई भी सामान्य व्यक्ति, सामान्यत छोटी-मोटी राजनैतिक सेवाओ के बदले मे, छोटा न्याय पदाधिकारी बनाया जा सकता है, सामान्य व्यक्ति के लिए उचित स्थान अधिक-से-अधिक, फौज-दारी मामलो के सहायक न्याय-मण्डल ज्यूरी मे हो सकता है।

सामान्य सहायक-न्याय-मण्डल का महत्व भी उन मामलो मे संदिग्ध है, जहाँ हुण्डी (बिल आव् एक्सचेञ्ज) इत्यादि के व्यापारादि सम्बन्धी अत्यन्त विशेषज्ञतापूर्ण बातो के सम्बन्ध मे निर्णय करना होता है। इस क्षेत्र मे, जहाँ सहायक न्याय-मण्डल पद्धति रखी गई है, वहाँ ऐसे व्यक्तियो का एक विशेप मण्डल रखना अधिक अच्छा होगा, जिनके विशेष अनुभव के कारण उपस्थित मामलो पर दिये जानेवाले निर्णयो को विशेष महत्व मिलता हो।

किसी भी सुव्यवस्थित राज्य-संस्था मे न्यायकार्य के सञ्चालन मे चार सिद्धान्त दिखाई देगे। सरकार के अपराधो पर भी ठीक वही उत्तरदायित्व होगा जो साधारण नागरिक के अपराधो पर होता है, कोई भी राज्य-संस्था वास्तविक रूप मे न्याय के शासन के अधीन नही कही जा सकती जहाँ उसके कार्यकर्ताओ के दुष्कार्यों के लिए उनका प्रमुख पुरुष दोष-योग्य न हो। सर्वोपरि सत्ता के कारण उसके नाम पर काम करनेवाले व्यक्तियो को उत्तरदायित्व-हीनता न मिल जानी चाहिए। इसके अतिरिक्त, जहाँ कार्यकारिणी के हाथ मे समर्पित व्यवस्थापन-शक्ति हो, वहाँ उस शक्ति की कानूनी सीमा का प्रश्न सदा साधारण न्यायालयो द्वारा निर्धारित किया जाना चाहिए। तृतीयत', यह आवश्यक है कि न्याय-सम्बन्धी प्रणाली कभी इतनी खर्चीली नही होनी चाहिए जिससे निर्धन नागरिक न्यायालयो तक पहुँचने से ही वञ्चित रह जाये, मनुष्यो में इस विश्वास के उत्पन्न होने देने की अपेक्षा, कि साधनाभाव के कारण हम न्याय प्राप्त नहीं कर सकते, तो यह

अच्छा होगा कि तुच्छ महत्वहीन मामले भी बडी संख्या में पेश होने दिए जायँ। अन्तिम बात यह है कि कानूनी तरीक़ों के सुधार करने की ओर राज्य-संस्था का निरन्तर ध्यान रहना चाहिए। इसके लिए, न केवल यही आवश्यक है कि न्याय-सम्बन्धी संस्थाओं के कार्य की, विशेषत फौजदारी अङ्गों की, निरन्तर जाँच होती रहे; प्रत्युत यह भी आवश्यक है कि उन संस्थाओं के सञ्चालन में जिन-जिन का भाग रहता हो, वे अपने अनुभव को लेखबद्ध करते रहें। क़ानून-सुधार के विषय में एक स्थायी कमीशन रखना, जिसमें न्यायाधीश वकालत-पेशा और साधारण लोग सभी समान रूप में भाग लेसके, आजकल के समय की एक सबसे बडी आवश्यकता है।

५

मैंने, यहाँ, लोकमत के महत्व का निरन्तर वर्णन किया है और यह विवेचन तबतक पूर्ण नहीं हो सकता जबतक कि लोकमत सम्बन्धी कुछ अत्यन्त आवश्यक समस्याओं का थोडा-सा उल्लेख न किया जाय। दो बातें स्पष्ट हैं, लोकमत की उत्तमता उसको प्राप्त होनेवाले समाचारों की सत्यता पर निर्भर रहती है; और वह जितना ही सङ्गठित होगा उतनी ही उसकी प्रभावोत्पादन-शक्ति होगी। अथवा, दूसरा सिद्धान्त कदाचित् सर्वोत्तम शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है कि सामान्य लोकमत जैसी कोई वस्तु प्राय' है ही नहीं। प्राय होता तो यह है कि, जो प्रश्न उत्पन्न होते हैं उनपर लोक-सम्मतियों की शृङ्खला का विकास हुआ

करता है, और इन लोक-सम्मतियो की सापेक्ष शक्ति उनके ज्ञान और सङ्गठन प्राप्त कर सकने की शक्ति पर निर्भर रहती है।

अब जो कोई आधुनिक समाज में समाचारों की सच्चता की समस्या पर छानबीन करेगा, उसे प्रथम तो यह ज्ञात होगा कि यह समस्या बडी जटिल है, और दूसरी बात यह कि समाचारों के संग्रह करने और वितीर्ण करने में तथ्यों को यथावत प्रकट करने का प्रयत्न नहीं होता। यदि समाचार के तत्व से नीति पर प्रभाव पड सकता हो तो वह प्रचार बन जाता है और विषमता पूर्ण समाज में समाचार का रुख आर्थिक-शक्ति-धारियों के लिए लाभ-दायक बना लिया जाता है। अधिकांश मनुष्यों को समाचारों के लिए समाचार-पत्रो पर निर्भर रहना पडता है। यह समाचार-पत्र मिलनेवाले विज्ञापनो पर अवलम्बित रहते हैं, और उनका निका-लना इतना व्ययपूर्ण होता है कि केवल धनिक लोग ही उनको प्रारम्भ कर सकते है। परन्तु चूँकि वह विज्ञापक पर अवलम्बन रखते हैं, इसलिए उन्हे अधिकांश ऐसे समाचार छापने पडते हैं, और इस प्रकार टिप्पणियाँ लिखनी पड़ती हैं कि जिससे जो लोग विज्ञापक द्वारा वेची जानेवाली वस्तुएँ खरीदते है उनको सन्तोष मिले, अन्यथा वे अपने पत्र की बिक्री उन लोगों मे नहीं कर सकते जिनकी कार्य-साधनार्थक माँगों की शक्ति काफी बडी है। परिणाम यह होता है कि जिन समाचारो के सच्चे रुख के कारण धनिक वर्गों को कष्ट होना सम्भव है वे सम्बद्ध-रूप से पक्षपात-पूर्ण ढंग से दिए जाते हैं। रूसी क्रान्ति, या किसी बड़ी हड़ताल, या किसी

राष्ट्रीय-कृत कारखाने का कार्य-विवरण आदि घटनाओं को इस तरह से तोड-मोड दिया जाता है कि जो नागरिक इनके स्वरूप का ज्ञान अपने समाचार-पत्र से प्राप्त करता है उसपर इनके विषय में प्रतिकूल प्रभाव पड सके। वह वास्तविकताओं को मानो एक ऐसे दर्पण में से प्राप्त करता है जिसमें उनका स्वरूप किसी विशेष स्वार्थ के बहुत अधिक अनुकूल बन जाता है। जबतक नीति के परिणाम में लोगों के स्वार्थ विषम रहते है, तबतक उनको मिल सकनेवाले समाचारों को इस प्रकार चुना और महत्व दिया जाता है कि जिससे उनका सच्चा अर्थ न निकल सके। केवल समानता-पूर्ण समाज में ही सत्य बात छापना लाभदायक होता है।

अन्ततः, लोकमत जितना अधिक सङ्गठित होता है उतना ही अधिक बलवान होता है, और सङ्गठन आर्थिक शक्ति के अनुरूप होता है। धनिक खान-मालिकों के एक छोटे समूह को सङ्गठित करना, निर्धन मजदूर-सङ्घ-वादियो के एक बडे समूह को सगठित करने की अपेक्षा अधिक सुगम है। थोडे से खान-मालिकों को सुसम्बद्ध और एकता-पूर्ण बनाये रखना भी अधिक सरल है। इनमे गलती होजाने से आघात का अनुभव कम तेजी से होता है, और सफलता के परिणाम बहुत अधिक प्रत्यक्ष होते है। आर्थिक शक्ति अपनी निजी बुद्धि की अपेक्षा बहुत अधिक ज्ञान पर अधिकार कर सकती है। उसमे प्रतीक्षा करने का भी सामर्थ्य है, और प्रतीक्षा करने की आवश्यकता होने पर उसके सामान्य जीवन की रूप-रेखा के बहुत बदल जाने का अनुभव उसे नहीं होता। परन्तु

जिन लोगों के पास आर्थिक शक्ति नहीं है उनके संगठन के इतने से प्राय एक भी सुविधा नहीं होती। उसके मुख्य शस्त्र जैसा कि हड़ताल में होता है, इतने व्ययपूर्ण होते हैं कि वह उनका प्रयोग करने का सामर्थ्य नहीं रखता। ज्ञान को खरीदने की उसकी शक्ति न्यून होती है, क्योंकि प्राय ऐसे संगठन को जिस ज्ञान की आवश्यकता होती है उससे उस ज्ञान को रखनेवाले लोगों की मनोवैज्ञानिक रुचियाँ विरुद्ध पड़ती हैं। संक्षेपतः विषमता-पूर्ण समाज में लोकमत नैतिकता की दृष्टि से अपने दावे नहीं कर सकता। विषमता-पूर्ण शक्ति के कारण स्वार्थ जिस ढंग से तोड़े मोड़े जाते हैं उसीके अनुसार उन दावों की न्याय पूर्णता होती है। इसलिए, जबतक आर्थिक शक्ति के विभाजन में गहरी विषमतायें रहेंगी, तबतक कोई भी सामाजिक व्यवस्था अपने नागरिकों की माँगों को समानता से पूर्ण नहीं कर सकती, न गम्भीरता-पूर्वक उनके अधिकारों को समान रूप से स्वीकृत करने का प्रयत्न कर सकती है।

: ४ :

राज्य-संस्था और अन्तर्राष्ट्रीय समाज

१

अभीतक राज्य-संस्था की समस्याओ पर केवल इसी दृष्टि से विचार किया है मानो उनका सम्बन्ध केवल उस राज्य के नागरिको से ही है। परन्तु वास्तव मे एक राज्य-संस्था अन्य राज्य-संस्थाओं से बिल्कुल अलग नही बल्कि उन्हीं मे से एक है। अतः हमारे सामने जो सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न आते हैं वे उन राज्य-संस्थाओ के पारस्परिक सम्बंध से उठनेवाली समस्याये हैं, जो उस समय पैदा होती हैं जबकि एक राज्य-संस्था और उसके नागरिको को दूसरी राज्य-संस्था और उसके नागरिको से काम पडता है। पूर्वगृहीत मूल-सिद्धान्तो के अनुसार कोई भी राज्य-संस्था दूसरी राज्य-संस्था को आज्ञा नही दे सकती, क्योकि यदि ऐसा होजाय तो आज्ञा पालनेवाली राज्य-संस्था के विधि-निदेशो का स्वरूप वह न रहेगा, जिसपर कि, पूर्व विवेचनानुसार, राज्यतत्व का आन्तरिक स्वरूप निर्भर रहता है।

इसके अतिरिक्त, राज्य-सस्थाओ के पारस्परिक सम्बंधो को नियन्त्रित करने की भी आवश्यकता है, अन्तर्राष्ट्रीय कानून ऐसे नियमो का समूह है जिनके द्वारा विविध राज्य-संस्थाओ और उनके नागरिको के पारस्परिक सम्बंधो को व्यवस्थित किया जाता है। यह नियम समाज मे रहनेवाले मनुष्यो पर इस कारण लागू किये जाते हैं कि यदि यह न हो तो राज्यत्व के आन्तरिक स्वरूप से बाह्य स्वरूप पर पहुँचने पर हमारे सामने ऐसी अवस्था उत्पन्न होजाय जिसके लिए अराजकता शब्द ही प्रयुक्त होसके। यदि राज्य-सस्थाओ पर अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून बाध्य न हो तो अपने-अपने मन के अनुसार काम करने की इच्छा के अतिरिक्त उनके परस्पर के लिए अन्य कोई नियम ही न रह सकेंगे। और, वास्तव में, हॉब्स जैसे कई बड़े-बडे विचारक ऐसे हुए भी हैं जिन्होने यही निष्कर्ष स्वीकार किया है। उन्होने अपने हेतुओ और उदाहरणो से बिलकुल युक्तिपूर्वक यह बताया है कि, चूँकि मनुष्यो की कोई भी सस्था राज्य-संस्था को आज्ञा नहीं दे सकती इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून को राष्ट्रीय क़ानून के समान प्रामाणिक मानना असम्भव होजाता है। उनका कहना है कि यदि राज्य-संस्था के क़ाननी विधि-निदेश सर्वोपरि है तो, युक्तितः, अन्य कोई भी विधि-निदेश उनसे बडे नहीं हो सकते। तो परिणाम यह निकलता है कि किसी भी राज्य-संस्था के लिए अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून उसी अंश तक प्रामाणिक है जिस अंश तक वह उसके तत्व को मानने को तैयार हो। कहने का तात्पर्य यह है कि अन्तर-राष्ट्रीय क़ानून विशेप

राज्य-संस्थाओं द्वारा क़ानून मान लिया जाने पर सचमुच क़ानून बन जाता है। उसमे स्वत कोई बाध्य करनेवाला बल नहीं है, उसको सत्ता इस बात से मिल जाती है कि व्यक्तिगत राज्य उसके प्रत्येक नियम को क़ानूनी विधि-निदेश के रूप मे ग्रहण कर लेते हैं।

परन्तु ऐसे प्रबल निष्कर्ष को स्वीकार कर लेने से पहले उसके आधारों का परीक्षण कर लेना आवश्यक है। इस दृष्टिकोण से कई महत्वपूर्ण बाते उत्पन्न होती है। (१) कोई भी नई राज्य-संस्था, जब वह अस्तित्व मे आती है, अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के प्रतिष्ठित नियमों मे से केवल कुछ को चुनकर पसन्द नहीं कर सकती। उसपर वे ठीक उसी प्रकार बाध्य होते है मानो वह उनके बनाने के लिए उत्तरदायी रही हो। अन्तर्राष्ट्रीय रीति-रिवाजों, संधियो और पञ्चायतो के समझौतो के कारण बहुत से ऐसे सुप्रतिष्ठित सिद्धान्त उत्पन्न होगए है कि जो राज्य-सस्थाओ के सामान्य पारस्परिक व्यवहार मे उनके कार्यों को उसी प्रकार मर्यादित करते है जिस प्रकार इङ्गलैण्ड का क़ानून अपने नागरिको के कार्यों को मर्यादित करता है। (२) राज्य-संस्था का सर्वोपरित्व एक ऐतिहासिक परिणाम है जिसका जन्म मध्ययुग के मध्ययुगी पोप-सत्ता (respublica christiana) के टूट जाने पर हुआ था। मोटे तौर पर, रिफॉरमेशन युग से पहले राज्य-सस्था की इच्छा सर्वोपरि स्वरूप की नहीं थी। वह ईश्वर के क़ानून और प्रकृति के क़ानून द्वारा स्वाभाविक रूप से मर्यादित मानी जाती थी, इनके सिद्धान्तो के विरुद्ध राज्य-संस्था का कोई भी विधान स्वभावत मल्य-हीन

होता था। आजकल हम उस अवस्था का दर्शन कर रहे हैं जो भूमण्डलीय संघ का पुनर्निर्माण कहा जा सकता है, जिसका स्वप्न मध्य-युग के विचारक देखा करते थे। हमने जान लिया है कि वैज्ञानिक और आर्थिक परिवर्तन के कारण सामान्य संसार-सम्बन्धी मामलों में व्यक्तिगत राज्य को अपना-अपना निर्णय करने के लिए स्वतंत्र छोड़ना असम्भव होगया है। निर्णायक अवसरों पर ऐसे बंधन-रहित आत्मनिर्णय से युद्ध होजाता है, और जिस कारण अपने प्रदेश के अंदर राज्यसंस्था की इच्छा को अन्य सब सभा-संस्थाओं से प्रधानता मिली, उसी कारण राज्य-संस्थाओं के समाज में भी ऐसी सामान्य इच्छाशक्ति का होना, जो प्रत्येक विशेष राज्य-संस्था की इच्छा के ऊपर प्रधानता रखती हो, एक राजनैतिक आवश्यकता बन गई है। इसलिए परिणाम यह निकलता है कि जिस प्रकार व्यक्तिगत इच्छा राज्य-संस्था के निश्चित किये हुए क़ानूनी विधि-निदेशों के अधीन है, ठीक इसी प्रकार संसार सम्बन्धी सामान्य मामलों में राज्य-संस्था की इच्छा भी एक प्रधान इच्छाशक्ति के अधीन होनी चाहिए।

यही बात, सम्भवत, सर्वोत्तम रीति से इस प्रकार प्रकट की जा सकती है। सन् १५०० और १७०० के बीच में आधुनिक राज्य-संस्था इसलिए सर्वोपरि बन गई कि इसके अतिरिक्त अन्य किसी ढंग से उसके नागरिकों के जीवनों को शान्ति और सुरक्षितता निश्चित रूप से न दी जा सकती थी। इसके [illegible] तत्वज्ञान ढूँढनेवाले विचारकों को इससे [illegible]

दिखाई दी वह यह थी कि इसने अपनी इच्छाशक्ति को सब बाह्य नियंत्रणों से स्वतंत्र कर लिया था। इसलिए स्वभावत उन्होंने यह मान लिया कि राज्य-संस्था ही सामाजिक संगठन का अंतिम घटक है। परन्तु, परिस्थिति, विशेषत पिछली अर्ध-शताब्दि मे, पुन बदल गई है। संसार इतना परस्पराधीन होगया है कि किसी भी राज्य-संस्था मे अनियंत्रित इच्छाशक्ति का होना अन्य राज्य-संस्थाओ की शान्ति के लिए घातक है। यदि हम इंग्लैण्ड को, अपनी राज्य-सीमाओ और सैनिक शक्ति, अपनी आयात-निर्यात कर पद्धति, और श्रमपद्धति, अपने न्यायालयो मे विदेशियो को दिये जानेवाले अधिकार, इतर राज्यो से होनेवाले झगडो का निर्णय करने की विधि आदि बातो का स्वयं ही निर्णय करने के लिए स्वतन्त्र छोड दे, तो अनिवार्य परिणाम होगा अन्तर्राष्ट्रीय विपत्ति। राज्य-संस्थाओ की परस्पराधीनता के कारण, एक ऐसा भूमडलीय समाज, राज्य-संस्थाओ का समाज, मानने की आवश्यकता है, जिसके अपने ही पृथक् क़ानूनी विधि-निदेश हो और उनके सामने अन्य सब नियमो को झुकना पडे। थोडे मे कह सकते है कि आधुनिक परिस्थितियो के कारण सामान्य सम्बध के मामलो के लिए ससार-व्यापी क़ानून निर्माण शक्ति को मानना भी उतना ही स्पष्टतया आवश्यक होजाता है जितना कि राज्य सस्था के प्रदेश के अन्दर उसके प्रभुत्व को मानना। संक्षेपत, क़ानून की दृष्टि से म्युनिसिपल कानून अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के अधीन है।

इसलिए, इस प्रतिज्ञा को लेकर कि कानून का मूल उद्‌गम राज्य-सस्थाओ के समाज की इच्छाशक्ति है, और आधुनिक सभ्यता मे यह इच्छाशक्ति अन्य सब इच्छा-शक्तियो के ऊपर प्रधान है, कानून सम्बन्धी व्याख्या बनाई जा सकती है। ऐसी प्रतिज्ञा के अनुसार, राज्य-संस्थाओ के समाज से किसी विशेष राज्य-संस्था का सम्बन्ध अधीनता का सम्बंध है, यह वैसा ही है जैसा कि अमेरिका के सयुक्तराष्ट्र से न्ययार्क का है। कुछ ऐसे विषय हैं जिनपर न्यूयार्क स्वय अपना क़ानून बना सकता है, और कुछ अन्य ऐसे विषय है जिनपर उसे संयुक्तराष्ट्र का निर्णय मानना पडेगा। इस दृष्टि के अनुसार राज्य-सस्था सर्वोपरि नही रहती। वह जिन ससार-व्यापी परिस्थितियो मे स्वयं परिगृहीत है उनके निष्कर्षो को उसे स्वीकार करना ही पडेगा। उसकी बंधन-रहित स्वच्छन्दता की माँग स्वीकार करना उतना ही असम्भव है जितना कि व्यक्तिगत नागरिक की नियंत्रण-रहित इच्छा रखने के क़ानूनी अधिकार की माँग को मान लेना। सामान्य आवश्यकताये होने का अर्थ है पारस्परिक अधीनता होना, और जहाँ पारस्परिक अधीनता है वहाँ, ऐतिहासिक या पारिभाषिक भाव मे, सर्वोपरि राज्य-सस्था का होना असम्भव है।

उपर्युक्त दृष्टिकोण मे इन संदेहरहित बातों से भी कोई दोष नहीं आता कि (क) राज्य-सस्थाये क़ानून को तोड देती हैं, और (ख) राज्य-संस्थाओं के समाज ने अभीतक अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून की वृद्धि के लिए कोई भी सतोषजनक साधन, विशेषत. व्यवस्था-

पन क्षेत्र मे, विकसित नही किये है। अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून का किसी विशेष व्यक्ति द्वारा भंग होना उतना ही महत्व-पूर्ण या महत्व-शून्य है जितना कि म्युनिसिपल क़ानून का किसी विशेष व्यक्ति द्वारा भंग होना, जबतक क़ानून सामान्यत और प्रवृत्तित बल-पूर्वक लागू किये जाने योग्य होता है तबतक वह क़ानून रहता है। यह हम मान सकते है कि राज्य-संस्थाओं के समाज की संस्थाये अभीतक इस उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए अनुपयुक्त है। इसके दो उपयुक्त कारण है। प्रथमत तो, अन्तर्राष्ट्रीय परस्पराधीनता के सिद्धान्त की मान्यता अपेक्षाकृत नई है, इस सिद्धान्त की यथा-रीत्या मान्यता १६१६ की वार्सेलीज के सन्धिपत्र से पहले की प्राय नहीं कही जा सकती। द्वितीयत, इस परस्पराधीनता के लिए उपयुक्त संस्थाये बनाने के प्रत्येक प्रयत्न का सर्वोपरि राज्य-संस्था के द्वारा विरोध हुआ है, जो अभीतक अपने अधिपत्य के खण्ड-हरो को अपने ही हाथ मे बनाये रखने का उत्कट प्रयत्न कर रही है। उदाहरणात., राष्ट्रसंघ का इतिहास, सिवाय इसके और कुछ नही है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय परस्पराधीनता के नए सिद्धान्त तथा उसके परिणामो के साथ सर्वोपरित्व के पुराने सिद्धान्त के सङ्घर्ष का लेख-प्रमाण हो। इस पुराने सिद्धान्त को मानने की इच्छा के परिणाम-स्वरूप ही राष्ट्रसङ्घ मे एकमत से निर्णय करने का नियम है जो राष्ट्रसङ्घ की सफलता को बहुत-कुछ नष्ट करता है, अन्तर्राष्ट्रीय परस्पराधीनता के परिणामो को स्वीकार करने की आवश्यकता के फलस्वरूप ही 'विकल्प' (ऑप्शन) सम्बन्धी धारा,

सामान्यत पंचायत द्वारा झगड़े निबटाने का [illegible] की जैसी परस्पर अभिवचन देनेवाली संधियाँ हुई हैं और इन से सर्वोपरित्व के सिद्धान्त पर निश्चित और सुस्पष्ट [illegible] है, क्योंकि इन तीनो का अर्थ है कि जिन राज्य-संस्थाओं ने स्वीकार कर लिया है, वह वास्तव मे, अपनी इच्छानुसार करने मे स्वतंत्र नहीं हैं। इसी प्रकार शासन-निर्देशों ([illegible] के सिद्धान्त तथा राष्ट्रसङ्घ के कुछ सदस्य-राज्यों की [illegible] जातियो को प्रतिज्ञात किये हुए अधिकारों द्वारा यह बात [illegible] गई है कि राज्य-संस्था की स्वाधीनता के दिन निश्चित [illegible] चुके हैं। हम आधुनिक राज्य-संस्थाओं मे, उनको सामान्य संस्था के अधीन किये बिना परस्पर आवश्यक सहयोग [illegible] कर सकते। और, इस अधीनता का परिणाम यह [illegible] श्रेष्ठ संस्था के बनाये हुए कानूनी विधि-निर्देश उनको [illegible] सकनेवाली सब इच्छाशक्तियो पर प्रधानता रखते है।

ऐसी स्थिति मे कुछ प्रतिष्ठित विचारको ने इसका पुराने दृष्टि-कोण से दो प्रकार से सामञ्जस्य करना चाहा है। एक ओर तो वे यह कहने लगे हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून तो राष्ट्रीय क़ानून ही है, क्योंकि वह व्यक्तिगत राज्य संस्थाओ द्वारा स्वीकृत होजाने पर ही लागू हो सकता है, और दूसरी ओर उनका यह कहना होगया है कि जहाँतक अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून सचमुच क़ानून है वहाँतक वह स्वत एक पूर्ण व्यवस्था है, जो व्यक्तिगत राज्यो की इच्छा-शक्ति से स्वतन्त्र है और उसका उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

परन्तु यह दोनो दृष्टिकोण संतोषजनक नही हैं। प्रथम विचार के दो उत्तर दिये जा सकते है। प्रत्यक्षत, राज्य-संस्थायें अन्तर्राष्ट्रीय नियमो को इसलिए स्वीकार नही करती कि वे उन्हे स्वेच्छा से पसन्द करती है, परन्तु इसलिए कि वास्तव मे उनके पास दूसरा चारा नही है, और स्वीकृत-सिद्धान्त को, जो वास्तव में अधिकांश काल्पनिक है, क़ायम रखने मे कोई लाभ नही है। और कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून सम्भवत तबतक काम मे नही आ सकता जबतक कि उसके प्रजाजन उसका लागू किया जाना स्वीकार न करे; परन्तु यह बात तो स्वय राज्य-सस्था के क़ानून के विषय मे भी सत्य है। कहने का तात्पर्य यह है कि न्यायविज्ञान की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के क़ानूनी स्वरूप को उसके लागू किये जा सकने की सफलता पर निर्भर बताना, उसपर प्रामाणिकता सम्बन्धी वह कसौटी लगाना है जिन्हे कोई भी न्याय-विज्ञान-विशारद राष्ट्रीय क़ानून पर स्वप्न मे भी नहीं लगाता। न्याय-विज्ञान-विशारद के ही माने हुए सिद्धान्तो के अनुसार क़ानूनीपन के लिए इतना ही आवश्यक है कि उसके उद्गमस्थान को इतनी अधिकार-शक्ति होनी चाहिए कि वह सम्बन्धित नियमो को बना सके। उसके लिए क़ानूनीपन शुद्ध अधिकार-शक्ति का प्रश्न है, और उसे अन्य-कारणाश्रित कसौटियो के आधारो को त्यागना पडता है। और, यह विचार भी कि अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून राष्ट्रीय क़ानून से स्वतन्त्र एक स्वावलम्बी व्यवस्था है, अधिक सन्तोषजनक नही है। क्योंकि, अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून का सारा प्रयोजन परिभाषा के अनुसार,

राज्यों में, रहनेवाले, नागरिकों के आचरण-व्यवहार को नियन्त्रित करना है। वह राज्य-संस्थाओं की इच्छा-शक्ति को अपने उद्देश्यों के लिए बाधित किये बिना अपना प्रयोजन सिद्ध नहीं कर सकता। राज्य-संस्थाओं की इच्छा-शक्ति को बाधित करने के लिए राज्य-संस्था की इच्छाशक्ति में उसकी स्वाभाविक श्रेष्ठता का होना अनिवार्य है और हमें यह मानना पडता है कि म्युनिसिपल क़ानून उन्हीं सिद्धांतों पर आधारित है जिनपर अन्तर्राष्ट्रीय कानून है।

एक और युक्ति पर, जो अन्तिम है, विचार करना भी आवश्यक है। कहा जाता है कि राज्य-संस्था को कानूनी व्यवस्था मानना तो सरल है क्योंकि उसमें तो ऐसे मनुष्यों का समुदाय प्रत्यक्ष दिखाई देता है, जिनको उनके नागरिकों पर उसके क़ानूनी विधि-निदेशों को लागू करने का अधिकार, अपनी स्थिति के कारण, होता है; परन्तु राज्य-संस्थाओं के समाज में क़ानून को लागू करवानेवाली शक्ति इतनी स्पष्ट दिखाई नहीं देती। यदि उसका एक भी नियम भङ्ग किया जाता है तो ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है जिसपर क़ानून-भङ्ग के दण्ड का प्रयोग करने का प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व हो। परन्तु, इस आलोचना को घातक मान लेने से पहले, इसके अभिप्रायार्थ का समझ लेना आवश्यक है। इसमें यह माना गया है कि क़ानून राज्य-सस्था के ऐसे अङ्ग द्वारा निर्मित होता है जिसके पास आवश्यक होने पर दण्ड का प्रयोग करने की शक्ति होती है। वास्तव मे, इसका अर्थ है हॉब्स और ऑस्टिन से आई हुई सर्वोपरिता सम्बधी प्रसिद्ध व्याख्या को ज्यो-का-त्यों मान लेना, और जैसा कि

हम देख चुके है वह व्याख्या आधुनिक समाज की जटिल परिस्थितियो के लिए उपयुक्त नहीं होती। हमें ऐसी सामान्य श्रेष्ठ शक्ति को, जिसकी इच्छा से सारा क़ानून बनाया जाता है, ढूंढने की अपेक्षा सामाजिक जीवन के भिन्न-भिन्न विभागो के लिए आवश्यक क़ानून बनाने के लिए उपयुक्त सस्थाये प्राप्त करने की चिन्ता अधिक है, हमे कर्तृत्वो के एकीकरण मे नहीं किन्तु विभाजन में मुख्य रुचि है। इतना ही नहीं। हम यह भी कह सकते है कि अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के अनेक नियम राज्य-संस्था के साधारण न्यायालयो द्वारा सामान्यतया और स्वाभाविकतया प्रयोग मे लाये जाते है, और जमोरा (zamora)* मे लार्ड पार्कर का प्रसिद्ध निर्णय बताता है कि न्यायालय इस दिशा मे किस हद्तक जाने को तैयार हैं। हम यह भी कह सकते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय नियम आजकल केवल स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय मे ही प्रयुक्त नहीं होते, प्रत्युत इस न्यायालय के निर्णयो से इसी प्रकार के मामलो मे सम्बन्ध रखने वाली सब संस्थाओ के कार्य का स्वरूप अधिकाधिक निर्मित होता जाता है।

इसके अतिरिक्त, यह स्पष्ट है कि, यद्यपि राष्ट्र-सघ अभी अपूर्ण है तथापि वह पालन कराने की शक्ति के विचार का एक संस्था के स्वरूप मे व्यक्तरूप है। यह संघ वास्तव मे जितने दीर्घकाल तक कार्य करेगा, उतना ही दृढ रूप इस विचार को प्रदान करेगा। जो इकरारनामा (कवेनेण्ट) युद्ध की प्रारब्धि को

* (1916) 2 A C 93

रोकने के विचार से उत्पन्न हुआ था, ताकि बीच के समय में युद्ध प्रारम्भ करनेवाले को चिन्तन का अवसर मिल सके जिससे उनके बीच सफलतापूर्वक बीच-बचाव हो सके, वह अब इस भावना की ओर अधिकाधिक बढ़ता जाता है कि आक्रमणात्मक कार्य की परिभाषा की जा सकती है, और जो राज्य-संस्था आक्रमण के लिए उत्तरदायी समझी जायगी, उसके प्रति राष्ट्रसंघ के सब सदस्यों की शत्रुता हो जायगी। वास्तव में किसी न-किसी रूप में सम्मिलित (सामूहिक) पालन कराने की शक्ति का विचार उत्पन्न होगया है. विवादास्पद प्रश्न तो केवल यह रह गया है कि पालन-कारयित्री शक्ति अधिक-से-अधिक व्यावहारिक रूप क्या ग्रहण कर सकती है। इसके अतिरिक्त इकरारनामे (कवेनेण्ट) में, प्रत्येक पद पर, सामूहिक उत्तरदायित्व के रूप भी हैं, जो हर जगह अङ्कुरावस्था में ही नहीं है। यह भी स्पष्ट है कि राष्ट्र-संघ की कौंसिल अब भी, यद्यपि मन्त्रि-मण्डल की भांति तो नहीं, तथापि कम-से-कम एक ऐसी संस्था की भांति तो कार्य कर रही है जो निदेश (आर्डिनेन्स) बनानेवाली संस्था से बहुत समानता रखती है, और लोकमत पर राष्ट्र-संघ की एसेम्बली का परिणाम बड़ा प्रभावकारी है। इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का कार्य भी बड़ा प्रभावकारी है। यद्यपि राष्ट्र-संघ को युद्ध के पश्चाद्वर्ती परिणामों से बहुत बाधा हुई है, तथापि उसके विषय में इतना तो कहा ही जा सकता है कि संसार की जातियाँ व्यक्तिगत राज्य-संस्थाओं के अत्याचारों को सीमित और नियन्त्रित करने के लिए उसके मुख की ओर देखती

है। उसकी सामाजिक और वैज्ञानिक सेवा के विषय मे तो प्रत्येक व्यक्ति न्यायपूर्णता के साथ कह सकता है कि यदि वह कार्य न किया जाता तो संसार आज की अपेक्षा हीन और कुरूप स्थान रहा होता; और यदि वह बन्द होजाय तो उसका पुनः आविष्कार करना पड़े। राष्ट्र-संघ को साहस-हीनता और संशयालुता से बहुत हानि उठानी पडी है। उसको रूस और संयुक्तराष्ट्र (अमेरिका) के अलग रहने से भी बहुत हानि हुई है। और सम्भवतया उसे सबसे अधिक हानि अपनी ही कार्य-पद्धति सम्बंधी त्रुटियो के कारण हुई है जिनके द्वारा राज्य-संस्थाओं की प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया गया है। परन्तु उसकी त्रुटियो और बाधाओं के रहते हुए भी, वह महत्वपूर्ण है और इस प्रकार के सङ्गठन के होने की आवश्यकता है, इन दोनो बातो मे संशय होना कठिन है। उसके इतिहास के प्रथम दस वर्षों के अनुभव मे यह स्पष्टतया प्रकट है कि वह राजनैतिक संस्थाओ के इतिहास मे एक निर्णायक अवस्था को व्यक्त करता है।

२

क्योकि, राष्ट्र-सङ्घ को या तो आगे बढना पडेगा या नष्ट हो जाना पड़ेगा। वह व्यक्तिगत राज्य-संस्थाओ के अधिकारो का निरन्तर नियन्त्रण करके ही आगे बढ सकता है। वास्तव मे उसके सफल विकास का अर्थ यह है कि अधिकाधिक विस्तीर्यमाण क्षेत्र मे ऐसी शक्ति व्यक्त होनी चाहिए, जो उस विषय को सीमित करे जिसमे राज्य-संस्थायें स्वयं क़ानून बनाने का अधिकार रखती हैं।

राष्ट्र-सङ्घ अन्तर्राष्ट्रीय सामान्य सम्बन्ध के सब विषयो मे राज्य-संस्थाओ के लिए व्यावहार-विधियाँ बनाने की सत्ता ग्रहण करेगा। इन विषयो मे से, कम-से-कम, कुछ तो स्वयं स्पष्ट है। युद्ध करने का अधिकार, राज्य-सीमाओ का निर्धारण, युद्ध-शक्ति की सीमा, आयात-निर्यात-कर तथा देशान्तर-निवास, पिछडी हुई जातियो की रक्षा, यह सब ऐसे विषय है जिनपर व्यक्तिगत राज्य-संस्था अधिक समय तक अन्तिम अधिकार-शक्ति नही रख सकती। और किसी भी तरह से यह बात कम महत्वपूर्ण नही है कि राष्ट्र-सङ्घ की सदस्य-राज्य-संस्थाओ को अपने आपस की सन्धियो को, यदि वे उन्हे परिणामकारी बनानी चाहती है, जेनेवा मे रजिस्टर्ड करवाना आवश्यक है। न्यायपूर्णता के साथ कहा जा सकता है कि हम ऐसे काल के समीप पहुँच रहे है कि, यदि सन्धियो को अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून के अनुसार मान्यता प्राप्त करनी है, तो उन्हे राष्ट्र-सङ्घ द्वारा अनुमोदित होना आवश्यक होगा।

परन्तु यह कहना केवल काल्पनिक नही है कि ये सब बाते, उस विकास के पर्यवसान नहीं, केवल प्रारम्भिक रूप है, जिसे नि:सन्देह दीर्घकालीन प्रयास के बाद हम निश्चित रूप से देखेगे। उद्योग-धंधो मे विज्ञान की वृद्धि के तीन परिणाम हुए है। (क) उत्पत्ति की शक्ति क्रयशक्ति के विषम विभाजन के कारण, उपभोग की शक्ति का अत्यधिक अतिक्रमण कर चुकी है। परिणाम यह हुआ है कि आधुनिक यन्त्र-सामग्री सेसुसज्जित राज्य-संस्थाये निर्यात के लिए बाजार ढूँढने की उत्कट प्रतियोगता मे प्रवेश

कर रही है, और उन्हें निम्न जीवन-कोटि रखनेवाली राज्य-संस्थाओ के मुक़ाबिले मे अपनी जीवनकोटि की रक्षा करनी पड़ती है। इस अवस्था का, कभी-न-कभी, अनिवार्य परिणाम यह होगा कि कच्चे माल, बाजारों मे विक्रय के तरीकों और श्रम-सम्बन्धी नियमों पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण हो जायगा। क्योंकि, राष्ट्र-सङ्घ जैसी संस्था जो युद्ध के निवारण के लिए है, अपने उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए युक्तित युद्ध के मूलभूत कारणों के (जो प्रधानतः आर्थिक है) सम्बन्ध मे भी कार्यवाही करने की आवश्यकता को नहीं टाल सकती। निश्चय ही उसे आगे बढ़ना पड़ेगा। आधुनिक संसार मे अन्य कोई अकेला कारण इतनी अस्त-व्यस्तता नहीं फैलाता, जितनी व्यक्तिगत राज्य-संस्था का अपनी मुद्रा-सम्बन्धी प्रणाली को आप ही नियन्त्रित करने का अधिकार। वाशिङ्गटन मे मुद्रा की अत्यधिक रोक होजाने से संसार-भर की क़ीमतों में भयङ्कर गिरावट हो सकती है, पेरिस मे बेहिसाब स्वर्ण-संग्रह हो जाने से जापान और दक्षिणी अमेरिका मे बेकारी फैल सकती है। यह निष्कर्ष निकालना तो सामान्य विवेक की बात है कि बेसल का इण्टर-नेशनल सेटलमेण्ट्स बैङ्क भी एक ऐसी केन्द्रीय मुद्रा-व्यवस्था का सूत्रपात है, जिसके लिए राज्य-संस्थाये उसी प्रकार अधीनस्थ घटक होंगे, जिस प्रकार इङ्गलैण्ड के ज्वाइण्ट-स्टाक-बैङ्क बैङ्क-आव्-इङ्गलैण्ड के अधीन है। अन्यथा, स्पष्टतः, आधुनिक द्रव्य-सम्बन्धी परस्पराधीनता का यही परिणाम होगा कि किसी एक भी राज्य-संस्था की गलतियों और मूर्खताओ के कारण इस

प्रकार की अव्यवस्था उत्पन्न हो सकती है, कि वह चाहे स्पष्ट दिखाई न दे, पर उसके परिणाम १६१४ के युद्ध से कम भयङ्कर न होगे।

इसके अतिरिक्त इसके विकास की एक नई दिशा की भी कल्पना की जा सकती है। अभीतक, और ऐतिहासिक परिस्थितियो की दृष्टि मे पूर्ण स्पष्टतया, अन्तर्राष्ट्रीय कानूनो ने व्यक्तियो के, जिन्हे अपने अधिकारो की रक्षा प्राप्त करने का स्वतः हक़ है, अधिकारो के विषय मे कुछ भी नही किया है। अभीतक जब-जब विदेशियो को किसी भिन्न-देशीय राज्य-संस्था द्वारा कष्ट पहुँचा, तब-तब उन्हे उसके प्रतिकार के लिए अपनी ही राज्य-संस्था के मुख की ओर देखना पड़ा, और उस राज्य-संस्था को न्याय प्राप्त करने मे उन्हे सहायता देने के लिए बाध्य करने के कोई साधन न थे। जहाँ-जहाँ किसी नागरिक के साथ उसीकी राज्य-संस्था ने दुर्व्यवहार किया है, वहाँ-वहाँ अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून ने यह माना है कि वह मामला आन्तरिक-शासन का है और उसके अधिकार-क्षेत्र के बाहर है। कहा गया है कि राज्य-संस्था सर्वोपरि-सत्तात्मक सस्था है, इसलिए इस क्षेत्र में किसी को अधिकार नहीं है कि उसने जिन निर्णयो को करना उचित समझा उनपर आपत्ति उठावे।

तथापि, यह असम्भव नहीं है कि इन मामलो में हम एक नये युग के प्रारम्भ काल में हो। कोई सैद्धान्तिक कारण ऐसा नहीं है, कि, उचित ज़ाब्ता रखते हुए, क्यो किसी विदेशी को भिन्न देशीय

राज्य-संस्था द्वारा दुर्व्यवहार किया जाने पर स्थायी अन्तराष्ट्रीय न्यायालय जैसी संस्था में न्याय प्राप्त करने का अधिकार न हो। निःसन्देह, उसे न केवल अपने अभियोग को ही सिद्ध करना चाहिए, बल्कि यह भी बताना चाहिए कि अपनी रक्षा के जो उपाय दोषी राज्य ने स्वयं प्रस्तुत कर रक्खे हैं उन सबको भी उसने निःशेष कर दिया है। इसी प्रकार, इसका भी कोई कारण नहीं है, कि, क्यों, उचित परिस्थितियों में, किसी विशेष राज्य-संस्था का नागरिक, जो उन अधिकारों से वञ्चित किया गया हो जिनकी रक्षा के लिए वह राज्य-संस्था अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा प्रतिज्ञा-बद्ध है, दोषी राज्य-संस्था पर उसके दुर्व्यवहार के लिए अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में दावा न कर सके। उदाहरणतः १९१९ के सन्धि-पत्रों के अनुसार, यहूदियों को भेद-भाव करनेवाले कानूनों से रक्षा का अभिवचन दिया गया है, इसका कोई सैद्धान्तिक कारण नहीं है कि क्यों रूमानिया या हङ्गेरी के किसी यहूदी को जो यह सिद्ध कर सकता हो कि उसकी शिक्षा-सम्बन्धी सुविधाओं को रोकने के लिए कानून बनाया गया है, और उससे उसे विशेष हानि होती है, न्यायालयों द्वारा रक्षा पानेकी स्वतन्त्रता न हो। इस विचार को कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का अस्तित्व व्यक्ति के संरक्षण के लिए ही है, हम जितना बढा सकेंगे, उतना ही व्यापक उसका बाध्यता-सम्बन्धी बल होगा। हमारे सामने जो वास्तविकतायें हैं, उनकी दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय दण्ड-कानून का होना एक अविलम्ब्य आवश्यकता है, और अन्तराष्ट्रीय सङ्गठन जितना-

जितना विकसित होगा, उसकी आवश्यकता भी उतनी-उतनी ही अविलम्ब्य होगी। जिस प्रकार राज्य-संस्था अपने राष्ट्रीय दोषो के लिए अपने न्यायालयो मे उत्तरदायी होती है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे भी उसका उत्तरदायित्व जितना अधिक होगा, उसका कार्य भी उतना ही अधिक आदरणीय होगा।

इस विश्लेषण के परिणामो पर विचार करना भी उचित होगा। सौ वर्ष पूर्व, ऑस्टिन के लिए क़ानून का विवेचन राज्य-संस्था तक सीमित कर देना उतना ही स्वाभाविक था जितना कि मध्य-युगी विचारक के लिए उसपर विश्व-सम्बन्धी दृष्टि के अतिरिक्त अन्य दृष्टि से विचार करना असम्भव था। ऑस्टिन के ससार मे राज्य-संस्था ही संस्थाओ के विकास की अन्तिम सीढ़ी प्रतीत होती थी, प्रतिद्वन्द्विता ही उस संसार का नियम था, और उस प्रतिद्वन्द्विता का आधार अठारहवी शताब्दि के कल्याणकारी आशावाद के फलस्वरूप आया हुआ यह विचार था, कि यदि हम प्रकृति की स्वच्छन्द इच्छा पर विश्वास करें तो वह अन्त मे सब बातो को ठीक कर देती है। यह वही आशावाद है जो एडेमस्मिथ के "अदृश्य हाथ" मे, वैन्थेम के इस उग्रवाद मे कि सामाजिक बुराइयो की अन्तिम औषधि इक़रार की स्वतन्त्रता है, और हैगेल की इस शिक्षा मे कि ऐतिहासिक विकास अधिकाधिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति को प्रकट करता है, दिखाई देता है।

परन्तु हमारा संसार भिन्न संसार है। आज हमे जो बात स्पष्टतया दिखाई देती है वह राष्ट्रो की पृथकता नहीं किन्तु

अन्तर्राष्ट्रीय अधीनता, प्रतिद्वन्द्विता का महत्व नहीं किन्तु सहयोग की आवश्यकता है। हमने यह जान लिया है कि यदि राज्य-संस्था को अन्य राज्य-संस्थाओं से शान्तिपूर्ण और सुसम्बद्ध सम्पर्क रखना आवश्यक है, तो वह स्वाश्रयी जीवन व्यतीत नहीं कर सकती, जैसा कि अरस्तू का विचार था, वह बृहत्तर समाज का, जिसकी आवश्यकताएँ उसके जीवन के प्रत्येक पहलू में ओतप्रोत है, एक भाग है। हमे यह मालूम होगया है कि जबतक परस्पर सौदा करने की शक्ति की समानता न हो, तबतक व्यक्ति को इकरार की स्वतन्त्रता देना अर्थहीन है। वास्तव मे, सर्वोपरि राज्य-संस्था का आदर्श उतना ही भयङ्कर होगया है जितना कि अपनी राज्य-संस्था के विरुद्ध खड़े होनेवाले सर्वत:-पृथक् व्यक्तियो का पुराना आदर्श। हमे समाज के सम्बन्ध मे एक ऐसी प्रयोजन-परक व्याख्या निर्माण करनी है जिसमे शक्ति का सङ्गठन इसलिए हो कि हमारे सुख की अवस्थाये (सामग्री) उपलब्ध होजायँ। यह विचार कि यह शक्ति समाज के किसी भाग की अनियन्त्रित इच्छा-शक्ति के हाथ मे छोडी जा सकती है, उत्तम जीवन का विरोधी सिद्ध हुआ है। हमारे संसार मे राज्य-संस्था की सर्वोपरि सत्ता उतनी ही निकम्मी होगई है जितनी कि तीनसौ वर्ष पूर्व रोमन चर्च की सर्वोपरि-सत्ता होगई थी।

कहने का तात्पर्य यह है कि हम राज्यो के परस्पर सम्पर्कों के क्षेत्र को असङ्गठित नहीं छोड सकते, और ज्योही हम उसका सङ्गठन करने लगते है त्योही यह स्पष्ट होजाता है कि राज्य-संस्था

की सर्वोपरि सत्ता के होने का अर्थ अराजकता है। उसे स्थानीय सम्वन्ध के मामलो पर नियन्त्रण करने का तो अधिकार है, परन्तु जिन मामलो से अन्य राज्य-संस्थाओ का सम्वन्ध है उनमे एकाधिकार कर लेने की उसे स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती। इसलिए, हमारे मतानुसार, राजनीति की समस्याओ का स्वाभाविक हल इसी प्रकार हो सकता है कि राज्य-संस्था को बृहत्तर समाज के एक प्रान्त की दृष्टि से देखा जावे, और इसलिए इस बात पर जोर दिया जावे कि उसके नियम आवश्यक रूप से बाहर के व्यापक हितो की अधीनता द्वारा सीमित है। इस बात मे तो हम सहमत हो सकते है कि बृहत्तर समाज का सङ्गठन करना और जिस क्षेत्र पर उसका नियन्त्रण रहेगा उसके उपयुक्त संस्थाओ का आविष्कार करना बड़ा भारी काम है। परन्तु उस प्रयत्न की सफलता उसी दृष्टि से ध्यान-पूर्वक विचार करने से जितनी हो सकती है उतनी और किसी प्रकार नहीं हो सकती। जितना अधिक हम इस बात का अनुभव करेगे कि राज्य-संस्था का सर्वोपरि रूप एक ऐसी ऐतिहासिक अवस्था थी जो अब निकम्मी होचुकी है, उतना ही अधिक हम अपनी परिस्थितियो के उपयुक्त होनेवाले न्याय-विज्ञान की विचार-दृष्टि प्राप्त करते जायँगे। नया संसार पुराने संसार के वर्गीकरण से उचित-रीत्या रहने की आशा नही कर सकता।

दूसरी ओर यह भी सम्भव है कि अन्तर्राष्ट्रीय सङ्गठन करने का हमारा प्रयत्न निष्फल होजाय। जिन संस्थाओ ने सत्ता प्राप्त कर ली है वह अपने अधिकार को सरलता से नहीं त्यागतीं। जो राज्य-

संस्था भयङ्कर बलशाली रही है वह प्रसन्नता से वश में नहीं आ सकती। जो कोई हमारे सामने उपस्थित होनेवाले सङ्घर्षों की सम्भावनाओं, आर्थिक विरोधों, जातिगत विद्वेषों, राष्ट्रीय और धार्मिक ईर्षाओं को देखकर यह विचार करे कि शान्ति की सम्भावना बहुत ही थोड़ी है, तो उसका ऐसा करना क्षम्य है। हम निःशस्त्रीकरण के आदर्श का मौखिक समर्थन करते हैं, परन्तु गम्भीरतापूर्वक निःशस्त्रीकरण नहीं करते। हम संरक्षकता (ट्रस्टीपन) के सिद्धान्त की प्रशंसा करते है, परन्तु हमसे जहाँतक बन सकता है वहाँतक हम अपने शासन-निदेशों (मेण्डेट्स) को पुराने औपनिवेशिक सिद्धान्तों के अनुसार ही सञ्चालित करते हैं। आर्थिक राष्ट्रीयता की पुनरावृत्ति होना हमारे युग की सबसे घातक विशेषता है। रूस, उदीयमान पूर्व, उन अल्प-संख्यक समुदायों की तीव्र राष्ट्रीयता जिनके स्वाभिमान को विदेशी राज्यों के अन्तर्गत होने से हानि पहुँचती है, अमेरिका के बृहदुत्पत्ति सम्बन्धी नवीन औद्योगिक विज्ञान के फल-स्वरूप उत्पन्न होनेवाला सर्वग्राही साम्राज्यवाद, यह सब कारण हमे इस परिणाम पर पहुँचने से रोकते हैं कि प्रगति ही सृष्टि का अनिवार्य नियम है। स्वतन्त्रता और सुख कभी प्राप्त नहीं हो सकते, यदि हम उनके लिए प्रयत्न न करे, और, यदि हम शान्ति के लिए प्रयत्न न करे तो भी स्वतन्त्रता और सुख प्राप्त नहीं हो सकते। हमे यह जानना होगा कि शान्ति प्राप्त करना एक आनन्दप्रद साहसी कार्य है, जिसमे उतने ही महत्वपूर्ण बलिदान करने पडेंगे और उतने ही बडे खतरे उठाने पडेंगे जितने कि युद्धों

मे उठाने पडे है। हमे उसका उचित मूल्य चुकाने के लिए इच्छुक होकर उसे प्राप्त करने के अपने अधिकार को सिद्ध करना होगा।

इसका निश्चित विश्वास किसी को नही हो सकता कि हम सफल ही होंगे। यदि हम अपने लक्ष्य को प्राप्त करने का मार्ग जानते भी है, तो भी हम उसपर चलने के कष्टो से डरते है, इसके अतिरिक्त ऐसे मनुष्य भी थोडे नही हैं, और वे अधिकांश शक्तिशाली मनुष्य हैं, जो उस लक्ष्य का तीव्र निराकरण करते है। उसको प्राप्त करने के लिए, राज्य-संस्था को अपने आपको झुकाना पडेगा, और धनिको को बलिदान करना पडेगा। यदि हम न्याय-पूर्ण न हो तो, हम स्वतन्त्र नही हो सकते, और न्याय-पूर्णता का मूल्य है समानता। ऐसी कल्पना करने के लिए हमारे पास कोई स्वाभाविक कारण नही है, कि जो लोग शक्ति रखते है और उसका उपभोग करते है, वे, जिन आदर्शो को नही मानते उनके लिए उसका त्याग कर देंगे। यदि वे अपनी सत्ता की रक्षा के लिए लड़े, तो उन्हे सफलता की थोडी बहुत आशा है ही। यदि वे विजय पाते है तो, जैसा कि इटैली का आधुनिक इतिहास बताता है, वे भीतर निरङ्कुशता स्थापित करते है और बाहर अराजकता की सम्भावना उत्पन्न करते है, और यदि उनकी पराजय होती है तो भी, जैसाकि रूस का इतिहास बताता है, परिणाम भिन्न नही होता। शान्ति की विजय शान्ति की गहरी और व्यापक इच्छा पर निर्भर है, और वह इच्छा तबतक न गहरी हो सकती है और न व्यापक, जबतक कि उसके परिणामो मे रुचि इतनी भिन्न-भिन्न है। न्याय-परायणता के लिए

वलिदान करने की भावना अभी मानव-जाति की मानसिक प्रवृत्ति नहीं बनी है। जहाँ हमारा मतभेद होता है, वहाँ प्रसन्नता-पूर्वक सहिष्णुता रखना भी हमने नहीं सीखा है। हमारे सङ्घर्षों मे अभी तक मत-मतान्तर सम्बन्धी युद्धो की सारी कटुता विद्यमान है, केवल मतो का तत्व वदल गया है।

वास्तव मे हमारी जैसी पीढी को, जिसके पैर गहरी खन्दक के इतने समीप है, अपने भविष्य के विषय मे आशावादी होने का अधिकार नहीं है, यह वात, कि, वह मार्ग जानती है, इस वात का कि, वह मार्ग पर चलना पसन्द करेगी, प्रमाण नहीं है। परन्तु विचित्रता यह है कि इसी वात मे हमारी सवसे वडी आशा निहित है। हमे अपने-आप के विषय मे इतनी आशङ्काये है कि हमे नवीन-नवीन प्रयोगो को करना पड़ता है। हमने दु खान्त अनुभवों से यह शिक्षा ग्रहण की है कि उच्च प्रवृत्तियाँ भी अ-स्थायी है; सम्भवत. हमने यह भी जान लिया होगा कि उनकी शक्ति के पुन परीक्षण करने मे खतरा है। सम्भव है, केवल इस वात का ज्ञान कि यदि वड़े परिमाण मे कोई और सङ्घर्ष होजाय तो हमारी सभ्यता की देन स्मरण-मात्र के लिए भी न रहेगी, हमारे स्वभाव मे ऐसा परिवर्तन उत्पन्न कर दे कि जिससे न्याय-पूर्णता केवल सार-हीन आदर्श ही न रहे। इतना होते हुए भी उत्तम जीवन वनाने मे सवकी सामान्य रुचि हो सकती है, और सम्भव है कि उसको वनाने की कठिनाई ही उसकी सुन्दरता की प्राप्ति करा दे।

पुस्तकों के विषय में सूचना

राज-नीति के अध्ययन करने का सबसे अच्छा मार्ग इसकी उत्तमोत्तम पुस्तको को ध्यान-पूर्वक पढ़ना है। यदि ऐसी पुस्तको की कोई सूची यहाँ दी जाय तो वह बहुत अधिक स्थान ले लेगी, परन्तु पाठको को निम्न लिखित पुस्तको से तो परिचित होना ही चाहिए—

Plato: The Republic. (Jowett's translation, Oxford University Press).

Aristotle: Politics. (Jowett's translation, Ed. Davis Oxford).

Augustine: The City of God.

Dante: De Monarchia.

Hobbes: Leviathan (Ed. Pogson-Smith, Oxford University Press)

Locke: Second Treatise on Gover
(Everyman's Library)

Rousseau . The Social Contract. (Allen & Unwin) The best edition is that in French by Dreyfus-Brisac, Paris, Alcan

Burke: Reflections on the French Revolution (Ed. Payne, Oxford).

Mill : On Liberty and Representative Government. (Everyman's Library).

T. H. Green . Principles of Political Obligation (Longmans Green & Co)

Marx and Angels: The Communist Manifesto (Laurence) The best edition is that in French by C. Andler, Paris, Rieder).

अधिक आधुनिक विचेचन निम्न लिखित पुस्तकों में से अध्ययन किया जा सकता है।

G. D. H Cole . Social Theory (London, Methuen).

R. M. Maciver · The Modern State. (London, Oxford University Press.).

H. J. Laski : Liberty in the Modern State (London, Faber and Faber).

Hugh Cecil, Lord: Conservatism (Thornton Butterworth)

W. Y. Elliott : The Pragmatic Revolt in Politics (Macmillan).

L. Duguit : Law in the Modern State. (Allen and Unwin)

L. T. Hobhouse . The Metaphysical Theory of the State (Allen & Unwin).

H. Kelsen : Allgemeine Staatslehre (Berlin).

Carre' de Malberg : Theorie Generale de l Etate, (Paris, Sirey)

R.H. Tawney The Acquisitive Society (Geo. Bell & Son.) Equality, (Allen & Unwin).

विशेष शब्दों का अनुवाद

Imperatives	विधि-निदेश
Precepts	नीति-निदेश
Guarantee	अभिवचन
Assurance	प्रतिज्ञान
Competence	अधिकार-क्षेत्र, अधिकार-शक्ति
Judiciary	न्यायकारिणी
Jury	सहायक-न्याय-मण्डल
Two-Chamber System	द्वि-खण्ड प्रणाली
Allegiance	निष्ठा
Vote	मत
Suffrage	मताधिकार
Sovereign	सर्वोपरि
Procedure	जाब्ता
Process	क्रम
Nomination	नियोजना
Unitary	एक घटकात्मक

Federal	बहु-घटकात्मक, सङ्घीय
Referendum	उपस्थित प्रस्ताव पर सार्वजनिक सम्मति-निर्धारण की विधि
Initiative	मौलिक प्रस्ताव उपस्थित कर सकने की विधि
Record	लेख-प्रमाण
Registration	लेखेन-प्रमाणित करना
Mandate	शासन-निदेश
Sanction	पालन कारयित्री शक्ति
Plebian	साधारण जन
Patrician	कुलीन जन
Law	क़ानून
Jurisprudence	न्याय-विज्ञान
Civil Service	सेवा-श्रेणी
Democracy	प्रजातन्त्रवाद

'नवजीवनमाला' की पुस्तकें

१–गीताबोध—महात्मा गाँधी कृत गीता का सरल तात्पर्य —)॥

२–मंगल प्रभात—महात्मा गाँधी के जेल में लिखे सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि पर प्रवचन —)॥

३–अनासक्तियोग—महात्मा गाँधी कृत गीता की टीका— =)
श्लोक सहित ≡) मजिल्द ।)

४–सर्वोदय—रस्किन के Unto This Last का गाँधीजी द्वारा किया गया रूपान्तर— —)

५–नवयुवकों से दो बातें—प्रिंस क्रोपाटकिन के 'A word to young men' का अनुवाद— —)

६–हिन्द-स्वराज्य—महात्माजी की भारत की मौजूदा समस्या पर लिखी प्राचीन पुस्तक जो आज भी ताजी है— ≡)

७–छूतछात की माया—खानपान सम्बन्धी नियमों तथा व्यवहार के बारे में श्री आनन्द कौसल्यायन की लिखी दिलचस्प पुस्तक —)

८–किसानों का सवाल—ले० डॉ० अहमद की इस छोटी-सी पुस्तिका में भारत के इन गरीब प्रतिनिधियों के सवाल पर बड़ी सुन्दरता से विचार किया गया है। हरेक भारतीय को इसको समझना और पढ़ना चाहिए। ।)

९–ग्राम-सेवा—आजकल जिधर देखो उधर ग्राम-सेवा की ही चर्चा सुनाई देती है—पर वह ग्राम-सेवा किस प्रकार हो—इसपर गाँधीजी ने इसमें विशद प्रकाश डाला है— —)

१०–खादी और गादी की लड़ाई—ले० आचार्य विनोबा =)

'लोक साहित्य माला' की पुस्तकें

१–गाँवों की कहानी	(स्व० गौड़जी)	॥)
२–महाभारत के पात्र–१	(नाना भाई)	॥)
३–संतवाणी	(वियोगी हरि)	॥)
४–अंग्रेजी राज में हमारी दशा	(डॉ० अहमद)	॥)
५–लोक-जीवन	(काका कालेलकर)	॥)

सस्ता साहित्य मण्डल

सर्वोदय साहित्य माला : छियासीवां ग्रन्थ

[लोक साहित्य माला   सातवीं पुस्तक]

[८६ : ७]

हमारे

अधिकार और कर्त्तव्य

प्रस्तावना लेखक

श्री० श्रीप्रकाश एम० एल० ए०

लेखक

कृष्णचन्द्र विद्यालङ्कार

सस्ता साहित्य मण्डल

दिल्ली · लखनऊ

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री,
सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली।

संस्करण
मई १९३९ : २०००

मूल्य
आठ आना

मुद्रक,
एस० एन० भारती,
हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस,
नई दिल्ली।

प्रस्तावना

देश के सार्वजनिक क्षेत्र में थोडा बहुत काम करते-करते पचीस वर्ष मुझे भी हो गये। जब स्कूल और कालेज में पढता था, तब भी विद्यार्थी-सम्बन्धी कुछ-न-कुछ सार्वजनिक काम करने का शौक था ही। इतने दिनो और विविध क्षेत्रो में काम कर चुकने के बाद यह प्रश्न मेरे मन में इधर कुछ दिनो से बराबर बडे वेग से उठ रहा है कि क्या वजह है कि इतना त्याग और परिश्रम करने पर भी, हर क्षेत्र में इतने बडे-बडे सुयोग्य नेताओ के होते हुए भी हम भारतवासी सामूहिक रूप से वास्तविक उन्नति नही कर पा रहे हैं ? देश वहीं का वही क्यो पडा हुआ है ?

मै तो इसी नतीजे पर पहुँच सका कि इसका मूल कारण यही है कि हमारे जन-साधारण में नागरिकता के गुणो का पूर्णतया अभाव है। थोडे से बडे बडे व्यक्ति-विशेष हो ही कर क्या करेंगे, जब साधारण नर-नारी, ग्राम और शहर के वासी, अपने प्रतिदिन के अपने अधिकार और कर्तव्य को नही जानते और अपने जीवन को असघटित रखकर सारे समाज का विच्छेद करते हैं। मै स्वय भी एतत्सम्बन्धी विषयो पर लिखता बोलता रहा और जब श्रीकृष्णचन्द्र विद्यालकारजी ने अपनी पुस्तक 'हमारे अधिकार और कर्तव्य' मुझे दिखलाई तो मुझे विशेष प्रसन्नता हुई और जब उन्होने उसकी प्रस्तावना लिखने का आग्रह मुझसे किया, तो मैंने उससे अपने को सम्मानित माना।

अधिकार और कर्तव्य ये एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। जो पाना किसी व्यक्ति का अधिकार होता है, उसे करना दूसरे का कर्तव्य होता

है । जो करना किसी व्यक्ति का कर्तव्य होता है, वही पाना दूसरे का अधिकार होता है । समाज में देना-पावना हर क्षण लगा रहता है । इस कारण यह दोनों एक-दूसरे से ऐसे सम्बद्ध है कि इन्हे पृथक् करके देखना असम्भव है । ऐसी अवस्था में इटली के विधायक मात्सीनी की तरह, जिनका उल्लेख उचित प्रकार से इस पुस्तक में किया गया है, मुझे भी यही ठीक प्रतीत होता है कि कर्तव्यो पर ही अधिक जोर देना चाहिए। कर्तव्य पालन करने से अपना उपयुक्त अधिकार स्वय ही मिल जायगा।

कर्तव्य की ही शिक्षा देना अधिक उचित भी है । इससे मनुष्य अपने ही अधिकार न देख दूसरो के अधिकारो को पहचानता है और समाज में अपना स्थान समझता है । अधिकारो पर ही जोर देने से अपनी प्रकृति के विवश मनुष्य की भावना कुछ दूसरी ही होजाती है और वह ससार की रचना अपने सुख के लिए समझने लगता है । पुस्तक रचयिता ने एक अच्छी और नई शैली निकाली है और अपने विचारो को व्यक्त करने के लिए उन्होने किसी नवयुवक के नाम पत्र लिखे है। जीवन के भिन्न-भिन्न अगो में नियन्त्रित स्वतन्त्रता-सम्बन्धी जो विचार उत्पन्न हो सकते है, उनकी सरल भाषा में आपने अच्छी मीमासा की है । पुराने और नये, पाश्चात्य और पूर्वी लेखको के विचारो का सग्रह करके अपने मत की पुष्टि करते हुए अपने पाठको को अच्छी और व्यवहार्य सलाह भी दी है। पुस्तक से सुन्दर तरह से प्रतीत होजाता है कि समाज को सुसघटित करने और उसे सुचारू रूप से चलाने की भावना और आकाक्षा सब ही विचारवानो के मन में कितने दिनो से चली आ रही है ।

हम बहुत दिनो तक व्यक्तिवादी रह चुके । अपनी-अपनी डफली अलग-अलग बहुत बजा चुके । अपनी आत्मा के मोक्ष की खोज के बहाने बहुत स्वार्थ-साधन भी कर चुके । अपने महत्त्व की आकाक्षा से देश

को ख़राब भी बहुत कर चुके। आवश्यकता अब इसकी है कि व्यक्ति और समष्टि का परस्पर का समुचित सम्बन्ध स्थापित हो और हमारे दलित समाज का उत्थान और उद्धार हो। नागरिकता के सच्चे ज्ञान से ही यह सम्भव है।

अस्पृश्यता और अविश्वसनीयता यह हमारी दो विशेषतायें रही हैं। और ये ही हमारी महा त्रुटियां भी रही हैं। शारीरिक अस्पृश्यता ही नहीं, हमको एक दूसरे के प्रति मानसिक अस्पृश्यता भी है। यह भाव हमें एक दूसरे से अलग रखता आया है। परस्पर के विश्वास का तो पूरा ही अभाव है। छोटे बडे किसी भी काम में कोई किसी पर वास्तव में पूर्णतया विश्वास कर ही नही सकता। समाज का सघटन इसी पर निर्भर करता है कि सबपर सब विश्वास कर सके कि जो जिसका काम है, वह करेगा, जो जिसने करने का जिम्मा लिया है वह पूरा होगा, जो व्यवहार अपनेको प्रतिकूल प्रतीत होता है वैसा दूसरे के साथ कोई न करेगा, और ऐसे आचरण से सदा सब कोई परहेज करेगा, जिससे व्यर्थ का कष्ट किसीको हो अथवा उसकी सम्भावना हो। यह सब तभी सम्भव है, जब हममें नागरिकता के गुणो का सन्निवेश हो। यह अपने अधिकारो और कर्तव्यो के समझने पर ही निर्भर करता है। मुझे आशा है कि यह पुस्तक इन विषयो की आवश्यक शिक्षा देने में सफल होगी, और सर्वसाधारण इससे पूरा लाभ उठावेगे।

सेवाश्रम, बनारस,
१० अप्रैल १९२९।

श्रीप्रकाश

दो शब्द

समाज की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं पर यदि हम एक नजर डालें, तो हमें मालूम होगा कि उनकी तह में दो मुख्य कारण हैं। कहीं तो समस्याओं का कारण यह है कि मनुष्य अपने अधिकारों को ही नहीं जानता और इसलिए वह प्रबल द्वारा कुचला जा रहा है, शोषित हो रहा है। कहीं इस नाजुक हालत का इससे भिन्न कारण है कि मनुष्य अपने अधिकारों का स्वामी है, स्वयं शक्तिसम्पन्न है, लेकिन अपना कर्तव्य नहीं समझता और दूसरे के अधिकारों का अपहरण करने में लगा हुआ है। आर्थिक हो, राजनीतिक हो या सामाजिक, सभी क्षेत्रों में ये ही दोनों कारण आज प्राय सभी समस्याओं के मूल में हैं। परतन्त्र देशों की, शोषित वर्गों की, दलित जातियों की तकलीफें पहले कारण को दूर करने से—अपने अधिकार समझने और उन्हें पाने से दूर हो सकती हैं। स्वतन्त्र बली राष्ट्रों और सम्पन्न श्रेणियों की समस्यायें अपना कर्तव्य समझने से—दूसरे का अधिकार अपहरण न करने से हल हो सकती हैं। वेद में जहाँ एक ओर **"स्याम पतयो रयीणाम्"** कहकर धनधान्य की प्रार्थना की गई है, वहाँ दूसरी ओर **"मा गृध कस्यस्विद्धनम"** कहकर दूसरे के स्वत्व-अपहरण का निषेध भी किया गया है। दूसरे का अधिकार छीन कर हम खुशहाल न बनें।

ससार के इतिहास मे ऐसा अनेक बार हुआ है, जबकि एक निर्बल जाति या श्रेणी ने निरतर सघर्ष के बाद अधिकार पा लिये, लेकिन फिर भी उस देश मे अशान्ति और सघर्ष बने ही रहे। इसका मुख्य कारण यह है कि वह स्वय अधिकार पाकर दूसरे के अधिकार-रक्षा के अपनी

कर्तव्य को भूल गये । वे पहले स्वय शोषित थे, पीडित थे, अव शोषक और पीडक वन गये । अधिकार और कर्तव्य के समन्वय से ही दरअसल ससार की समस्याओ का हल हो सकता है । जहा स्वय उन्नति करना वहुत जरूरी है, वहा दूसरे की उन्नति भी उससे कम जरूरी नही है । अधिकार और कर्तव्य के इस विवेचन का आधुनिक परिभापा में नाम 'नागरिक शास्त्र' है ।

यो तो आज हम भारतीयो को वहुत कुछ सीखना है, लेकिन नागरिक शास्त्र की शिक्षा हमारे लिए वहुत अधिक जरूरी है, क्योकि न हम अपने अधिकार समझते है न अपने कर्तव्य । न हम लेना जानते है, न देना । राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक अधिकारो तथा कर्तव्यो—दोनो का हमे ज्ञान प्राप्त करना है । इनके ज्ञान से ही हम सच्चे नागरिक होकर अपनी, अपने गाव या ज़िले की, अपनी मातृभूमि की और समस्त विश्व की उन्नति में सहायक हो सकते है ।

इस विषय पर भी हिन्दी मे दो चार से अधिक पुस्तके मेरे देखने मे नही आयी । जो देखी है, वे विषय को रोचक और सर्वसाधारण के लिए सुगम वनाने की अपेक्षा राजनीति के विद्यार्थियो के लिए ही लिखी गई है । दूसरी कमी उनमें यह है कि लेखको ने अग्रेजी पुस्तको के आधार पर ही अपने विषय का प्रतिपादन किया है, मानो भारतीय शास्त्रकार या हमारे पूर्वज इस सवध में कुछ जानते ही न हो । इन पक्तियो व लेखक की सम्मति में केवल अग्रेजी ग्रन्थो के आधार पर लिखी गई पुस्तके जहा हमारी गौरव-हीनता की सूचक है, वहा हमारे लिए वहुत उपादेय भी नही हो सकती । इन वातो का खयाल रखते हुए यह पुस्तक लिखी गई है । विषय को अधिक रोचक, सरल और मनोरजक वनाने के लिए सारी पुस्तक को पत्रमाला का रूप दे दिया गया है । पत्रो में ऐसे

गभीर विषय को रखने मे मैं कहातक सफल हुआ हूँ, यह नही कह सकता। इस दिशा मे यह मेरा ही नही, शायद हिन्दी लेखको की दृष्टि मे भी यह पहला ही प्रयास है।

पुस्तक का अन्तिम पत्र, जिसमे कानून-सबधी चर्चा है, मै लिख न पाता, यदि मेरे सुहृद् भाई हरिश्चन्द्र गोयल, वकील मुझे उचित परामर्श न देते। इस पुस्तक के लिखने मे मुझे बीसियो पुस्तको से सहायता मिली है, जिनमें से कुछ मुख्य ग्रन्थो के नाम निम्नलिखित हैं— दी लिबर्टी इन दी मॉडर्न स्टेट (एच जे लास्की), दी लिबर्टी (जॉन स्टुअर्ट मिल), एन इट्रोडक्शन टू सिविक्स एण्ड पॉलिटिक्स (पुणताबेकर), गीता-रहस्य (बा० ग० तिलक), समाज-विज्ञान (चन्द्रराज भण्डारी), नागरिक शास्त्र (भगवानदास केला), हिंट्स आफ सेल्फ कल्चर (लाला हरदयाल) राज्यविज्ञान (गोपाल दामोदर तामसकर), दी ए० बी० सी० आफ सिविक्स (प्रो० बेणीप्रसाद), दी इडियन पिनल कोड और दी क्रिमिनल प्रोसीजर कोड। इनके अतिरिक्त कुछ पुस्तको का उल्लेख पत्रो में भी कर दिया है। बाबू श्री श्रीप्रकाश एम-एल ए ने अपना अमूल्य समय निकाल-कर इस पुस्तक की प्रस्तावना लिखने की कृपा की है। इसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

पुस्तक के छठे पत्र में चैकोस्लोवाकिया का जिक्र है, लेकिन वह फार्म छपने के बाद वह भी हिटलर के सर्वग्रासी मुख में समा गया है। अब उसकी कोई स्वतत्र सत्ता नही रही।

अन्त में विचारशील पाठको से एक निवेदन है। यदि इस पुस्तक के सबध में वे कुछ नये परामर्श देसके, तो मै उनका आभारी हूंगा और पुतक के द्वितीय सस्करण में उनका उपयोग करने का प्रयत्न करूँगा।

वैशाख संक्रान्ति १९९६] **कृष्णचन्द्र**

विषय-सूची

प्रस्तावना
१. व्यक्ति और समाज —३
२ मेरे अधिकार —१२
३ प्राण-रक्षा का मेरा अधिकार —२१
४ मेरी शारीरिक स्वतत्रता —२६
५ मेरी अपनी सरकार —३६
६ मताधिकार —४५
७ धार्मिक स्वतत्रता —५३
८ भारत में धार्मिक स्वतत्रता —५९
९ लिखने और बोलने की स्वत्रत्रता —६७
१० आर्थिक स्वतन्त्रता —७५
११ हमारे और अधिकार —८५
१२ हमारा देश आज़ाद हो —९३
१३ हमारे कर्तव्य —९७
१४ अपने लिए क्या करूँ ? —१०८
१५. मैं और मेरा परिवार —११७
१६ शहर या गांव का इन्तज़ाम —१२५
१७ गांव और उसके नागरिक —१३६

१८	मेरा देश	—१४५
२०	मेरे देश भाई	—१५५
२०	कर्त्तव्यो का सघर्ष	—१६७
२१	सत्य शिव सुन्दरम्	—१७०
२२	भारतीय नागरिक के कानूनी अधिकार	—१७३
	परिशिष्ट—१	—१८५
	परिशिष्ट—२	—१८७

हमारे

अधिकार और कर्तव्य

: १ :

व्यक्ति और समाज

१-५-३८

प्रिय अशोक,

कल तुम्हारा तार पाकर मन बहुत प्रसन्न हुआ कि तुम परीक्षा मे पास होगये हो और वह भी अपनी श्रेणी मे सबसे पहले नम्बर पर। आज तुम्हारा पत्र मिला। उससे यह जानकर और भी खुशी हुई कि तुमने अपने भावी जीवन का उद्देश्य लोक-सेवा निश्चित किया है। मैं तुम्हारे इस विचार से पूर्ण रूप से सहमत हूं कि आज के जमाने मे प्रत्येक विद्यार्थी का अपना जीवनोद्देश्य लोकसेवा ही बनाना चाहिए।

यहां सभी परिवार के लोग तुम्हे परीक्षा मे पास होने पर बधाई दे रहे है। सबकी इच्छा है कि तुम दो चार दिन के लिए यहां जरूर आ जाओ। मुझे आशा है कि तुम्हे भी इसमे कोई ऐतराज न होगा। परीक्षा के बाद कुछ दिन आराम कर लेना जरूरी भी होता है। आजकल की परीक्षा-पद्धति का अविष्कार किसने किया है और उसका उद्देश्य क्या रहा होगा, यह तो हम नहीं जानते, लेकिन इतना जरूर कहा जा सकता है कि उसका ख़याल परीक्षा को आज-कल का सा भयावना और स्वास्थ्य को चौपट करनेवाला तो न रहा होगा। यह खुशी की बात है कि आजकल भारतीय शिक्षा-विशारदों का ध्यान भी इस ओर गया है।

तुमने अपने पत्र मे एक बडी भारी जिम्मेदारी मुझ पर डालनी

चाही है। तुम प्रत्यक्ष सेवा कार्य में प्रवेश करने से पहले तुम्हारे कार्य की दिशा क्या हो और सबसे पहले कौन-सा कार्य लो, इस विषय मे मेरी सलाह चाहते हो। तुमने तो राजनीति, इतिहास, अर्थ-शास्त्र, धर्मशास्त्र आदि का अध्ययन भलीभाँति कर लिया है, हिन्दुस्तान की हालत से भी परिचित हो, और यह भी तुमसे छिपा नही है कि आज हमे किस चीज की जरूरत है। ऐसी हालत मे समझ मे नहीं आता कि मैं तुम्हे क्या तो कार्य-दिशा बताऊं और क्या तुम्हे भावी कार्य के बारे मे कोई सलाह दूं? लेकिन लोकसेवा के एक खास अंग—हमारे नागरिक अधिकार और कर्तव्य के बारे मे मेरे कुछ अपने विचार है। संभव है, इनसे तुम्हे कुछ सहायता मिले और अपना कार्यक्रम निश्चित करने मे कुछ सहूलियत हो, इस कारण इस बारे मे अपने विचार इन पत्रों मे देने का मेरा खयाल है।

अपने विषय की चर्चा करने से पहले मनुष्य या मनुष्यसमाज क्या है, कर्तव्य क्या है और अधिकार क्या है, आदि प्रारंभिक बातों पर थोड़ा-सा विचार कर लेना चाहिये। इससे हमे आगे की बातें समझने मे बड़ी सहूलियत रहेगी।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। सिर्फ यह नही कि वह समाज मे रहना चाहता है, लेकिन वह समाज की सहायता के बिना छोटी-से-छोटी हरकत भी नही कर सकता। भोजन, पानी, कपड़े आदि सभी जरूरतों के लिए उसे दूसरे व्यक्तियों का सहयोग लाजिमी होता है। भोजन की तैयारी में किसान, किसान के हथियार आदि बनाने-वाले बढ़ई, लुहार, कुम्हार, पानी के लिए नहरें खोदनेवाले मजदूर, एंजीनियर, गेहूं साफ करनेवाले, आटा पीसनेवाले और रोटी बनाने वाले आदि कितने ही व्यक्तियों की जरूरत होती है। एक स्थान से

दूसरे स्थान तक जाने के लिए गाडी या तागेवाले, गाडी बनानेवाले लुहार और बढ़ई, सडक कूटनेवाले, घोड़े की रास वगैरा बनानेवाले मोची आदि और रेल चलानेवाले, स्टेशन के विभिन्न कर्मचारी, रेल व इंजिन बनानेवाले आदि सैकडों व्यक्तियों की अपेक्षा होती है। मनुष्य कितना भी प्रयत्न क्यों न करे, समाज के सहयोग के बिना वह अपना साधारण गुजर भर भी नहीं कर सकता।

मनुष्य केवल अपने समकालीन या पडोसी समाज की सहायता पर ही अवलम्बित नहीं रहता। वह हजारों—और हिन्दुओं के अनुसार लाखों—बरसों पूर्व के समाज का भी ऋणी है। मनुष्य जाति ने—हमारे पूर्वजों ने धीरे-धीरे सभ्यता का जो विकास किया है, उससे हम सब लाभ उठाते हैं। आज हम जितने वैज्ञानिक आविष्कार देख रहे है, जो हमारे जीवन के लिए जरूरी से मालूम होते हैं, वे भी हजारो बरसों तक मनुष्य के क्रमिक विकास के फल हैं। मानवसमाज सृष्टि के प्रारंभ से ही इतना सुशिक्षित और साधन-सम्पन्न नहीं था। उसने बहुत धैर्य के साथ अपनी शिक्षा बढाई है, एक-एक करके अपने साधन बढाये हैं और हरेक साधन का धीरे-धीरे विकास व परिष्कार किया है। शान्ति व धैर्य के साथ किये गये इन हजारों और लाखों बरसों के परीक्षणों का ही यह फल है कि मनुष्य आज इतनी सभ्यता का दावा कर सकने लगा है। रहन-सहन, खेती तथा अन्न वैज्ञानिक आविष्कार ही नही, दर्शन, राजनीति, अर्थशास्त्र, चिकित्सा, आमद-रफ्त के साधन, उद्योग-धन्धे तथा हमारी दार्शनिक, राजनैतिक और आध्यात्मिक विचारधारायें तक सैकडों हजारों बरस पहले के मनुष्य के गंभीर और निरंतर प्रयत्नो की ऋणी हैं। मनुष्य समाज का भी धीरे-धीरे विकास हुआ है।

मनुष्य के जीवन के लिए समाज अनिवार्य है। इसलिए उसकी रक्षा भी अनिवार्य है। यदि समाज विशृंखल या शिथिल हो जाता है, बिखर जाता है या नष्ट हो जाता है, तो इसका लाजिमी असर मनुष्य पर भी पड़ेगा। संगठित और उन्नत समाज ही मनुष्य की उन्नति का साधन है। यदि वह बिखर गया, शिथिल हो गया या नष्ट हो गया, तो वह मनुष्य का भी हितसाधन न कर सकेगा और इसका नतीजा यह होगा कि मनुष्य भी नष्ट हो जायगा। धर्म के बारे मे कहा गया है कि "धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः" अर्थात मरा हुआ धर्म मनुष्य को भी मार देता है और रक्षित धर्म मनुष्य की रक्षा करता है। समाज मनुष्य को धारण करता है, इसलिए उसे भी धर्म कहा जा सकता है। यदि समाज की रक्षा न की गई, उसे मार दिया गया या नष्ट कर दिया गया तो यह मरकर मनुष्य को भी मार देगा। इस बात पर इतना जोर देने का एक कारण है। मैं यह समझता हूं और मेरा खयाल है कि तुम भी इससे सहमत होगे कि हम भारतीयों को यह सत्य समझ लेने की सबसे अधिक आवश्यकता है कि समाज व्यक्ति से छोटा नहीं है। हम भारतीय व्यक्ति के आगे समाज की उपेक्षा कर जाते है। अपने निजी लाभ की चिन्ता से हम दूसरों की—अपने कुल, मुहल्ले, गांव, शहर या देश-भर की हानि करने मे जरा भी सकोच नहीं करते। तुम्हे गांव या शहर मे रहते हुए ऐसे बहुत से मौके मिलेंगे, जब तुम इस सचाई को अनुभव करोगे। तुम देखोगे कि किस तरह प्रत्येक व्यक्ति अपने घर का सारा कूड़ा-कचरा गली मे बिना किसी झिझक के फेंक देता है या अपने घर के बालकों को दूसरों के घर के सामने टट्टी कराने को बिठा देता है, या चेचक आदि छूत के रोग को फैलाने से रोकने का कोई

प्रयत्न नहीं करता, या ऐसी कई बातें करता है जिसमे वह अपनी सफाई, सुविधा या लाभ का खयाल कर लेता है, लेकिन उससे दूसरे का—हमारे पडोसी का—हमारे शहर का—हमारे समाज का—हमारे देश का क्या अहित होता है, इस ओर जरा भी ध्यान देने की कोशिश नहीं करता।

सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र मे भी इस तरह के सैकडों उदाहरण देखने को तुम्हे मिलेंगे। इसका परिणाम भी हमारे सामने है। इससे, न केवल समाज की हानि होती है, वल्कि व्यक्तियों की अपनी हानि भी कम नहीं होती।

समाज के भी अनेक रूप है। परिवार, सभा कम्पनी, संस्था, म्यूनिसिपल कमेटी, सरकार आदि अनेक रूपों मे हम मनुष्य का सगठन पाते हैं। कोई ऐसी संस्था, जिसमे एक से अधिक व्यक्ति आपस मे मिलते हैं, समाज का एक रूप है। जव स्त्री और पुरुष विवाह सूत्र मे बॅधते हैं या एक मुहल्ले, ग्राम, शहर या देश के रहने वाले मिलकर कोई सरकार कायम करते हैं (या कोई राजा लोगों को मिलने के लिए वाधित करता है), या कुछ थोड़े अथवा वहुत आदमी किसी उद्देश्य से कोई संगठन—चाहे वह धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक या आर्थिक हो—वनाते है, तव वे सव समाज के ही विभिन्न रूप वनाते हैं। ये जुदे-जुदे समाज अपने-अपने क्षेत्र मे मनुष्य की भलाई करते हैं। जहां-जहां इन समाजों की उपेक्षा की जायगी, वहां-वहां इन समाजों के अग नुकसान उठायेंगे। इसके लिए तुम्हे उदाहरण देने की जरूरत नहीं। एक ग्राम-पंचायत जवतक सगठित, वलशाली और प्रगतिशील है, उस गांव के रहनेवालों की भी हालत अच्छी होगी। ग्राम-पंचायत के शिथिल होते ही गांववालों की उन्नति भी

रुक जाती है। तुम तो इतिहास के विद्यार्थी हो। भारत मे अंग्रेजी राज के आने के साथ ही ग्राम-पंचायतों की पुरानी और उपयोगी संस्था नष्ट हो गई। इसका जो भीषण और घातक असर भारतीय समाज पर पडा, उसे तुम भलीभांति जानते हो। जब किसी देश की सरकार कमजोर हो जाती है तब उस देश की हालत भी गिर जाती है। एक व्यापारिक कम्पनी की हालत बिगडने का असर उसके शेयर-होल्डरों पर जरूरी तौर पर पडता है। मतलब यह कि मनुष्य की उन्नति के लिए समाज की रक्षा जरूरी है। प्रत्येक भारतीय को यह सत्य समझने की जरूरत है। लोगों को यह समझाना इतना कठिन नहीं है, जितना उनके आचरण मे इसको उतारना है।

लेकिन सिर्फ समाज ही तो हमारा उद्देश्य नहीं है। समाज मनुष्य की उन्नति का साधन है, उद्देश्य नहीं। जो लोग समाज की उन्नति की चिन्ता मे इतना अधिक उलझ जाते हैं कि मनुष्य की निजी उन्नति का खयाल तक छोड देते हैं, वे भी भूलते हैं। समाज या संघ इसलिए नहीं कि वह अपने अवयवरूप सदस्यों के व्यक्तित्व का नाश करदे। वह तो उनके व्यक्तित्व के विकास मे सहायता देने के लिए है। लेकिन हम दुनिया के इतिहास मे ऐसे हजारों उदाहरण देखते हैं, जब समाज ने मनुष्य की उन्नति की बनिस्वत उसका पतन ही अधिक किया है। हर्बर्ट स्पेंसर तो समाज के अत्याचार से इतने अधिक दुःखी और क्षुब्ध हुए कि उन्होंने एक जगह कहा है कि राज्य रक्षक की अपेक्षा भक्षक ही अधिक है। साम्राज्यवादी सरकारों की सेनाएं ही नहीं, धर्म ने भी संगठित समाज के रूप मे मानवजाति पर जो भीषण अमानुषी और रोमांचकारी अत्याचार किये है, उनकी कहानी बडी ही करुण है। इसी समाज ने करोडों मनुष्यों के राजनैतिक, सामा-

जिक व आर्थिक अधिकारों को छीनकर उनकी दशा बहुत शोचनीय कर दी है। पूँजीवाद ने किसानों और मजदूरों की, धार्मिक समाज ने स्त्रियों और अछूतों की और विदेशी शासन ने पराधीनों की जो स्थिति की है, वह तुम से छिपी नहीं है। ऐसा समाज जो व्यक्ति की उन्नति मे सहायक नहीं होता, व्यक्ति के लिए आदर का पात्र किस तरह हो सकता है? जिस समाज मे मनुष्य को लिखने, बोलने, अपने धार्मिक विचार मानने, चलने फिरने, स्वतंत्रतापूर्वक कार्य करने की स्वतंत्रता नहीं है, मनुष्य उस समाज की चिन्ता क्यों करेगा?

इसलिए समाज ऐसा होना चाहिए, जिसमे उसके अवयवभूत मनुष्यों के अधिकारों पर हमला न होता हो। समाज साधन ही रहे, उद्देश्य न बन जाय। उस समाज मे रहकर मनुष्य सुखी हों, समृद्ध हो और उन्नतिशील हों। समाज मनुष्य की बहुमुखी उन्नति का कारण और सहायक बने, बाधक न बने। साधन और उद्देश्य का भेद एक उदाहरण से साफ कर दूं। भारत के पुराने शास्त्रकारों के मत से मानवजीवन का उद्देश्य है मोक्ष या सुख को पाना। आत्मा सुख की प्राप्ति के लिए कोशिश करता है। इस उद्देश्य के लिए परमात्मा ने मनुष्य को शरीर साधन रूप मे दिया है। पर जब मनुष्य आध्यात्मिक सुखप्राप्ति के उद्देश्य को भूलकर शरीर की सेवा मे लग जाता है तब वह अपने अन्तिम उद्देश्य तक कभी नहीं पहुच सकता। यह ठीक है कि शरीर साधन की भी रक्षा जरूरी है, लेकिन शरीर को ही उद्देश्य मान लेना भूल है। स्वस्थ और पुष्ट शरीर की इसलिए जरूरत है कि उससे अपने उद्देश्य तक आसानी से पहुँचने मे सहायता मिल सकती है।

लेकिन समाज बनाने के लिए भी व्यक्ति को कुछ-न-कुछ त्याग

करना पड़ेगा, किन्हीं नियमों का पालन करना पड़ेगा, समाज की रक्षा के लिए कुछ आवश्यक बंधन अपने ऊपर लगाने पड़ेंगे। यदि मनुष्य समाज की रक्षा की ओर से लापरवाह हो जाय, उसकी चिन्ता न करे तो समाज नष्ट हो जायगा और नष्ट समाज व्यक्ति को भी नष्ट होने से बचा न सकेगा। समाज की रक्षा भी करनी है और समाज को इतना भी जबरदस्त नहीं होने देना कि वह व्यक्ति पर हावी हो जाय और उसकी उन्नति को बिलकुल रोक दे। समाज मनुष्य की उन्नति मे बाधक न हो, और मनुष्य समाज की उन्नति मे बाधक न हो। दोनों एक दूसरे की उन्नति मे मददगार हों।

ऐसी स्थिति पैदा करने के लिए मनुष्य को समाज के प्रति जो कुछ करना पडता है, वह उसका कर्तव्य है। इसके बदले मे समाज को भी मनुष्य के जिन हितों की चिन्ता करनी चाहिए, वे मनुष्य के अधिकार है। समाज और विशेषकर ग्राम, नगर या देश के प्रति इन्हीं कर्तव्यों और अधिकारों के शास्त्र का नाम आजकल के पश्चिमी विचारकों ने 'नागरिक शास्त्र' या Civics रखा हुआ है। मनुष्य एक हाथ से समाज को अपने कर्तव्यपालन के रूप मे कुछ देता है और दूसरे हाथ से अपनी अधिकाररक्षा के नाम से कुछ ले लेता है। यह 'ले' और 'दे' का, ममत्व और समत्व का या स्वार्थ, परार्थ और परमार्थ का समन्वय ही हमे समझने की ज़रूरत है। मि० ह्वाइट के कथनानुसार अहकार पर परोपकार की विजय ही नागरिक शास्त्र का सार है। हम भारतीयों की हालत तो यह है कि हम न देना जानते हैं और न लेना। न तो हमे समाज की रक्षा की चिन्ता है और न अपने अधिकारों की रक्षा की।

मैं चाहता हूँ कि आगे के कुछ पत्रों मे इसी विषय पर कुछ प्रकाश

डालूँ। मैं नहीं जानता कि इस क्रम को कहाँतक निभा सकूँगा, लेकिन मैं कोशिश जरूर करूँगा कि कुछ पत्रों मे इस विषय के जुदे-जुदे अगो पर रोशनी डाल सकूँ। मनुष्य की उन्नति उद्देश्य है और समाज उसका साधन है, इसलिए मैं पहले मनुष्य के अधिकारों की चर्चा करूंगा और बाद मे उसके कर्तव्यों की। कर्तव्यपालन की भावना जरूरी होते हुए भी अधिकारों की इच्छा अधिक स्वाभाविक और वाछनीय होती है, इसलिए भी अधिकारों की चर्चा पहले होनी चाहिये।

पर एक बात लिख दूँ। मेरा दूसरा पत्र तबतक न आयगा, जब तक कि तुम एक बार आ न जाओगे। परीक्षा के बाद आराम आवश्यक है। फिर यहाँ भी सभी तुमसे मिलना चाहते हैं। आने की तारीख़ व गाडी से सूचित करना।

तुम्हारा स्नेहाधीन
कृष्णचन्द्र

: २ :

मेरे अधिकार

१५-५-३८

तुम्हारे आने की बाट बहुत देखी, लेकिन तुम न आ सके। अच्छा, फिर कभी सही।

मैंने पिछले पत्र मे तुमसे समाज के प्रति हमारे कर्तव्य और हमारे अधिकारों की थोडी-सी चर्चा की थी। पर यह समाज है क्या, यह कैसे बना और मनुष्य व समाज का आपस मे क्या सम्बन्ध है, इसपर कुछ ज्यादा विचार करने की जरूरत है।

ऐतिहासिकों का कहना है कि दुनिया के शुरु मे मनुष्य बिलकुल स्वतंत्र था। उसके लिए कोई बन्धन न था। वह जंगल मे रहता और शिकार करके अपना पेट भरता था। मनुष्य व मनुष्य के बीच के आपसी सम्बन्ध का तथा विवाह, खेती और पशुपालन आदि तक का उसे ज्ञान न था। धीरे-धीरे जैसे-जैसे उसका अनुभव बढ़ता गया, और उसे जीवन मे कठिनाइयाँ महसूस होती गईं, वैसे-वैसे एक दूसरे मनुष्य की सहायता की आवश्यकता—जिसे हम सहयोग या समाज की आवश्यकता कह सकते है—भी महसूस होती गई। समाज रचना के क्रमविकास का यह इतिहास बहुत दिलचस्प है। समाजरचना का वर्तमान रूप बहुत-सी सीढ़ियों को पार करने के बाद आया है। एक प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान के कथनानुसार मनुष्य तीन अवस्थाओं—जंगली समाज, कौटुम्बिक समाज और राजकीय समाज की अवस्थाओं को पार कर वर्तमान स्थिति तक पहुँचा है।

मनुष्य ज्यों-ज्यों विस्तृत और संगठित समाज की आवश्यकता ज्यादा अनुभव करता गया, उसके संगठन का दायरा भी उतना ही बड़ा होता गया। समाज-रचना का मुख्य उद्देश्य सुख की प्राप्ति था। अकेले रहकर सुख पाना कठिन था, इस कारण उसने दूसरे व्यक्ति को साथ लिया। परिवार से उसे सुख मिला तो सही, लेकिन वह पूरी तौर पर बेफिक्र न होसका। इसलिए उसे अपना दायरा और बड़ा करना पड़ा। बलवान आक्रमणकारियों के हमले से बचने के लिए उसने दूसरे मनुष्य के साथ मिलकर इकट्ठा रहना शुरू किया। इसमे भी उसका मुख्य उद्देश्य अपनी स्वाधीनता की रक्षा था। लेकिन इस से भी उसका उद्देश्य पूरा न हुआ। एक बलवान दल दूसरे दल पर हमला न कर सके, इसलिए उसे अपने संगठन का दायरा और भी विस्तृत करना पड़ा। इसी तरह बढ़ते-बढ़ते छोटे बड़े राज्य पैदा हुए। महाभारत के शान्तिपर्व मे लिखा है—"पहले राजाओं के न होने के कारण समाज मे बड़ी अव्यवस्था रहती थी। चारों ओर मत्स्य-न्याय का प्रचार देखने मे आता था। बलवान लोग निबलों को खा जाते थे। इस गड़बड़ी को मिटाने के लिए सब लोगों ने मिलकर नियम बनाया कि जो कोई दूसरे से कठोर भाषण या मारपीट करेगा, अथवा दूसरे के धन और स्त्रियों पर आक्रमण करेगा, उसका हम बहिष्कार कर देंगे। यह नियम चारों वर्णों पर एकसा लागू होगा।' इस नियम का भी पूरा प्रभाव नही पड़ा। तब सब प्रजा दुःखी होकर ब्रह्मा के पास गई और उनसे कहने लगी कि हमें एक ऐसा अधिपति दीजिए, जो सब लोगों को इस नियम का पालन करने के लिए विवश करे। यह सुनकर ब्रह्मा ने मनु को यह काम करने की आज्ञा दी। मनु ने यह कहकर इससे इन्कार कर दिया कि पापाचरण करने

वालों पर शासन करना भी पाप है। तब प्रजा ने मनु से कहा कि—"राष्ट्र मे जो पाप होगा, वह कर्ता को लगेगा, तू भय मत कर। तुझे हम पशुओं का पचासवां और अनाज का दसवां हिस्सा इन्तजाम के लिए देंगे। अस्त्र, शस्त्र और वाहन से संयुक्त हमारे सैनिक हमेशा तेरे साथ रहेंगे। इसके सिवाय हम लोग अपने धर्माचरण का भी चौथा भाग तुम्हे देंगे। तू सुख और आनन्द के साथ राज्य कर।" मनु ने इस शर्त को स्वीकार करके राज्यभार ग्रहण किया।

इसके बाद राज्यकल्पना मे भी विकास होने लगा और उसके अनेक रूप बन गये।

पर कैसा आश्चर्य है कि ज्यों-ज्यों मनुष्य की स्वाधीनता की रक्षा के लिए ये नवीन साधन उत्पन्न होते गये, त्यों-त्यों मनुष्य के पैरों मे ज्यादा-से-ज्यादा गुलामी की जंजीरे पड़ने लगीं। जिस रोग के इलाज के लिए धर्म, सामाजिक व्यवस्था और राज्य आदि साधन बनाये गये, उस रोग को हटाने के लिए उन सब ने एक नयी बीमारी पैदा करदी। "समाजरचना के गर्भ मे से सामाजिक गुलामी, धर्म के गर्भ मे से धार्मिक गुलामी और राज्यसत्ता के गर्भ मे से राजनैतिक गुलामी का जन्म होगया। ज्यों-ज्यों उसके सामाजिक सगठन का दायरा फैलता गया, उसकी गुलामी भी बढती गई। परिवार के साथ पारिवारिक बन्धन भी आगये। स्त्री को तो विशेषकर पति के अधीन होना पड़ा। पुरुष पर भी कम बन्धन न थे, उसे अब अपनी ही नहीं, अपने परिवार की चिन्ता भी करनी पडी। अब उसकी गति मे पहले की सी स्वच्छन्दता न रही कि जहाँ चाहा, चल दिया। परिवार की पराधीनता के बाद दल और गण की पराधीनता आई।

१ महाभारत—शान्तिपर्व, अध्याय ६६।

परिवारों को भी दलों व गणों की इच्छा के अनुसार चलना पडा। परिवार की इच्छा पर दल या गण की इच्छा हावी होगई। उसके बाद राज्य की सत्ता आई और वह दल या गण पर भी हावी हो गई। यह याद रखना चाहिए कि राज्यों के बन्धन सब जगह मनुष्य ने स्वयं ही अपने ऊपर नहीं लादे। बहुत-सी जगहों पर बलवान मनुष्य या जाति ने दूसरों पर जबरदस्ती भी अधिकार स्थापित कर लिया। बल-प्रयोग का यह सिलसिला आजतक दुनिया मे उसी तेज रफ्तार से जारी है। कभी-कभी तो ऐसा मालूम होता है कि दुनिया की शुरूआत मे मनुष्य जितना खूखार था, आज हजारों और लाखों साल गुजरने के बाद भी, सभ्यता की दिशा मे इतनी मंजिलें पार करने के बावजूद भी वह उतना ही खूखार है। साधनों की विविधता और प्रबलता होजाने से उसकी विनाशक प्रकृति और भी अधिक भयकर रूप मे प्रकट होने लगी है। मानव जाति का समस्त इतिहास ही आपसी मारकाट, लडाई, खूनखच्चर और कतलेआम से भरा पडा है। छोटे-बड़े राज्य या बड़े-बड़े साम्राज्य इसी हिंसा के परिणाम दीखते है। यह ससार का इतिहास भी तो एक प्रकार से मारकाट, खून-खच्चर, लूटमार आदि की एक सूची ही तो है। पर यह मैं थोडा अपने विषय से भटक गया। मैं कहना तो यह चाहता था कि ज्यों-ज्यों मनुष्य का सामाजिक सगठन इच्छा से या विवशता से विस्तृत और दृढ होता गया, उसकी आजादी भी उसी क्रम से कम होती गई। व्यक्ति, परिवार, दल या गण और राज्य सबकी आजादी उत्तरोत्तर अपने से बड़े और ताकतवर संगठनों मे विलीन हो जाती है।

राज्य और साम्राज्य मनुष्य की स्वतन्त्रता का अपहरण कैसे करते है, यह देखने के लिए दूर जाने की जरूरत नहीं। ब्रिटिश भारत

ओर भारतीय रियासतों पर एक नजर डाल लेना काफी होगा। रियासती प्रजा को अपने सगठन का कोई अधिकार नहीं। उस-पर राजा कितने ही मनमाने कर क्यों न लगा दे, प्रजा चूं नहीं कर सकती। लेकिन रियासती प्रजा को दबानेवाले राजा खुद भी ब्रिटिश सरकार के आगे इतने ही पराधीन हैं। ब्रिटिश भारत की प्रजा का भी अच्छा हाल नही है। सरकार को प्रत्येक प्रकार का छोटा-बडा टैक्स लगाने का अधिकार है। जनता का कोई भी जोरदार आन्दोलन लाठियों, मशीनगनों, हवाई जहाजों द्वारा बम-वर्षा से दबाया जा सकता है। भारत की आर्थिक नीति पर अंग्रेज सरकार का कब्जा है। सभी गुलाम राष्ट्रों की प्रजा की हालत है। बहुत से स्वतन्त्र फासिस्ट राज्यों मे भी प्रजा के अधिकारों को इसी तरह कुचला जाता है। पुराने जमाने की बाते न भी देखें, तो भी आज की दुनिया मे भी इसके उदाहरणों की कमी नही है। एकतन्त्र या डिक्टेटर शासनवाले देशों मे आज भी प्रजा की गुलामी की ऐसी सैकडों मिसाले मिलती है। रूस, इटली, जर्मनी के हाल तुम रोज अखबारों मे पढ़ते ही हो। वहाँ की सारी जनता स्टेलिन, मुसोलिनी और हिटलर की इच्छा के खिलाफ चूँ भी नहीं कर सकती। कहने का मतलब यह कि समाज के सगठन का नतीजा अन्त मे जाकर मनुष्य की गुलामी मे परिवर्तित हो जाता है।

सिर्फ राजकीय संगठन ही नहीं, सामाजिक और धार्मिक सगठनों ने भी मनुष्य की आजादी को कुचलने मे कोई कसर नही उठा रखी। अपने चारों ओर एक नजर देखो तो पता चलता है कि समाज ने दलितों के साथ कैसा भयकर व्यवहार किया है। पशुओं की अपेक्षा भी उन्हे गन्दी हालत मे रखा जाता है। उन्हे छूना ही नही, उनकी

छाया पड जाना भी पाप समझा जाता है और इसके लिए कपड़े धोकर नहाना पडता है। बहुत-सी आम सडकों पर चलने तक की उन्हे आज्ञा नहीं है। देवमन्दिरों मे दर्शन करने, सार्वजनिक कुओं पर नहाने, पानी भरने और स्कूलों मे पढने की भी उन्हे मनाही है। यही नहीं बल्कि अपने घर मे अच्छा खाना और अच्छा कपडा तक उन्हे नहीं खाने पहनने दिया जाता। नन्हा सा हरिजन बालक प्यास के मारे तड़प रहा हो, कीड़े-मकोडोंसे खाया जारहा हो, पानी मे डूब रहा हो, लेकिन उच्च सभ्यताभिमानी ब्राह्मण उसे नहीं बचावेगा, क्योंकि उसके छूजाने से वह अपवित्र होजायगा। हिन्दुस्तान को छोडदें रोम के पेट्रियार्कों ने प्लीबियनों के साथ जो दुर्व्यवहार किया, वह भी इतिहास से स्पष्ट है। हमारे यहां स्त्रियों के साथ भी तो धर्म और समाज ने कम अन्याय नहीं किया। सब दुर्गुणों की खान बताकर उन्हे सामाजिक जीवन मे बिलकुल पतित कर दिया गया। केवल हिन्दू-धर्म मे ही नहीं, दूसरे भी कई धर्मों ने स्त्री के साथ जी खोलकर अन्याय किया। "स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्" कहकर उसे ज्ञान और शिक्षा से वंचित कर दिया। धर्म की दुहाई देकर विधर्मियों पर जो रोमाचकारी अत्याचार किये गये, उनकी अपनी ही एक दुःखद कहानी है। कहने का मतलब यह कि जिस रूप मे मनुष्य ने सगठित होकर अपनी उन्नति चाही, उसी रूप ने मनुष्य के अधिकार छीनने की पूरी कोशिश की, हालांकि सगठन का उद्देश्य बिलकुल इससे उलटा था। मनुष्य ने अपने नैतिक विकास और सुख प्राप्त करने के लिए कोशिश की, लेकिन उसके गले गुलामी का इतना जबर्दस्त जुआ पड गया कि वह सगठन के अभाव मे भी जो उन्नति कर सकता था उससे भी वंचित हो गया।

जब मनुष्य ने अपनी यह पराधीनता अनुभव की, तब उसमे

प्रतिक्रिया उत्पन्न होने लगी। वह ऐसे समाज का विरोध करने के लिए कमर कसकर खड़ा हो गया। उसने डंके की चोट यह घोषणा करदी कि वह गुलाम बनकर नहीं रहेगा। यह ठीक है कि यह अनुभव करने मे मनुष्य को बहुत वक्त लग गया। पर जब एक बार वह समझ गया, तो समाज, राज्य या धर्म सब बंधनों को, जिनमे वह जकड़ा हुआ था, एकबारगी तोड़ फेकने के लिए खड़ा होगया। कई क्रान्तिकारियों ने तो जोश मे आकर यहांतक कहना शुरू कर दिया कि मनुष्य जाति के फायदे के लिए इनका एकदम नाश हो जाना ही जरूरी है। अराजकतावाद, अनीश्वरवाद और साम्यवाद जैसे क्रान्तिकारी वादों के पैदा होने का भी यही कारण है। मनुष्य को अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए सदियों युद्ध करना पड़ा। वह बहुत बार नाकामयाब हुआ, लेकिन वह निराश नहीं हुआ। दुगने वेग से फिर जुट गया। उसे बहुत जगहों पर सफलता मिली और बहुत जगहो पर असफलता का भी सामना करना पडा। दुनिया के प्रायः सभी कोनो मे यह युद्ध अबतक भी जारी है और जबतक मनुष्य अपने पूर्ण अधिकारों को प्राप्त नहीं कर लेगा, तबतक जारी ही रहेगा।

परन्तु इन अधिकारों का जिक्र करने से पहले एक बात फिर कह दूं। मनुष्य ने अपनी आजादी कायम रखने के लिए ही—बलवान आक्रमणकारी मनुष्य के अधिकारों पर कुठाराघात न कर सके, इस उद्देश्य से—समाज या राज्य की कल्पना की थी। अधिकारों की कल्पना संगठित समाज के बिना हो ही नहीं सकती। समाज मे रहकर ही अधिकार प्राप्त किये जा सकते है और समाज के लिए कुछ बन्धनों का होना जरूरी है। मतलब यह कि अधिकारों की रक्षा के लिए बन्धन लाजमी हैं। जब कोई संगठन न हो, तब

जान-माल का ठिकाना भी नहीं रहता। और इस हालत में कौन स्वतत्रतापूर्वक कार्य कर सकता है ? उस समय यदि किसी बात की आजादी है तो मारने की और मरने की। ऐसी हालत मे किसी उद्देश्य के अनुसार कार्य करना संभव नहीं होता। जब लोगों की मनमानी चलने लगती है, तब क्या लोगों की स्वतन्त्रता किसी भी रूप मे बची रह सकती है ? भीष्म पितामह शान्तिपर्व मे कहते है : "राजन्यसति लोकेऽस्मिन्कुतो भार्या कुतो धनम् ?" सरकार ही न हो तो हमारे परिवार और धन की रक्षा की गारन्टी नहीं हो सकती।

राज्य या समाज का कोई संगठन मनुष्य पर कुछ बंधन लगाता है। लेकिन जब यही बन्धन इतने अधिक अनिश्चित और असीमित हो जावें कि मनुष्य की आजादी कुचली जाने लगे, तब इन बन्धनों पर और इनके केन्द्रीभूत राज्य पर भी कुछ नियन्त्रण जरूरी हो जाता है। इस नियत्रण का उद्देश्य है मनुष्य की उस आजादी की रक्षा करना, जिसमे वह अपने नैतिक विकास की ओर से निश्चिन्त होकर प्रगति कर सके। मनुष्य पर राज्य का बन्धन मनुष्य की उच्छृंखलता रोकने के लिए और राज्य पर मनुष्य का नियन्त्रण या बन्धन राज्य की उच्छृंखलता रोकने के लिए लगाया जाता है।

२. मानसिक स्वतंत्रता—मनुष्य को अपने स्वतंत्र विचार रखने, अपनी भाषा, अपनी संस्कृति और अपने धर्म की रक्षा का पूरा हक हो। हर मनुष्य को अपने विचारों के लिए बोलने और लिखने की और उनका प्रचार करने की भी पूरी आजादी हो, जबतक कि उससे किसी दूसरे का नुकसान न होता हो (क्योंकि राज्य का यह भी तो कर्तव्य है कि वह एक के अन्याय से दूसरे को बचावे)।

३. राजनैतिक स्वतंत्रता—देश के शासन में भाग लेने का प्रत्येक मनुष्य को अधिकार होना चाहिए। राज्य सभी मनुष्यों के हित के लिए है, इसलिए उसमें सभी का हिस्सा होना चाहिए। हरेक नागरिक को वोट देने का अधिकार होना चाहिए। प्रत्येक नागरिक की राज्य में एक हैसियत होनी चाहिए। अमीर-ग़रीब, स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण-दलित सबको बिना धार्मिक भेदभाव के एक समान अधिकार प्राप्त होने चाहिएं। राज्य से सब एक समान लाभ उठा सकें।

४. राष्ट्रीय स्वतंत्रता—प्रत्येक देश आजाद हो। जहां सरकार ही विदेशी हो, वहां रिआया को क्या अधिकार होंगे? और वह राज्य भी वहां की रिआया का कहांतक फायदा कर सकता है?

यह पत्र बहुत लम्बा होगया, इतना लिखने की इच्छा तो न थी, पर जब लिखने ही बैठा, तो लिख गया।

: ३ :

प्राण-रक्षा का मेरा अधिकार

२३-५-३८

मैंने पिछले पत्र मे लिखा था कि मनुष्य ने अपनी स्वतन्त्रता कायम रखने के लिए ही समाज या राज्य की कल्पना की थी। उसमे उनका उद्देश्य यही था कि मनुष्य के अधिकारों पर बलवान आक्रमणकारी कब्जा न कर सके। समाज शब्द ही बहुत-से आदमियों की केन्द्रीय शक्ति के भाव को जाहिर करता है। समाज मे रहनेवाले व्यक्ति—एक-दूसरे की स्वार्थ-प्रवृत्ति से—मनुष्य की प्रकृति के अन्दर जो पशुत्व छिपा हुआ है, उससे अपनी रक्षा करने के लिए ही अपनी शक्ति के कुछ भाग को एक स्थान पर इकट्ठा कर देते हैं। यही शक्ति सत्ता कहलाती है। राज्य भी इसी सत्ता का जबरदस्त उदाहरण है। इसका मतलब यह है कि सरकार महज राज्य करने की खातिर राज्य नहीं करती, लेकिन वह राज्य के अन्दर रहनेवालों की प्रसन्नता के लिए ही राज्य करती है। इसलिए अच्छे राज्य की कसौटी ही यह है कि जिस राज्य मे मनुष्य को ज्यादा-से-ज्यादा स्वतन्त्रता मिली हो—मनुष्य ज्यादा से ज्यादा सुखी हो, वही उत्तम राज्य है। यहाँ यह बात याद रखनी चाहिए कि उच्छृंखलता और स्वतन्त्रता का अर्थ एक नहीं है, ये दोनों एक-दूसरे के विरोधी शब्द हैं। उच्छृंखलता मे एक अत्याचारी मनुष्य की आजादी भले ही कुछ समय के लिए कायम रह सकती है, लेकिन आम लोगों के लिए तो वह भीषण बन्धन की ही हालत होगी, क्योंकि

२. मानसिक स्वतंत्रता—मनुष्य को अपने स्वतंत्र विचार रखने, अपनी भाषा, अपनी संस्कृति और अपने धर्म की रक्षा का पूरा हक हो। हर मनुष्य को अपने विचारों के लिए बोलने और लिखने की और उनका प्रचार करने की भी पूरी आजादी हो, जबतक कि उसमें किसी दूसरे का नुकसान न होता हो (क्योंकि राज्य का यह भी तो कर्तव्य है कि वह एक के अन्याय से दूसरे को बचावे)।

३. राजनैतिक स्वतंत्रता—देश के शासन में भाग लेने का प्रत्येक मनुष्य को अधिकार होना चाहिए। राज्य सभी मनुष्यों के हित के लिए है, इसलिए उसमें सभी का हिस्सा होना चाहिए। हरेक नागरिक को वोट देने का अधिकार होना चाहिए। प्रत्येक नागरिक की राज्य में एक हैसियत होनी चाहिए। अमीर-ग़रीब, स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण-दलित सबको बिना धार्मिक भेदभाव के एक समान अधिकार प्राप्त होने चाहिएँ। राज्य से सब एक समान लाभ उठा सकें।

४. राष्ट्रीय स्वतंत्रता—प्रत्येक देश आजाद हो। जहाँ सरकार ही विदेशी हो, वहाँ रिआया को क्या अधिकार होंगे? और वह राज्य भी वहाँ की रिआया का कहाँतक फायदा कर सकता है?

यह पत्र बहुत लम्बा होगया, इतना लिखने की इच्छा तो न थी, पर जब लिखने ही बैठा, तो लिख गया।

: ३ :

प्राण-रक्षा का मेरा अधिकार

२३-५-३८

मैंने पिछले पत्र मे लिखा था कि मनुष्य ने अपनी स्वतन्त्रता कायम रखने के लिए ही समाज या राज्य की कल्पना की थी। उसमे उसका उद्देश्य यही था कि मनुष्य के अधिकारों पर बलवान आक्रमण-कारी कब्जा न कर सकें। समाज शब्द ही बहुत-से आदमियों की केन्द्रीय शक्ति के भाव को जाहिर करता है। समाज मे रहनेवाले व्यक्ति—एक-दूसरे की स्वार्थ-प्रवृत्ति से—मनुष्य की प्रकृति के अन्दर जो पशुत्व छिपा हुआ है, उससे अपनी रक्षा करने के लिए ही अपनी शक्ति के कुछ भाग को एक स्थान पर इकट्ठा कर देते है। यही शक्ति सत्ता कहलाती है। राज्य भी इसी सत्ता का जबरदस्त उदाहरण है। इसका मतलब यह है कि सरकार महज राज्य करने की खातिर राज्य नहीं करती, लेकिन वह राज्य के अन्दर रहने-वालों की प्रसन्नता के लिए ही राज्य करती है। इसलिए अच्छे राज्य की कसौटी ही यह है कि जिस राज्य मे मनुष्य को ज्यादा-से-ज्यादा स्वतन्त्रता मिली हो—मनुष्य ज्यादा से ज्यादा सुखी हो, वही उत्तम राज्य है। यहाँ यह बात याद रखनी चाहिए कि उच्छृंखलता और स्वतन्त्रता का अर्थ एक नहीं है, ये दोनों एक-दूसरे के विरोधी शब्द है। उच्छृंखलता मे एक अत्याचारी मनुष्य की आजादी भले ही कुछ समय के लिए कायम रह सकती है, लेकिन आम लोगों के लिए तो वह भीषण बन्धन की ही हालत होगी, क्योंकि

ऐसे समय मे उसकी अपनी आजादी हमेशा खतरे मे रहती है।

मनुष्य अपनी जिन-जिन स्वतन्त्रताओं की इच्छा करता है, उनमे सबसे पहली अपने जीने का अधिकार है। उसे अपने जीवन के बारे मे पूरी बेफिक्री होनी चाहिए। मानवजीवन भगवान की अनुपम देन है। वह ऐसी चीज नहीं कि उसे कोई यों ही छीन ले। इसलिए यदि हरेक नागरिक सारे समाज या राष्ट्र से यह आशा करे कि वह उसके शरीर की पूरी तौर से रक्षा करेगा, तो यह न केवल उचित और स्वाभाविक ही है, बल्कि जरूरी भी है। जैसा कि मैं पीछे लिख आया हूँ, मनुष्य ने अपनी स्वतन्त्रता कायम रखने और अत्याचारी मनुष्य या हिंसक पशु से अपनी रक्षा करने के लिए ही अपनी शक्ति का कुछ अंश समाज मे केन्द्रित किया है। समाज का सदस्य बनकर उसने अपने ऊपर जो एक बन्धन लगाया है या समाज की रक्षा के लिए जो त्याग वह करता है, उसका उसे इतना तो बदला मिलना ही चाहिए कि वह अपनी जान-माल की चिन्ता से मुक्त हो। राष्ट्र या समाज ने मनुष्य को अगर उसकी शरीर-रक्षा का भी आश्वासन न दिया, तो मनुष्य को उससे लाभ ही क्या ? वह फिर उसकी चिन्ता क्यों करेगा ?

इसीलिए प्रत्येक राष्ट्र का सबसे पहला कर्तव्य यह है कि वह अपने सदस्य की जान की हिफाजत के लिए हमेशा प्रयत्नशील रहे। पुलिस की भी इसीलिए आवश्यकता है कि वह अत्याचारी मनुष्य और हिंसक पशु से प्रजा की रक्षा करे। जिस राज्य मे पुलिस की व्यवस्था अच्छी होती है, उसमे प्रजा अपने जान-माल को सुरक्षित समझती है और निश्चिन्त होकर अपनी उन्नति करती रहती है। जहाँ मनुष्य को अपने जीवन का भरोसा ही न हो, वहाँ वह उन्नति

क्या करेगा ? इक्के-दुक्के आक्रमणकारियों के हाथों से रक्षा करने मे पुलिस समर्थ हो जाती है, लेकिन जब आक्रमणकारी भी कोई समूह या विदेशी देश हो, तो उससे रक्षा करने के लिए सेना की जरूरत होती है। परन्तु केवल पुलिस या सेना की व्यवस्था से ही शरीर-रक्षा की गारण्टी नहीं हो जाती। बहुत-सी जगहों और मौकों पर पुलिस की मदद लेना बडा कठिन होजाता है। कहीं अकेले-दुकेले जाते हुए या रात को घर मे चोर-डाकुओं से सामना हो जाने की हालत मे तुरत ही पुलिस को बुलाना सम्भव नहीं होता। इसलिए हरेक नागरिक को सभ्य राष्ट्रों मे यह अधिकार होता है कि जरूरत पडने पर वह खुद सामना करनेवाले पर वार करके अपनी आत्मरक्षा करे। केवल आत्मरक्षा ही नहीं, अपने सगे-सम्बन्धियों, लड़के, स्त्री, मा-बाप, भाई-बन्धु की रक्षा के लिए भी हथियार उठाने का अधिकार उसे होना चाहिए। यह कोई निश्चित नहीं होता कि फला वक्त ही कोई विपत्ति आवेगी। इसलिए नागरिकों को हमेशा हथियार रखने की इजाजत होनी चाहिए। कानून में भी ऐसी गुंजायश होनी चाहिए कि हमला करनेवाले पर अपनी हिफाजत के लिए हथियार उठाने का अधिकार हो। अक्सर सब देशों मे स्त्रियो को यह अधिकार होता है कि यदि कोई आक्रमणकारी उनके सतीत्व पर हमला करने लगे, तो वे अपने सतीत्व की रक्षा के लिए उसकी जान तक ले सकती हैं। लेकिन यह हमेशा याद रखना चाहिए कि आत्मरक्षा के लिए हथियार चलाने मे भी एक मर्यादा तो रखनी ही पड़ेगी। एक जरा-सी मारपीट होने पर भी लोग एक-दूसरे की जान लेने लगें, तो इससे बडी अव्यवस्था फैल जायगी। आत्मरक्षा का अधिकार जितना महत्वपूर्ण है, उतनी ही महत्वपूर्ण

यह मर्यादा भी है। मनुष्य का जीवन बहुमूल्य है, इस सिद्धान्त को दोनों हालतों मे—अपने पर हमले के समय भी और दूसरे पर हमला करते समय भी—याद रखना चाहिए।

सरकार का फर्ज सिर्फ अपने राज्य मे ही प्रजा की शरीर-रक्षा की व्यवस्था कर देने भर मे पूरा नहीं हो जाता। उसका तो यह कर्तव्य है कि वह हमेशा इस बात की चौकसी करती रहे कि किसी दूसरे देश मे भी अपने नागरिकों पर कोई अनुचित दबाव न डाला जाय। सभ्य, उन्नत और जिम्मेदार सरकारें इस बात का हमेशा खयाल रखती है कि विदेशों मे भी उनकी प्रजा पर कोई बिना वजह के आक्रमण न करे। यदि अपने किसी नागरिक की हत्या दूसरे देश मे हो जाय, तो सरकार दूसरे देश की सरकार से इसका जवाब मांगती है और ठीक वजह न मिलने पर उसका मुआवजा मांगती है। लेकिन आजाद, ऊँचे उठे हुए और शक्तिशाली राष्ट्र ही ऐसा करते है। हिन्दुस्तान जैसे गुलाम देशों की सरकार मे न तो अपनी जिम्मेदारी समझने की इच्छा है और न शक्ति। हम हिन्दुस्तानियों का विदेशों मे कितना अपमान होता है, यह तुमसे छिपा नहीं है। इसका कारण हमारे देश की गुलामी है न कि दूसरी सरकारों की उपेक्षा। बलवान का सभी आदर करते है। गुलाम कमजोर हिन्दुस्तानी की कौन चिन्ता करेगा? जब खुद हिन्दुस्तान मे ही हमारे जान-माल की खैर नहीं है तो विदेशी सरकारें क्यों इस बात की फिक्र करने लगीं? सीमाप्रान्त मे कितनी स्त्रियां चुराई जाती है और कितने हिन्दुओं की हत्या हो जाती है, लेकिन सरकार ने कभी इतना बडा कदम नहीं उठाया जितना एक अंग्रेज स्त्री मिस एलिस के चुराये जाने पर उठाया गया था। सिर्फ आक्रमणकारी

मनुष्य से ही नहीं, बल्कि हिंसक पशुओं और बीमारियों से भी प्रजा की रक्षा करना राज्य का खास कर्तव्य है। यहाँ तो इतनी बुरी हालत है कि किसान हिंस्र पशुओं से अपनी और अपनी खेती की रक्षा तक नहीं कर सकते। सूअर और रीछ आते हैं तथा गाँववालों को नुक्सान पहुंचा जाते हैं। वे कुछ नहीं कर सकते। कई रियासतों मे तो यदि खेती को नुक्सान पहुँचानेवाले पशुओं को कोई मार दे, तो उसे ही राज्य की ओर से सजा मिलती है। कितनी भयंकर दशा है। इसका कारण यह है कि रियासती प्रजा अपने नागरिक अधिकारों को नहीं समझती और देसी राजा भी अपने कर्तव्य को नहीं पहचानते। प्रजा जब राजा को कर देती है, उसके बन्धन और नियम मानती है, क्या उसका यह आशा करना अनुचित होगा कि राज्य उसकी प्राण-रक्षा करेगा ?

बाकी फिर दूसरे पत्र मे।

मेरी शारीरिक स्वतंत्रता

१०-६-३८

आजकल यहाँ का मौसम बहुत ही खराब है। खसरा, मलेरिया, टाइफाइड सभी बीमारियाँ एक-साथ फैली हुई है। हरिद्वार के कुंभ के भारी मेले ने सारे देश मे हैजे की भी बीमारी फैला दी है। दिल्ली भी हरिद्वार की इस देन से नहीं छूटा। हाल ही मेरे पड़ोस का एक तीन साल का बालक खसरे के साथ होनेवाले निमोनिया से गुजर गया। हिन्दुस्तान में न जाने ऐसे कितने बच्चे हरसाल ऐसी ही बीमारियों से अकालमृत्यु के ग्रास हो जाते है। आजकल एक भारतीय की औसत उम्र सिर्फ़ २३ साल है, जबकि १८८१ मे यह औसत ३० साल थी और आजकल इंग्लैण्ड मे ५५ वर्ष है। इंग्लैण्ड से हिन्दुस्तान की मृत्यु-संख्या लगभग २॥ गुनी है। इंग्लैण्ड मे जहाँ मृत्यु संख्या ११.७ फ़ी हजार है, वहाँ भारत मे १९३० मे २६.८ थी। हमारे यहाँ जीवनी शक्ति इतनी कम है कि १९१८ के काले बुखार मे एक ही साल मे एक करोड दस लाख आदमी चल बसे। बच्चों की मृत्यु-संख्या का अनुपात २३२.६ फी हजार है और युक्तप्रान्त मे तो ३०३ है। माताओं की मृत्युसंख्या सारे भारत मे फी हजार २४.५ प्रतिशत है और अकेले बंगाल मे ५० है। (इंग्लैण्ड और वेल्स मे माताओं की मृत्युसंख्या १९३२ मे ४.०६ थी) बंगाल मे १९२६-२७ में १२,०००० मनुष्य हैजे से, ३५०००० मलेरिया से, ३५०००० क्षय से और १००००० आतडियों के बुखार से मर गये। औसत ५५०००

नवजात शिशु हरसाल दौरे के शिकार होते है। भारत के चिकित्सा-विभाग के संचालक सर जान मेग ने कुछ साल पहले चौंकानेवाले आंकड़े प्रकाशित किये थे। उनके अनुसार लगभग १ करोड ३० लाख मनुष्य इन्द्रिय-रोगों से पीडित है (अर्थात फी २७ मे से एक व्यक्ति भयकर बीमारियों का शिकार है।) बीस लाख की संख्या क्षयरोग वालों के लिए थोडी है, और लगभग ६० लाख बिलकुल अधे हैं। कम-से-कम ५ करोड हरसाल मलेरिया के शिकार होते है। यह सख्या आसानी से १० करोड तक लगाई जा सकती है।

कितने चौंकानेवाले आकड़े है ये। यों सरसरी तौर से इन अंकों को पढ जाने से शायद इनकी भीषणता की कल्पना न हो, लेकिन किसी मरनेवाले के पास खड़े होकर और उसकी दशा देखने के बाद इन अकों की भयकरता का अंदाज हो सकता है। उस दिन अपने पडोसी के बालक को इस ससार से बिदा होते देखकर मेरे दिल मे यही विचार उठने लगे।

लेकिन इसके साथ ही भवभूति के 'उत्तर रामचरित' का वह प्रसंग भी याद आया जबकि एक ब्राह्मण के पुत्र की अकाल मृत्यु हो जाती है और रामचद्र उसकी मृत्यु के लिए अपनेको जिम्मेदार ठहराते है।[1] कितना ऊँचा था प्राचीन आदर्श। उस समय न सिर्फ हिंसक पशुओं और आततायियों से, बल्कि बीमारियों से भी प्रजा की प्राण-रक्षा करना राजा का कर्तव्य था। पिता की मृत्यु से पहले (बीमारी से) पुत्र की मृत्यु इस बात का प्रमाण मानी जाती थी कि राजा ने अपने कर्तव्य का पालन नहीं किया।

१ "न राजापचारमन्तरेण प्रजानामकालमृत्यु सचरति इत्यात्मदोप निरूपयति करुणामये रामभद्रे"

असल मे नागरिकों का यह अधिकार है कि वे बीमारियों से अपनेको निश्चिन्त समझे। जब मनुष्य समाज की रक्षा के लिए इतना त्याग करता है, तब समाज या राष्ट्र का भी फर्ज है कि वह मनुष्य की प्राणरक्षा की कोशिश करे। क्योंकि अगर प्रजा ही न बचेगी, तो समाज या देश का परिणाम क्या होगा ? यदि बीमारियों ने प्रजा को नि.शक्त और कमजोर कर दिया, तो कमजोर आदमियों का राष्ट्र कितना बलवान होगा ? लेकिन ऊपर लिखे आंकड़े क्या सिद्ध करते है ? यही कि हम अपने नागरिक अधिकारों से वचित है और विदेशी सरकार भारत के स्वास्थ्य की ओर से बिलकुल उदासीन है। शारीरिक स्वतंत्रता के साथ ही मनुष्य को उसकी सम्पत्ति की रक्षा की भी गारटी मिलनी चाहिए। जिंदा रहने के लिए भोजन-सामग्री, कपड़े-लत्ते तथा मकान आदि की जरूरत हर किसीको होती है। नागरिक जो माल-मत्ता इकट्ठा करते है और मकान वगैरा बनाते है, उन सबकी चोर और डाकुओं से रक्षा करना सरकार का फ़र्ज है। अगर सम्पत्ति की रक्षा और कारोबार चलने की कोई गारटी न दी जाय, तो संसार मे धन कमाने की रुचि ही पैदा न होगी और इस कारण दुनिया की आर्थिक उन्नति रुक जायगी। हरेक मनुष्य को अगर विश्वास हो कि उसकी सम्पत्ति चोर-डाकू नही लेजावेंगे, तब वह बेफिक्र होकर अपने काम मे लग सकता है और देश और राष्ट्र की उन्नति मे अपना हिस्सा अदा कर सकता है। पुलिस और अदालत की व्यवस्था का एक उद्देश्य सम्पत्ति की रक्षा भी है।

लेकिन इकट्ठा की हुई सम्पत्ति का मतलब क्या ? क्या हरेक मनुष्य द्वारा किसी भी तरीके से कमाई हुई सम्पत्ति की रक्षा करना राज्य का फ़र्ज है ? एक डाकू डाका डालकर सम्पत्ति इकट्ठी करता है,

तो राज्य क्या उस डाकू की संपत्ति की भी रक्षा की गारंटी देगा ? नहीं, क्योंकि वह उस डाकू की चीज नहीं है—वह तो उसकी है, जिसके पास से डाकू ने वह छीनी है। इसी तरह साम्यवादियों की विचारधारा के मुताबिक अतिरिक्त पूँजी भी एक सुसंगठित और सभ्य डाके का ही नतीजा है। एक ठेकेदार मजदूरों को जरूरत से भी बहुत कम पैसा देकर खुद धनी होता है, तब क्या उसकी सम्पत्ति की गारंटी भी राज्य दे ? एक जमींदार किसानों पर तरह-तरह के अन्यायपूर्ण कर लगाकर अपना तो कोठार भर लेता है और सर्दी-गर्मी मे दिन-रात एक करनेवाला गरीब किसान एक वक्त रूखी-सूखी खाकर गुज़ारा करता है। ऐसे जमींदार की जायदाद की रक्षा करना सरकार का कर्तव्य है या नहीं ? इस सवाल पर भी तुमने सोचा ही होगा। बड़े-बड़े समाजशास्त्रियों, राजनीतिज्ञों और दार्शनिकों ने इस प्रश्न पर विचार किया है। और उनमे इतना मतभेद है कि बहुत-से सम्प्रदाय बन गये है और प्रत्येक वाद के बारे मे बहुत-सी किताबें लिखी गई है। एक वाद की राय है कि वह मनुष्य बहुत बडा पापी होगा, जिसने मनुष्य के इतिहास के शुरू मे सबसे पहले किसी चीज पर अपना कब्जा करके 'ममेदम्' (यह मेरी है) की घोषणा की होगी। इस सम्प्रदाय का कहना है कि निजी मिलकियत का ख़याल संसार की ज्यादातर बुराइयों की जड है। लेकिन दूसरा सम्प्रदाय भी उतने ही जोरों के साथ कहता है कि मिलकियत पर अपने-अपने अधिकार का खयाल स्वाभाविक है, और इसीके कारण दुनिया जंगली सभ्यता से उन्नति करती-करती आज की स्थिति तक पहुँच गई है। इन दोनों सम्प्रदायों के बीच भी अनेक वाद है। कोई जमीन, कल-कारख़ाने आदि उत्पादक सम्पत्ति पर समाज

नियन्त्रण चाहता है, तो कोई सीमित नियन्त्रण। हरेक सम्प्रदाय इस सम्बन्ध मे प्रजा के नागरिक अधिकारों की अलग-अलग व्याख्या करता है। मैं इस भूलभुलैया मे अभी नही जाना चाहता। अगर समय मिला, तो इस बारे मे किसी दूसरे पत्र मे कुछ लिखने की कोशिश करूगा। यहाँ तो इतना ही कह देना काफी होगा कि प्रत्येक नागरिक का यह अधिकार है कि अपनी कमाई हुई सम्पत्ति की रक्षा की गारटी सरकार उसे दे। जो वस्तु वह कमाता है, उसे इस बात की बेफिक्री होनी चाहिए कि वह वस्तु कोई छीन न सकेगा। लेकिन इसमे एक शर्त है, वह यह कि वह सम्पत्ति नाजायज तरीके से न कमाई गई हो, उसे कमाते हुए किसी दूसरे का ऐसा हक न छीना गया हो, जिसकी रक्षा की गारंटी प्रत्येक नागरिक को सरकार द्वारा मिलनी लाजमी है। एक चोर चोरी से दूसरे की सम्पत्ति अपने अधिकार मे कर लेता है। अगर राज्य चोर की इस सम्पत्ति की रक्षा करता है, तो वह उस व्यक्ति के अधिकार की अवहेलना करता है, जिसके घर चोरी हुई है। सरकार का पहला कर्तव्य चोर से नागरिक की रक्षा करना है। अनुचित और उचित साधनों की मर्यादा क्या है, यह प्रत्येक समाज की अपनी-अपनी हालत पर निर्भर है। नागरिकशास्त्र की दृष्टि से तो इतना ही कहना काफी है कि जिस राष्ट्र और जिस समय मे उचित साधनों की जो मर्यादा स्वीकृत की जाती है, उसीका पालन राज्य को करना चाहिए। इस संबंध मे गांधीवाद की विचारधारा भी अध्ययन करने की वस्तु है, लेकिन उसका यह स्थान नही है। यदि संभव हुआ, तो आर्थिक स्वाधीनता पर विचार करते हुए उसपर भी अपने विचारों से तुम्हे सूचित करूँगा।

नागरिकों को व्यापार और लेनदेन की भी खुली छुट्टी होनी चाहिए। वे सब लेनदेन अपनी इच्छा से कर सकें। लेकिन शर्त यह है कि जायदाद का लेनदेन भी स्वतन्त्रतापूर्वक हो। शरीर ही नहीं, मन भी स्वतन्त्र होना चाहिए। स्वतन्त्रता के नाम पर धमकी या जालसाजी से किया गया लेन-देन उचित नहीं हो सकता। ऐसा लेन-देन करते समय शरीर तो अवश्य स्वतन्त्र है, परन्तु धमकी या जालसाजी के कारण मन परतन्त्र हो जाता है। इसी प्रकार यह भी जरूरी है कि किसीके मरने के बाद उसकी जायदाद उसके कानूनी वारिसों को मिले। पागलों और नाबालिग बालकों को लेन-देन की आजादी नहीं दी जा सकती, क्योंकि ये लोग अपना हित नहीं जानते। इन्हे कोई भी बहका सकता है।

मनुष्य को केवल जीने का अधिकार ही नहीं चाहिए, उसे शारीरिक स्वतन्त्रता—उसके शरीर पर किसी दूसरे का अधिकार न होना—भी उतनी ही जरूरी है। जब एक नागरिक का अपने शरीर पर ही अधिकार नहीं है, तो वह अपना स्वतन्त्र विकास कैसे कर सकेगा? शरीर की स्वतन्त्रता का अर्थ यह है कि वह जो चाहे उचित काम कर सके, किसी की गुलामी उसे न करनी पड़े। प्राचीन काल मे कोई किसी का दास न होता था, सब स्वतन्त्र थे। लेकिन ज्यों-ज्यों मनुष्य मे अधिकार और शक्ति का मद आता गया, वह अपने से दुर्बल पर अपना कब्जा करता गया। हारे हुए को अपना गुलाम बनाने की प्रवृत्ति प्रायः सभी जातियों मे पाई जाती है। मनुष्य के अन्दर जो पशुत्व छिपा हुआ है वह सभी देशों मे हमे दीखता है। और आश्चर्य तो यह है कि बड़े-बड़े विद्वानों और विचारकों के दिमाग से भी पशुत्व का यह अभिमान दूर नहीं हो सका है। ग्रीस

के प्रसिद्ध विचारक अरस्तू ने बडी गम्भीरता के साथ साबित करने का प्रयत्न किया है कि कुछ मनुष्य स्वभाव से स्वामी होते हैं और कुछ दास। परन्तु मनुष्य तो स्वभाव से एक मनुष्य है, उसे कोई पदार्थ नहीं माना जा सकता और इसीलिए उसे गुलाम भी नहीं बनाया जा सकता। पुरुषों के शरीर, मस्तिष्क और मानसिक विकास मे जो अन्तर होता है उससे यह तो जरूर मालूम होता है कि हरेक मनुष्य को अलग-अलग काम करने के लिए चाहिए, लेकिन किसी एक को दूसरे की गुलामी करनी चाहिए, यह तो किसी तरह भी साबित नहीं होता।

राजनीतिशास्त्र का तकाजा है कि हरेक नागरिक को पूरी शारीरिक स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। वह जो चाहे काम करे, जहां चाहे जाय, जहां विवाह करना चाहे करे, जो कमाये खाये। इन सब बातों में सिर्फ इतना खयाल रखना होगा कि उसके किसी काम से समाज मे न अव्यवस्था फैले और न उससे किसी दूसरे का नुकसान हो, क्योंकि इससे एक दूसरे नागरिक के अधिकार छिन जाते हैं। प्राचीन भारत मे भी इस स्वार्थ को समझा जाता था, लेकिन उनकी दृष्टि केवल आर्यों तक सीमित थी। कौटिल्य अर्थशास्त्र मे "न त्वार्यस्य दासभावः" कहकर किसी आर्य को दास बनाने का निषेध किया है। आज भी रियासतों मे छोटी मानी जाने वाली जातियों को दास रखने की प्रथा मौजूद है। जर्मनी के हर हिटलर आजकल यहूदियों को नागरिकता के अधिकार देने से इन्कार कर रहे हैं। उनकी हलचलों पर तरह-तरह के बन्धन लगाये जा रहे हैं। असल मे राज्य के प्रत्येक नागरिक को, चाहे वह किसी जाति, किसी धर्म या लिंग (Sex) का हो, शारीरिक स्वतन्त्रता होनी चाहिए। स्त्रियों की समाज

मे क्या स्थिति हो, यह प्रश्न भी इसके साथ पैदा होता है। लेकिन यह प्रश्न खुद एक बडा और गम्भीर प्रश्न है, इसके बारे मे किसी दूसरे पत्र मे लिखना ठीक होगा।

शारीरिक स्वतन्त्रता के सम्बन्ध मे एक और बात कहकर यह पत्र समाप्त कर दूंगा। मैं एक पिछले पत्र मे बता चुका हूँ कि "ज्यों-ज्यों मनुष्य की स्वाधीनता की रक्षा के लिए ये नवीन साधन उत्पन्न होते गये, त्यों-त्यों मनुष्य के पैरों मे अधिकाधिक गुलामी की जजीरें पडने लगीं। जिस रोग के इलाज के लिए, धर्म सामाजिक व्यवस्था और राज्य आदि साधन बनाये गये, उसे हटाते-हटाते उन सबने एक नई बीमारी पैदा करदी।" असल मे राज्य खुद भी मनुष्य की गुलामी की एक ख़ास वजह बन गया है। पुलिस और राज्य का कर्तव्य तो यह है कि वह मनुष्य की शारीरिक स्वतंत्रता की रक्षा करे, लेकिन वह स्वयं ही उसका ग्राहक बन गया है। इसका उदाहरण देखना हो तो आज से चार-पाँच साल पहले हमारे यहाँ जो विलिंगडन राज था, जो आर्डिनेंसराज के नाम से भी प्रसिद्ध है, उसे देखो। अदालत मे मुकद्दमा चलाकर अपराध साबित किये बिना सैंकडों लोग जेल मे डाल दिये गये, सैंकडों लोगों का अपने घरों या मुहल्लों से निकलना बन्द कर दिया गया, सैकडों की लिखने-बोलने की आजादी छीन ली गई। राजनीतिशास्त्र का यह पहला उसूल है कि किसी नागरिक को तबतक कोई सजा नहीं दी जा सकती, जबतक कि उसपर अदालत मे अपराध साबित न हो जाय। खाली सन्देह मे ही किसीको सजा नहीं दे देनी चाहिए। अदालत मे भी मुकदमा लडने की पूरी सुविधा और न्याय की गारंटी उसे दी जानी चाहिए। यदि कोई हत्या का मुलजिम ग़रीबी के कारण अपना वकील करने मे

असमर्थ है तो राज्य का यह फर्ज होना चाहिए कि वह उसके लिए वकील की व्यवस्था करदे, ताकि सिर्फ पैसे के अभाव मे वह अपनेको निरपराध साबित करने से वंचित न रह जाय। यदि कभी कोई सरकारी अफसर अपने अधिकारों का दुरुपयोग करके नागरिकों की स्वतन्त्रता छीन ले तो उसपर साधारण अदालत मे साधारण कायदे से मुकदमा चलाया जा सके। जुदे-जुदे देशों की जनता ने इस अधिकार की प्राप्ति के लिए काफी लडाई लडी है। इग्लेण्ड का 'हेवियस कार्प्स एक्ट' इसका सबसे साफ उदाहरण है। मैग्ना-चार्टा (अधिकारपत्र) की ३६ और ४० धारा के अनुसार कोई भी अंग्रेज नागरिक सरकार के किसी भी बड़े-से-बड़े अफसर द्वारा गिरफ्तार या दण्डित नही किया जा सकता, जबतक कि उसपर मुकदमा न चलाया गया हो और वह पूरी तरह साबित न होगया हो। यदि किसी नागरिक को विना अपराध सिद्ध हुए गिरफ्तार कर लिया जाय, तो इंग्लैण्ड के इस शासन-विधान के अनुसार उसके रिश्तेदारो को पूरा हक है कि उसपर मुकदमा चलाने का अनुरोध ऊँचे अफसरों से कर सके। विना किसी वारण्ट के कभी किसी को गिरफ्तार नहीं किया जा सकता और किसीको २४ घण्टे से ज्यादा पुलिस अपनी हवालात मे नहीं रख सकती, जबतक कि अदालत से इजाजत न ले ली जाय।

इन्हीं नियमों के कारण इंग्लैण्ड आज सब देशों से अधिक स्वतन्त्र समझा जाता है। सभी देशों की सरकारों द्वारा सताये हुए लोग इसी कारण इंग्लैण्ड की भूमि मे अपनेको स्वतन्त्र समझने लगते है। अगर अंग्रेज जनता अपने देश की इस विशेषता पर अभिमान करती है तो उसका यह अभिमान अनुचित नहीं है,

लेकिन उसकी यह स्वातंत्र्य-प्रियता केवल इंग्लैण्ड तक सीमित है। हमारे यहाँ भारत मे ठीक इससे उलटा हो रहा है। यहाँ नागरिक स्वाधीनता तो नाम को भी नहीं। ऐसा मालूम होता है कि अग्रेज राजनीतिज्ञों और शासकों के राजनैतिक सिद्धान्त इंग्लैण्ड के लिए एक है और हिन्दुस्तान के लिए दूसरे। पर आजाद और गुलाम देश मे यह फ़र्क स्वाभाविक है। इन्ही अधिकारों की प्राप्ति के लिए तो भारत स्वराज्य का युद्ध लड रहा है।

पर व्यक्ति-स्वातन्त्र्य मे कुछ अपवाद भी है। सडी, गली या कडवी चीज और पानी मिला दूध बाजार मे बेचने की इजाजत नहीं होनी चाहिए। चिकित्सा का हरेक को ही अधिकार नहीं दे देना चाहिए। "नीम हकीम खतरये जान।" इसके लिए किसी योग्यता का हासिल कर लेना जरूरी होना चाहिए। पागल लोगों को सड़कों पर न जाने देना या फौजदारी करनेवालों को पहले से ही पकड़ लेना भी उचित है। माँ-बाप यदि बच्चों का या पति-पत्नी का पालन-पोषण न करे तो उन्हे इसके लिए भी बाधित किया जा सकता है। इसी तरह और भी कई अपवाद बताये जा सकते है।

: ५ :

मेरी अपनी सरकार

१३-६-३८

तुम्हारा पत्र अभी मिला। पत्र पढ़कर खुशी हुई। तुम्हारी अनेक उलझने पढकर मैं जरा भी चिन्तित नही हुआ। यह तो काम की शुरुआत है। इस संसार का मार्ग इतना सुगम नही है कि यात्री आंख मूंदे उसपर से मजे मे गुजर जाय। इसमे तो पद-पद पर समस्यायें है, अनेक कठिनाइयाँ है, कही नदी-नाले है तो कहीं छोटी-छोटी चट्टानें या पहाड। इन सभीको पार करना ही होगा। तुम लिखते हो कि तुमने छोटी-सी पंचायत कायम की है। इसमे तुम्हे कई विघ्नों का सामना करना पडा है। इस प्रश्न पर ब्राह्मण व राजपूत एक ओर थे और हरिजन भाई दूसरी ओर। ब्राह्मणों और राजपूतों का कहना है कि हरिजनों को पंचायत का सदस्य चुनने का अधिकार न हो। शेख और सैयद मुसलमान भी उनके साथ है। और तुम हरिजन भाइयों को उनका अधिकार देना चाहते हो। मैं पिछले दो पत्रों मे नागरिक की शारीरिक स्वतंत्रता के वारे मे तुमको लिख चुका हूँ। आज मैं चाहता तो था तुमको सामाजिक स्वतंत्रता पर कुछ लिखूँ, लेकिन तुम्हारा पत्र मिलने के वाद अव मैं मताधिकार के प्रश्न पर ही लिखना चाहता हूँ। इस समय यही वडा सवाल तुम्हारे सामने है। इस सवाल को ठीक तरह समझने के लिए कुछ गहराई मे जाना पड़ेगा।

मैजिनी इटली का एक मशहूर विचारक होगया है। वह एक जगह लिखता है कि "जवतक तुम्हारे देश-वन्धुओं मे से एक भी ऐसा है,

जिसका राष्ट्रीय जीवन की उन्नति के लिए अपना चुना हुआ प्रतिनिधि नहीं है, तबतक तुम्हारा देश सबका और सबके लिए नहीं है, जैसा कि वह होना चाहिए।"

जब मनुष्य की उन्नति और विकास के लिए ही समाज या सरकार का संगठन हुआ है, तब उसकी नीति बनाने में भी उसका हाथ होना चाहिए। यदि ऐसा न हो, तो समाज या सरकार स्वतंत्रता की रक्षा मे सहायक न होकर बाधक होजाती है। ऐसा नियम या बन्धन, जो जनता की सलाह से उलटा हो या उसके हितों के प्रतिकूल हो, मनुष्य की अवनति का कारण बन जाता है। प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान रूसो के कथनानुसार सरकार लोगों का परस्पर एक सामाजिक समझौता है। लोगों ने अपनी इच्छा से आपस मे समझौता करके अपने अधिकार अपने कल्याण के लिए समाज को दे दिये है न कि राजा को। तमाम लोगों के दिये हुए अधिकारों का एकीकरण समाज के हाथ मे होता है और फिर समाज अपनी सुविधा के लिए राजा अथवा अन्य अधिकारियों को नौकर रखकर उनके हाथों मे सब अधिकार देता है। अर्थात् राजसत्ता या स्वामित्व जनता के हाथ मे है न कि किसी व्यक्ति, श्रेणी या व्यक्ति-समूह मे। जब यह बात मान ली गई, तब यह मानने मे कोई संकोच नहीं रहता कि शासन मे प्रत्येक नागरिक का अधिकार स्वाभाविक है। प्रो० हेराल्ड लास्की अपनी (An Introduction to Politics) पुस्तक[1] मे सरकार और मनुष्य के सम्बन्ध का विवेचन करते हुए लिखते है कि नागरिक अपनी प्रसन्नता के लिए कुछ शर्तों के साथ—

१ लोकसाहित्यमाला मे सस्ता साहित्य मण्डल से यह 'राजनीति प्रवेशिका' के नाम से प्रकाशित हो रही है। मूल्य ।।)

अपने खास अधिकारों की गारंटी के साथ सरकार का नियंत्रण स्वीकार करना चाहता है। मनुष्य तभी प्रसन्नता अनुभव कर सकता है, जब उसे अपनी व्यक्तिगत रक्षा का अधिकार हो, उसे रोजी कमाने के साधन प्राप्त हों, वह शिक्षा प्राप्त कर सके, उसके धर्म, भाषा आदि पर कोई रुकावट न हो, अपने ज्ञान और विचार के प्रयोग का अधिकार हो, अर्थात अपने विचार लिख या बोलकर प्रकट करने मे कोई बाधा न हो। इन अधिकारों का संक्षिप्त वर्णन करने के बाद प्रो० लास्की लिखते है कि कोई सरकार इस उद्देश्य को तबतक प्राप्त नहीं कर सकती, जबतक वह बालिग-मताधिकार के अधिकार पर सगठित प्रजातन्त्र सरकार न हो। उस सरकार मे न केवल भाषण और सगठन की स्वतंत्रता जरूरी है, लेकिन यह भी उसमे स्वीकार कर लेना आवश्यक है कि जाति, धर्म, लिंग या सम्पत्ति नागरिक अधिकारों के उपभोग मे कुछ भी बाधक न होगी। इतिहास का अनुभव हमे यह बताता है कि जब किसी वर्ग से अधिकार छीन लिया जाय, तब जल्दी या देर मे वह अधिकार से प्राप्त होनेवाली सुविधाओं से भी वंचित हो जाता है। यह बहुत स्वाभाविक है कि सरकार जनता के जिस हिस्से से शक्ति प्राप्त करती है, उसीकी आवश्यकताओं का ख़याल भी करेगी। इसलिए जितने बड़े भाग पर सरकार का संगठन निर्भर हो, उतनी ही अधिक यह उम्मीद की जा सकती है कि वह देश के बड़े भाग की इच्छाओं को पूरा करने का प्रयत्न करेगी।

अमेरिका के भूत पूर्व राष्ट्रपति प्रो० विल्सन कहते है कि "जिन शक्तियों से राष्ट्रीय और राजकीय विकास होता है, ठीक उन्हींसे कायदों का निर्माण और विकास होता है। एकतंत्र या प्रजातंत्र दोनों प्रकार की शासन-पद्धतियों मे कायदे लोगों के रस्म-रिवाज या पसं-

दगी-नापसदगी को देखकर बनेंगे। कानून बनानेवालों का काम अपनी इच्छा से कायदों का आविष्कार करना नहीं है, उनका काम है लोगों की आवश्यताओं को जानकर उन्हे कायदे का स्वरूप दे देना। कायदा व्यक्तियों की रचना नहीं है, वह है समाज की खास-खास आवश्यकताओं की, खास-खास मौकों की, विशिष्ट संकटों या दुर्दैवों की।" अनियन्त्रित निरकुश शासकों के प्रजा पर जबरदस्ती लादे जाने वाले कायदों की ओर निर्देश करते हुए प्रो० विल्सन कहते है—"शासक अपनेको समाज से अलग नहीं कर सकते। यह बात दूसरी है कि शासकों के कार्यों को समाज चुपचाप मान ले। कभी-कभी कायदे का स्वरूप अल्पसंख्यक लोगों या किसी एक व्यक्ति की आज्ञा ही जान पडता है, परन्तु जबतक समाज उस कायदे के पीछे अपना जोर न लगावेगा, तबतक वह चल नहीं सकता। कायदा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से लोगों को सम्मत होना ही चाहिए और इस प्रकार उनका जोर भी उसे मिलना चाहिए।" इसका एक इतिहास-प्रसिद्ध उदाहरण भी आपने दिया है। जबतक रूस के जार की सत्ता थी, वह करीब-करीब अनियन्त्रित दीख पडती थी। प्रो० विल्सन के मतानुसार उसकी भी नींव जनता ही थी। "जार को व्यक्तिगत शक्ति कोई भारी शक्ति नहीं थी। वह वहांके धर्म का सर्वोच्च अधिकारी था। वह राष्ट्र का और उसके इतिहास का और उसके विकास का पवित्र प्रतिनिधि था। उसकी शक्ति की जडें लोगों के मनों में भीतर घुसी हुई थीं।" जब वे जडें शिथिल होगई, तो जारशाही का नामोनिशान न रहा। अपने विचार को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए वह कहते है कि "राष्ट्र की आदत ही कानून-निर्माता का असली मसाला है और उसकी वही मर्यादा है। वे खूब कड़ी और भयानक वस्तु है। यदि

वह उनका तिरस्कार करेगा, तो वे अपना आदर कराने को जरूर जोर देगी। और अगर वह उनपर किसी प्रकार जबरदस्ती (दमन) करेगा, तो वे (बारूद गोलों के सहारे) भयंकर जोर से फूटेंगी और इसका सत्यानाश कर देगी। राज्य-प्रभुता उसके हाथ में नहीं, वह समाज के हाथ में है। कायदे की दृष्टि से राज्य-प्रभुता का अस्तित्व है समाज की संकल्पशक्ति में, फिर वह चाहे चुपचाप रहे या जोर दिखलावे और राजकीय झगड़ों का क्षेत्र तैयार करदे। राजा या पार्लमेण्ट इसके केवल साधन है, वे कोई बात उसी की प्रेरणा से करते है, वास्तव में राज्य-प्रभुता का निवास समाज में है।"

विल्सन के इस लम्बे उद्धरण के बाद जनता के शासन-अधिकार के सम्बन्ध में और कुछ कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती। अब्राहम लिंकन के "Government of the people, by the people for the sake of people" या "by all for all" के सिद्धान्त का भी यही अर्थ है।

हैराल्ड लास्की लिखते है कि "नियम या कानून केवल आज्ञा ही नहीं देते है। वे तो नागरिकों की इच्छाओं की पूर्ति के साधन है। सब नागरिक खुद या अपने प्रतिनिधियों द्वारा मिलकर इस बात का फैसला करते है कि उनकी इच्छाओं और जरूरतों को किस तरह ज्यादा-से-ज्यादा पूरा किया जा सकता है। इच्छापूर्ति के ये साधन ही कानून है। नागरिक अपनी सामूहिक इच्छा से विरुद्ध नियम का पालन न करना चाहे तो उनपर कोई रोक नहीं लगा सकता। उनकी समझ ठीक हो या गलत, उन्हे अपनी समझ के अनुसार चलने का अधिकार है, तभी वह स्वतंत्र रह सकता है। दूसरे का नियंत्रण मानना ही पराधीनता है। दूसरे शब्दों मे कानून आज्ञा नही है, वह

एक प्रार्थना है, जो नागरिक परस्पर मिलकर एक-दूसरे से करते है।"

जब राज्य की हद एक या दो-तीन नगरों तक ही सीमित होती थी, तब प्रत्येक नागरिक का शासन-कार्य मे भाग लेना मुमकिन था। ग्रीस के नगर-राज्यों मे यही होता था। लेकिन जैसे-जैसे राज्य का दायरा फैलता गया, प्रत्येक व्यक्ति का उसमे भाग लेना मुश्किल होता गया। इसलिए प्रतिनिधितन्त्र का तरीका निकला। इसके अनुसार जनता एक नियत समय के लिए शासन-कार्य मे भाग लेने का अधिकार अपने विश्वस्त प्रतिनिधियों को सौंप देती है। ये प्रतिनिधि असल मे लोकमत के ही वाहन है और जब कभी इन प्रतिनिधियों ने सारी शासनसत्ता हाथ मे लेने की कोशिश की, तभी जनता ने उन्हे गिरा दिया। प्रतिनिधियों के अधिकारों को नियन्त्रित करने के भी अनेक प्रयत्न किये गये है। ब्रिटिश पार्लमेण्ट का चुनाव सात वर्ष से पाँच वर्ष कर दिया गया, और अनेक देशों मे तीन-तीन वर्ष के बाद चुनाव होता है। इससे जनता को अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर अपना मत प्रकट करने का अवसर प्राप्त होता है और जो उम्मीदवार उनके विचार के अनुसार कार्य करने का वचन देता है, उसीको वे चुनते है। स्वीजरलैण्ड आदि देशों मे 'रेफरेण्डम',[१] 'इनीशियेटिव',[२]

१ रेफरेण्डम—अपने चुने हुए प्रतिनिधियो पर पूर्ण विश्वास न रखने के कारण इस प्रथा को जन्म दिया गया है। इसके अनुसार प्रतिनिधि-सभा मे पेश होनेवाले प्रत्येक महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक का मत जानना चाहिए। प्रतिनिधि-सभा के निर्णय पर जनमत की स्वीकृति आवश्यक है। इससे जनता के कधो पर शासन की सीधी जिम्मेदारी पडती है। राष्ट्र की समस्त जनता ही असेम्वली हो जाती है।

२ इनीशियेटिव—जनता या मतदाताओ का एक वडा भाग किसी प्रस्ताव पर दस्तखत करके उसे नियम वनाने के लिए खुद पेश करता

'रिकाल'[1] और प्लीबिसाइट[2] की प्रथायें प्रतिनिधियों पर अपना पूर्ण नियन्त्रण कायम करने और शासन मे अपना भाग अधिकाधिक रखने के लिए आविष्कृत हुई हैं। इन सब पद्धतियों के अपने-अपने गुण और दोष हैं, लेकिन इतने विस्तृत और गम्भीर विवेचन की हमें जरूरत नहीं।

प्रतिनिधितन्त्र मे जनता अपने मताधिकार द्वारा ही शासन व नीति बनाने मे भाग ले सकती है और यह मताधिकार हरेक नागरिक को बिना किसी जाति, धर्म या लिंग के भेदभाव के मिलना चाहिए। यदि किसी श्रेणी या वर्ग को हम इससे वंचित रखते है, तो उनके प्रतिनिधि न होने के कारण उनके हित की हानि हो सकती है। आजकल यद्यपि अनेक देशों मे सब नागरिकों को वोट देने का हक मिला हुआ है, फिर भी बहुत-से देशों मे यह हक सबको नहीं है। हमारे यहां ही तुम देखोगे कि प्रान्तीय असेम्बलियों मे प्रतिनिधि चुनने का अधिकार सब बालिग व्यक्तियों को नहीं है। यहां मताधिकार की योग्यता का मुख्य आधार अभीतक (नये १९३५ के शासनविधान के अनुसार भी) सम्पत्ति है जैसे मालगुजारी देना,

---

है। अगर बहुमत ने उस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया, तो वह कानून बन जाता है।

१ रिकाल—एक निर्वाचन-क्षेत्र के मतदाताओं का विश्वास जब अपने प्रतिनिधि पर न रहे, तब वे उसे वापस बुला सकते है।

२ प्लीबिसाइट—सरकार की नीति का समर्थन या विरोध करने के लिए प्रत्येक नागरिक से मत लिया जाता है। अभी कुछ समय पहले हर हिटलर ने आस्ट्रिया को जर्मनी मे मिलाने पर जर्मनी और आस्ट्रिया के सारे निवासियों से जो मत लिया वह, प्लीबिसाइट ही था।

लगान देना, इन्कमटैक्स देना और शहरो मे मकानों का किराया (भाडा) देना। इनके अलावा शिक्षासम्बन्धी योग्यता के आधार पर भी मताधिकार दिया गया है। स्त्रियों और हरिजनों के सम्बन्ध मे कुछ ढील की गई है। लेजिस्लेटिव कौंसिलों के चुनाव मे तो मताधिकार की योग्यता बहुत ऊँची रक्खी गई है। असेम्बलियों और कौंसिलों मे ही नहीं, म्यूनिसिपल कमेटियों और जिला बोर्डों तक मे हमारे यहाँ सबको प्रतिनिधि चुनने का अधिकार नहीं दिया गया। यह बहुत बडी कमी है, जिसे दूर करना बहुत जरूरी है। किसी नागरिक को पैसे की कमी की वजह से वोट देने का हक न देना कितना बडा अन्याय है। आजकल समाज का जिस प्रकार का दूषित आर्थिक संगठन है, उसमे बहुत-से आदमियों का गरीब रहना स्वाभाविक है। केवल अमीर ही राष्ट्र की सेवा नहीं करता, गरीब भी तो राष्ट्र का अङ्ग है और कई प्रकार से—मिहनत आदि करके—राष्ट्र की सेवा करता है। आज भी सेना मे जो लोग भरती होते है, उनमे से ज्यादातर गरीब होते हैं। अतः एक व्यक्ति को केवल गरीब होने की वजह से ही हम समाज का अग मानने से इन्कार नहीं कर सकते। समाज के हरेक अग को समाज के विकास मे और खासकर अपने ऊपर लागू होनेवाले कानूनों के बनाने का हक होना ही चाहिए, नहीं तो वे कानून उसपर जबरदस्ती लादे गये बधन से कम न होंगे। किसीने ठीक ही कहा है कि हरेक बालिग व्यक्ति अपना हित समझने की योग्यता रखता है।

इसी तरह शिक्षा को भी मताधिकार की योग्यता नहीं बनाया जा सकता। शिक्षा को योग्यता बनाने के सम्बन्ध मे सबसे बडी दलील यह दी जा सकती है कि अनपढ आदमी देश की समस्याओं को नहीं समझ सकते और न अपने मताधिकार का उपयोग ही ठीक

कर सकते है। लेकिन यह भ्रम है। किसीको पाँचवीं या आठवीं जमात तक पढ लेने भर से राजनैतिक ज्ञान नहीं आ जाता। तुम अपने ही गाँव मे देखोगे कि बहुत-से बूढे ग्रामवासी निरक्षर भले ही हों, लेकिन वे मूर्ख नही है। बातचीत मे और पंचायतों मे इनकी समझदारी और बुद्धिमत्ता का अच्छा परिचय मिलता है। हमारे गाँवों की स्त्रियाँ भी निरक्षर भले ही हों, लेकिन सैकडों सालों से आनेवाली प्रथाओं और रामायण, महाभारत आदि की बीसियों ज्ञानभरी कहानियों के सुनने से उन्हे धर्म, कर्म और अपने व्यवहार का विशेष ज्ञान होता है। अनपढ लोगों की पंचायतों के फैसले अक्सर अदालती फैसलों से कही ज्यादा ठीक होते है। फिर एक बात और। चुनाव के कारण वोट देनेवालों को राजनैतिक शिक्षा बहुत आसानी से प्राप्त हो जाती है। चुनाव मे खडी होनेवाली राजनैतिक पार्टियाँ मतदाताओं को अपने-अपने विचारों और सिद्धान्तों की खूब अच्छी शिक्षा देती है।

मताधिकार का प्रश्न राजनीतिशास्त्र मे बहुत ज्यादा महत्त्व रखता है। इसपर और भी बहुत कुछ लिखा जा सकता है और कुछ ख़ास सवालों पर तो, जिनका जिक्र इस पत्र मे नहीं कर पाया, मै खासतौर से लिखना चाहता हूँ। लेकिन अब आज यही तक। बाक़ी अगली चिट्ठी मे।

: ६ :

मताधिकार

१५-६-३८

प्रजा अपने देश के शासन मे भाग ले सके, इसका सबसे सरल और चालू तरीका यह है कि उसे कानून बनाने और शासन करनेवाली सभा के सदस्यों का चुनाव करने—वोट देने का हक हासिल हो। पिछले पत्र मे मैं बता चुका हूँ कि वोट देने के लिए किसी नागरिक पर सम्पत्ति या शिक्षा की कैद नहीं लगानी चाहिए। इसी सवाल पर आज कुछ और विचार करने की इच्छा है।

बहुत-से देशों मे सब जातियों को वोट देने का अधिकार नहीं है। इतिहास इसके उदाहरणों से भरा पडा है। अछूतों, विधर्मियों और पराजितों को ज्यादातर देशों मे शासन मे भाग लेने का अधिकार हासिल न था, पर जब हमने यह मान लिया कि प्रत्येक व्यक्ति अपने देश का एक अग है, तो उसे समान अधिकार भी मिलना ही चाहिए। छोटी-छोटी जातियाँ, धर्म या श्रेणियाँ भी नागरिक-अधिकारों से वचित क्यों रक्खी जायं ? उन्हे भी मानव-समाज का एक सदस्य होने की हैसियत से सरकार या समाज के सब लाभ उठाने का अधिकार है। उनकी संस्कृति, उनकी भाषा, उनके रीति-रिवाज और धर्म आदि की रक्षा तभी हो सकती है, जब हम उन्हे भी बराबरी का दर्जा देकर उन्हे वोट देने का अधिकार दे। संयुक्तराष्ट्र अमेरिका का एक मुख्य सिद्धान्त है (No taxation without representation) जबतक शासन मे प्रतिनिधित्व न हो, तबतक

सरकार को भी टैक्स नहीं देना चाहिए। मनुष्य को स्वतंत्र मान लेने पर हम किसीको बाधित नहीं कर सकते, लेकिन जब वह समझौते के क्षेत्र मे आजाता है, राज्य से होनेवाली सुविधाये प्राप्त करता है, तब उसके बन्धनों को भी मानता है, और जब बन्धन मानता है, तब अपने लिए सुविधाय भी जरूर चाहेगा। इसीलिए राष्ट्र के छोटे-से-छोटे अग को भी अपने अधिकार से वचित नहीं रख सकते। शासन मे भाग न होते हुए भी टैक्स देने का अर्थ है गुलामी। अल्पसख्यक जातियों की समस्या का भी यही हल है। उन्हे भी राज्य-शासन मे भाग लेने का पूरा मौका मिलना चाहिए। बहुमत अल्पमत को दबा न ले, इसका भी प्राय प्रत्येक सभ्य राष्ट्र मे ध्यान रक्खा जाता है। अल्पमत वाली जातियों को कुछ विशेष गारण्टी दी जाती है। बेलजियम, जर्मनी, फ्रास, आस्ट्रिया,[1] पोलैण्ड, यूगोस्लाविया, चेकोस्लेवाकिया आदि मे आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रथा प्रचलित है। राष्ट्रसंघ ने भी इसके बारे मे कुछ नियम बनाये है। हमारी राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस ने भी अल्पसख्यक जातियों के कुछ मौलिक अधिकार स्वीकृत कर उन्हे गारण्टी दी है कि उनके नागरिक अधिकारों पर कुठाराघात नहीं किया जायगा। राष्ट्रसंघ व कांग्रेस के प्रस्ताव इस पत्र के साथ अलग से देता हूँ। (देखो परिशिष्ट)

स्त्रियों को मताधिकार मिलना चाहिए या नहीं, यह प्रश्न भले ही आज विवादकोटि से बाहर निकल गया हो, लेकिन कुछ वर्ष पहले यह बात न थी। यह बडा विवादास्पद प्रश्न था। स्त्रियों ने अपने अधि-

१ अब तो आस्ट्रिया का अस्तित्व ही नहीं रहा, वह हर हिटलर की कूटनीति और अन्य यूरोपियन राष्ट्रो की नपुसकता मे जर्मनी मे मिला लिया गया है।

कारों की प्राप्ति के लिए बड़े-बड़े संघर्ष किये। इंग्लैण्ड मे तो उन्होंने वडे-वड़े प्रदर्शन किये, पार्लमेण्ट की खिडकियों के शीशे आदि तक तोड डाले। वडी लम्बी जद्दोजहद के वाद उन्हे १६१८ मे यह मताधिकार मिला, यद्यपि नार्वे, डेनमार्क और हालण्ड मे स्त्रियों को यह अधिकार पहले से प्राप्त था। आश्चर्य की वात यह है कि इंग्लैण्ड मे स्त्रियाँ राजगद्दी पर वैठ सकती थीं, लेकिन फिर भी उन्हे मताधिकार देने की वात अंग्रेजों की समझ मे वहुत समय वाद आई। फ्रांस की क्रान्तिकारिणी नेशनल असेम्वली ने भी १७८६ ई० मे स्त्रियों के प्रार्थनापत्र को अस्वीकृत कर दिया था। पर अब जमाना वदल गया है। अमेरिका ने १६१६ मे स्त्रियों को यह अधिकार दिया। युद्ध के वाद तो प्रायः सभी देशों मे पुरुषों के समान ही स्त्रियों को भी यह अधिकार मिल चुका है।

प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान् जॉन स्टुअर्ट मिल ने स्त्रियों के राजनैतिक और नागरिक अधिकारों के लिए खूव प्रचार किया है। मिल की युक्तियों का साराश यह था कि अच्छे शासन की जरूरत पुरुषों को ही नहीं, स्त्रियों को भी है। जव स्त्रियों को सम्पत्ति रखने का अधिकार है, जव वे टैक्स अदा करती है, जव वे सरकार तक चला सकती हैं, तव वे सिर्फ मताधिकार ही क्यों नहीं प्राप्त कर सकतीं ? सरकार मे स्त्रियों का भाग न होने का परिणाम यह हुआ कि पुरुष-समाज स्त्रियों के हित को भूलकर सदा ऐसे ही कानून वनाता रहा है, जो पुरुषों के अनुकूल हों। यह सच भी है। तुम स्वयं देखोगे कि हमारे प्राचीन पुरुष स्मृतिकारों तक ने स्त्रियों के अधिकारों की वडी उपेक्षा की है। पतिव्रत धर्म का उपदेश देने मे ही स्मृतिकारों ने अपनी सारी ताकत खर्च करदी है, लेकिन पत्नीव्रत का उपदेश कहीं नहीं मिलता।

पुरुषों को बहुविवाह का पूर्ण अधिकार दिया गया है, जबकि एक बाल-विधवा को उमर-भर विधवा रहने पर विवश होना पड़ता है। हिन्दू कानून में स्त्री को विरासत तक का अधिकार प्राप्त नहीं। इस्लाम में भी स्त्रियों की बहुत बुरी दशा है। और यही हालत यूरोप में भी थी। वहाँ भी पत्नी के शरीर पर पति का अधिकार था। यह सब इसलिए संभव हो सका कि कानून का निर्माण और शासन पुरुष जाति के हाथ में था। लेकिन आज यह स्थिति नहीं है। आज की नारी बहुत आगे बढ़ गई है। अब वह राजनैतिक क्षेत्र में ही नहीं, संसार के प्रत्येक क्षेत्र में मनुष्य का मुकाबला करने लगी है। भारत के भी बड़े-बड़े शहरों में तुम यह अपनी आँखों से देख चुके होगे।

लेकिन इसके साथ ही एक नया प्रश्न पैदा होता है, कि आखिर नारी के अधिकार क्या हों? उसका कर्त्तव्यक्षेत्र क्या है? मेरी अपनी राय यह है कि उसे अधिकार तो पुरुषों के से ही मिलने चाहिए। वह भी उसी परमात्मा की सृष्टि है। संसार की सभ्यता के इतिहास में—पुरुष के निर्माण में, राष्ट्रों के उत्थान और पतन में, नारी का भी वही भाग है जो पुरुष का है। स्त्री और पुरुष मिलकर एक पूर्ण व्यक्ति बनते हैं। पुरानी कहावत के अनुसार स्त्री और पुरुष एक गाडी के दो पहिये हैं। इनमें से किसी एक की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। दोनों को जीवन का, अपने अधिकारों की रक्षा का, समान अधिकार है। लेकिन अधिकारों की समानता का अर्थ कर्तव्य-क्षेत्र की एकता नहीं है। तुम भले ही मुझे अनुदार या पुराणपन्थी समझो, लेकिन मेरा यह दृढ विश्वास है कि स्त्री और पुरुष की शरीर-रचना में भेद करके परमात्मा ने ही दोनों के कार्यक्षेत्र जुदे-जुदे बना दिये हैं। आज की नारी इसे भूल गई है। प्रसिद्ध तत्ववेत्ता

लैकी की राय बडी ही महत्त्वपूर्ण है। वह कहता है कि "यूरोप की स्त्रियों ने अपनी सभ्यता मे चाहे कितनी ही उन्नति की हो, पर उनकी वह उन्नति हमेशा पुरुषोचित रही है। स्त्रियोचित गुणों का—प्रेम, विश्वास, लज्जा, दया, सहानुभूति आदि का—पूर्ण विकास यहाँ की सभ्यता मे नहीं हुआ है। इस कारण हम उसी समय का सबसे ज्यादा स्वागत करेंगे, जब यहाँ की स्त्रियाँ स्त्रियोचित गुणों मे पूर्ण विकास करके आजादी हासिल करेगी। यूरोप को अब पौरुपीय सभ्यता की बिलकुल जरूरत नहीं है। वह युद्ध, राजनैतिक घात-प्रतिघात और सकीर्ण जातीयता से बहुत घबरा गया है। अब वह पूर्ण शक्ति, जो केवल स्त्रियोचित गुणों के विकास से ही प्राप्त होसकती है, चाहता है।"

देश या समाज के सभी अगों के शासन मे भाग लेने का एक बडा भारी परिणाम यह होता है कि सभी मे राष्ट्रीय या सामाजिक सगठन के प्रति अपनापन पैदा होजाता है। सब सरकार के प्रति अपनी जिम्मेदारी समझते है और उसका काम ठीक तरह से चलाने के लिए ज्यादा-से-ज्यादा सहयोग देते है। हिन्दुस्तान मे मताधिकार की योग्यता बहुत ऊँची रक्खी गई है। इस कारण बहुत कम लोग देश के शासन मे भाग ले सकते हैं। प्रान्तीय असेम्बलियों मे मत-दाताओं का अनुपात १५ फी सदी है। म्यूनिसिपल कमेटियों और जिला बोर्डों तक मे सामाजिक योग्यता को आधार माना गया है। दिल्ली म्यूनिसिपल कमेटी मे ३६) रु० सालाना से कम किराया देनेवाला वोट देने का हकदार नहीं हो सकता। कितना अंधेर है। अपने नगर तक के इन्तजाम मे लाखों दिल्ली-निवासियों का कोई हाथ नहीं।

बालिग-मताधिकार के सिलसिले मे तुम एक सवाल कर सकते हो, कि क्या इसका दुरुपयोग नहीं हो सकता ? हाँ, क्यों नहीं ? आज-

कल के जो चुनाव हो रहे हैं, उनकी असलियत से तुम भी अपरिचित नहीं हो। पार्टीबन्दी, झूठे प्रचार और रुपये के जोर से चुनाव के परिणाम तक बदले जा सकते हैं। १९२५ मे इंग्लैंड के अनुदारदल ने जिनोवीफ का झूठा पत्र[1] छापकर ही मजदूर दल को हराया था। स्थानीय म्यूनिसिपल चुनावों मे रुपये के जोर से कितने नालायक और स्वार्थी आदमी हमारे 'नगरपिता' बन जाते हैं, यह भी तुमसे छिपा नहीं है। तुम कह सकते हो कि यह बालिग-मताधिकार का परिणाम है। नहीं, ये सब बातें वहीं होती हैं, जहाँ जनता नागरिक अधिकारों के साथ-साथ नागरिक कर्तव्यों की चिन्ता नहीं करती।

सभी जगहों और सभी मौकों पर प्रजातन्त्र का—जनता का प्रबन्ध आदि मे भाग लेने का सिद्धान्त लागू नहीं किया जा सकता। कुछ ऐसे नाजुक मौके आते हैं, जब प्रजातन्त्र या बालिग-मताधिकार ताक पर रख देना पड़ता है, युद्ध के समान सेना की सारी बागडोर प्रधान सेनापति के हाथ मे सौंप देनी पड़ती है। वहाँ अलग-अलग सैनिक की सलाह लेना खतरनाक होता है। इटली, जर्मनी, टर्की आदि देशों मे वहांके तानाशाहों ने ही सारे अधिकार अपने हाथो मे लेकर अपने-अपने देशों को कहीं-से-कहीं पहुंचा दिया। हमारी कांग्रेस ने भी १९३० और १९३२ मे सत्याग्रह-संग्राम मे डिक्टेटर-शिप की प्रथा को मजूर किया था और इसमे सन्देह नहीं कि राष्ट्रों

१ अनुदार पार्टी ने प्रसिद्ध रूसी अधिकारी जिनोवीफ का ब्रिटेन-स्थित रूसियो के नाम इस आशय का एक कल्पित पत्र प्रकाशित किया था कि आप रूसियो को शाबास है कि ब्रिटेन की मजदूरपार्टी के साथ मिलकर ब्रिटेन में राजतत्र की समाप्ति और सोवियट की स्थापना के षडयन्त्र मे लगे हो। इसका प्रभाव यह हुआ कि मजदूर दल हार गया।

की सफलता का श्रेय इस डिक्टेटरशिप को भी दिया जाना चाहिए।

पर ये सब अपवाद है। इनसे यह साबित नही होता कि नागरिकों का अपने गाँव, नगर या देश के शासन मे कोई भाग नही है या उनका स्वतन्त्र व्यक्तित्व नष्ट होगया है। हाँ, नाबालिग, पागल और विदेशी लोगों को यह अधिकार नहीं दिया जाता, क्योंकि जहाँ नाबालिग और पागल देश की समस्या नहीं समझ सकते, वहाँ विदेशी कभी देश के हित और अपने हित को एक नहीं कर सकते। उनकी दृष्टि अपने देश के हित पर ही जायगी। उनके सम्बन्ध मे जुदे-जुदे देशों मे जुदे-जुदे नियम है। रूस और टर्की मे १६ साल की उम्र मे मताधिकार है तो जर्मनी और स्वीजरलैण्ड मे २०, अमेरिका व ब्रिटेन मे २१, नार्वे मे २३ और डैनमार्क व जापान मे २५ साल की उम्र मे यह अधिकार प्राप्त है।

मताधिकार की तह मे एक असूल काम करता है, और वह यह कि जनता अपना शासन स्वयं कर सके। प्रजातन्त्र या प्रतिनिधितन्त्र मे ये चार बातें दीखती है—(१) कानून बनाने मे प्रतिनिधियों की सम्मति ली जाती है, (२) उनकी सम्मति के बिना कर के रूप मे एक भी पाई न वसूल की जाती है और न खर्च की जाती है, (३) राज्य-प्रबन्ध करनेवाले मत्री भी इन्हीं मे से चुने जाते है और (४) प्रतिनिधि समय-समय पर सरकार के कामों की आलोचना करते हैं। मताधिकार इन्हीं बातों का एक लक्षण मात्र है। शासन के सभी विभागों मे जनता का खुला प्रवेश होना चाहिए। सरकारी नौकरियों के पद सभी जातियों, सभी धर्मों और सभी वर्णों के लोगों के लिए बिना किसी भेदभाव के खुले रहने चाहिए, जिन्हे परीक्षा या किसी अन्य कसौटी द्वारा अपनी योग्यता सिद्ध करके वे प्राप्त कर सकें।

भारत में बहुत-से पद गोरे लोगों के लिए सुरक्षित हैं। यह नागरिक अधिकारों के सिद्धान्त के विरुद्ध है। बहुत-से पदों पर हरिजनों, मुसलमानों या हिन्दुओं को उनकी जाति या धर्म के नाते रक्खा जाता है, न कि योग्यता के आधार पर। यह ठीक नहीं है। साम्प्रदायिक दृष्टि से प्रतिनिधि-सभाओं की जगहों या नौकरियों का बंटवारा बहुत अराष्ट्रीय और नुकसानदेह है। इसकी सबसे बड़ी हानि यह है कि देश में अपने-अपने सम्प्रदाय और जाति के हित को देश के हित से ऊपर समझने की खतरनाक प्रवृत्ति पैदा हो जाती है।

मत लेने के सम्बन्ध में एक बात और। मत हमेशा गुप्त रीति से लेने चाहिएं। कोई उम्मीदवार किसीपर कोई नाजायज दबाव न डाल सके, इसका सबसे बढ़िया तरीका पर्चियों द्वारा अकेले कमरे में वोट लेना है, जहाँ किसीको मालूम न हो कि वोट किसे दिया गया है। अनुचित दबाव के कारण दिया गया वोट कोई अर्थ ही नहीं रखता, क्योंकि इससे मताधिकार का प्रयोजन पूरा नहीं होता। मतदाताओं को यह निश्चय रहना चाहिए कि उनके अपनी मरजी के मुताबिक़ वोट देने से कोई जमींदार, मिलमालिक, सरकारी अफ़सर या कोई प्रभावशाली मनुष्य उन्हें सता न सकेगा।

मेरा यह पत्र आज काफी लम्बा होगया, इसलिए इसे अब यहीं खतम करता हूँ। मैं जो कहना चाहता था, शायद सभी लिख दिया है। यह ठीक है कि इसमें अनेक ऐसे विवादास्पद विषय आ गये हैं, जिनपर विस्तार से विचार करने की जरूरत है, लेकिन नागरिक शास्त्र से उनका जितना सम्बन्ध था, उतना लिख ही दिया है।

: ७ :

धार्मिक स्वतन्त्रता

२०-६-३८

मैं जब कभी संसार के इतिहास की कोई पुस्तक पढ़ने लगता हूँ, तो मेरे दिल मे कई तरह के विचार पैदा होते है। यह दुनिया सैकडों, हजारों और लाखों विचित्र और अद्भुत घटनाओं का रङ्ग-मच है। ये घटनायें किसी एक देश मे नहीं, बल्कि दुनिया के अलग-अलग भागों मे—सभी कोनों मे और सभी कालों मे हुई है, लेकिन उनमे कितनी ही आश्चर्यजनक समानतायें भी है। उनमे से एक समानता यह है कि मनुष्य ने अपने धर्म को दूसरे पर लादने के लिए भीषण अत्याचार किया है। पिछले दो हजार बरसों का इतिहास पढ़ लो। भारत का, अरब या फारस का, फ्रास, जर्मनी, रोम, इंग्लैण्ड या स्पेन का, सभी देशों का इतिहास इस बात का साक्षी है। कुछ ऐतिहासिकों का अनुमान है कि राजनैतिक या आर्थिक युद्धों मे इतने मनुष्यों का नाश नहीं हुआ, जितना धर्म के नाम पर—उस धर्म के नाम पर, जो दुनिया को शान्ति और कल्याण का उपदेश देता है—हुआ है। ऐसे भी विद्वान् हैं, जो सभी ऐतिहासिक घटनाओं की आर्थिक व्याख्या करते हुए उसके मूल मे आर्थिक कारण खोजते है, लेकिन वे भी धर्म के महत्त्वपूर्ण स्थान को कम नहीं कर सके। बौद्धों और हिन्दुओं के अत्याचारों की बात शायद लोग भूल गये हों, लेकिन हिन्दुस्तान मे मुसलमानों ने हिन्दुओं पर जितने अत्याचार किये हैं, उन्हे तो हरेक पढा-लिखा भारतीय जानता है। लाखों हिन्दू

मुसलमान बना लिये गये, और हजारों मन्दिर भूमिसात कर दिये गये। लेकिन इससे ज्यादा अत्याचार मुसलमानों ने यूरोप में किये। यूरोपियन ईसाइयों के अत्याचार तो अन्य सब धर्मों के अत्याचारों को मात कर देते है। पोप ने जिस 'इन्किजिशन' की भीषण प्रथा का आविष्कार किया था, उसका इतिहास आज भी उतना ही रोमाच-कारी दीखता है। हजारों और लाखों आदमी महज इसलिए जिन्दा जला दिये जाते थे कि वे चर्च के धार्मिक सिद्धान्तों को हूबहू नहीं मानते थे। फ्रास की स्वतन्त्रता की देवी 'जीन द आर्क' तक इसी धर्म के नाम पर जिन्दा जला दी गई थी। ग्रीस के महात्मा सुकरात को, जो जोन स्टुअर्ट मिल के शब्दों मे "सबसे अधिक नीतिवान और धर्मात्मा था, जो अपने बाद होनेवाले सभी पुरुषों के लिए एक आदर्शरूप था, जिसकी विमल कीर्ति अबतक बराबर बढ़ती ही जाती है, उसी विश्ववन्द्य और पवित्र अन्त.करण वाले पुरुष" को, अधार्मिकता के नाम पर जहर का प्याला दिया गया। उसका एकमात्र अपराध यह था कि सारा देश जिन देवताओं की पूजा करता था, उनपर उसका विश्वास न था। ससार को शान्ति देनेवाले हजरत ईसा तक धर्म के नाम पर सूली पर लटका दिये गये थे। धर्म के नाम पर संसार में जो अत्याचार और हत्याकाण्ड हुए है, वे दिल दहला देने वाले है। लेकिन इससे भी बडी हैरानी की बात यह है कि यह सारी हिंसा और सारा अत्याचार ईमानदारी के साथ किया गया था, किसी जाती फायदे के लिए नहीं। ये सारे रोमाचकारी कृत्य इस दृढ विश्वास से किये जाते थे कि हम पुण्य का काम कर रहे है, और जिस आदमी को जिन्दा जला रहे है, उसके पाप नष्ट कर रहे है और उसकी आत्मा को बचा रहे है। और दरअसल देखा जाय तो जिन

लोगों ने ऐसे-ऐसे अत्याचार किये, वे व्यक्तिगत रूप से अत्याचारी भी न थे। साधारण मनुष्यों से किसी कदर अच्छे ही थे, धर्म और नीति का ज्ञान भी उन्हे पर्याप्त था। तब इस प्रकार की घटनाओं का क्या कारण है ?

इसका कारण लोगों का वह अभिमानपूर्ण अन्धविश्वास है, जिसकी वजह से वे अपना व अपने धर्म का तनिक भी विरोध नहीं सह सकते। दुनिया मे इस प्रकार के जितने भी पाप, हत्या व खून-खच्चर हुए है, वे किसी खास आदमी की क्रूरता या दुष्टता के परिणाम नहीं हैं, बल्कि एक भयंकर सिद्धान्त के परिणाम है। इसके दोषी उस समय के सिद्धान्त नहीं है, बल्कि वही विश्वास है जो उस समय भी प्रचलित था और आज भी प्रचलित है। यह विश्वास है मनुष्य का अपने धर्म व अपने विचार को सोलह आने सच मानना और दूसरे के धर्म व विचार को असत्य मानकर उसपर अपना धर्म लादने मे परोपकार व धर्म समझना।

यह कितने आश्चर्य की बात है कि धर्म को लेकर हरेक मनुष्य अपनेको पूरी सचाई पर मानने लगता है, यद्यपि जॉन स्टुअर्ट मिल के अनुसार "किसीका किसी धर्म को मानना बिलकुल आकस्मिक घटना है। आज एक आदमी ईसाई के घर पैदा होगया या मुसलमान या हिन्दू के घर तो वह उन-उन घरों मे पैदा होने मात्र से ईसाई, मुसलमान या हिन्दू होगया। यदि वह मुसलमान के घर पैदा न होकर हिन्दू के घर पैदा होता, तो उसकी राय मे कुरान झूठों का पुलिन्दा होता, पर अब वह कुरान को ही एकमात्र सत्यग्रन्थ मानकर उसे न माननेवालों के गले काटने पर उतारू है। इसी तरह एक मुसलमान भी अपनेको निर्भ्रान्त मानता है और एक ईसाई भी, लेकिन दोनों के धर्म

बिलकुल विपरीत है। दोनों ही एक-दूसरे के विचार, विवेचना, आलोचना तकरीर या बहस बिलकुल ही बन्द करना चाहते हैं और इस तरह अपने को बिलकुल ठीक, सही और अपनी बुद्धि को बिलकुल अस्खलित मानने का दावा करते हैं।" आमतौर पर मनुष्य रोजमर्रा के व्यवहार में निर्भ्रान्त होने का दावा नहीं करता, लेकिन धर्म और संस्कृति के संबंध में वह अपने देश, जाति या पन्थ को ही सत्य मानकर दूसरे देश, जाति या पन्थ की बात को एकदम गलत कह देता है। उसके मन में यह बात कभी नहीं आती कि किसी एक जाति या पन्थ के मत पर विश्वास करना सिर्फ एक आकस्मिक घटना है। अपने उस 'सीमित संसार' में पैदा होने या रहने के कारण ही वह उसकी सम्मति पर विश्वास करता है। वह अपने सीमित संसार की राय को सारी दुनिया की राय मानता है। वह यह नहीं सोचता कि जिन कारणों से लन्दन में वह ईसाई हुआ, उन्हीं कारणों से पेकिंग में वह बौद्ध या कन्फ्यूशियन धर्म का अनुयायी होता।

एक बात और। एक आदमी से जैसे गलती हो सकती है, वैसे ही एक युग, एक पुश्त या एक पीढ़ी से भी भूल हो सकती है। मिल कहता है कि "यह बात स्वयं सिद्ध है और आवश्यकता होने पर युक्तियों से सिद्ध भी की जा सकती है। हर युग या पुश्त के बहुत-से मत ऐसे थे, जो अगली पुश्त के लोगों को भ्रान्तिमूलक या झूठे ही नहीं, बल्कि असङ्गत, बुद्धि-विरुद्ध और अनर्थकारी मालूम हुए। इतिहास इस बात का साक्षी है, और यह भी सच है कि पहले जमाने की बहुत-सी बातें जैसे इस समय कोई नहीं मानता, वैसे ही इस समय जो बहुत-सी बातें सबको मान्य हैं, वे आगे न मानी जायँगी।"

किसी ने बिलकुल ठीक कहा है :—

श्रुतयोऽपि भिन्ना स्मृतयोऽपि भिन्ना
नैको मुनिर्यस्य वच प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्त्व निहित गुहाया,
महाजनो येन गत स पन्था ।

श्रुति स्मृति सरीखे सभी धर्मशास्त्र परस्पर भिन्न-विचार प्रकट करते है। इसलिए एक भी मुनि ऐसा नहीं, जिसकी बात प्रमाण मानी जा सके। असल मे धर्म का तत्त्व बहुत गहन है। साधारण मनुष्य को महापुरुषों के जीवन का ही अनुकरण करना चाहिए।

इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि हरेक आदमी अपने धर्म या सस्कृति को मानने मे स्वतन्त्र रहे। किसीपर अपना धर्म या सस्कृति लादने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। जवाहरलाल नेहरू लिखते है—"सभ्यता और संस्कृति की परिभाषा मुश्किल है और मैं इसकी परिभाषा करने की कोशिश करूँगा भी नहीं। लेकिन संस्कृति के अन्दर पाई जानेवाली अनेक बातों मे से निस्सन्देह एक चीज यह भी है—अपने ऊपर संयम और दूसरों की सुविधा का लिहाज। अगर किसी आदमी मे अपने अन्दर सयम नहीं पाया जाता और वह दूसरों की सुविधा का कोई ख़याल नहीं करता, तो हम यह निश्चय-पूर्वक कह सकते है कि वह आदमी असभ्य और बदतमीज है।"

मनुष्य की सभ्यता यह है कि वह भले ही अपने धर्म पर पूर्ण श्रद्धा और विश्वास रक्खे, लेकिन वह अपने धर्म को दूसरे के सिर पर जबरदस्ती थोपने की कोशिश न करे। प्रत्येक को अपने धर्म का प्रचार करने की स्वतन्त्रता रहे, किसीके प्रचार-मार्ग मे बाधा न डाली जाय। तुम एक बार ख़याल तो करो कि यदि दूसरे का विचार सुनने पर बिलकुल ही पाबन्दी रहती तो भगवान बुद्ध अपने कल्याण-

कारी उपदेशों का प्रचार कैसे कर पाते ? स्वामी दयानन्द को मुह खोलने की आज्ञा न होती तो वह हिन्दुस्तान की भीषण बुराइयों को कैसे दूर करा सकते ? स्व० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर कैसे विधवाविवाह के लिए आन्दोलन करके विधवाओं को भयकर अत्याचारों से बचा पाते ? यदि चालू विचारों के विरुद्ध आवाज न उठाने दी जाती तो चीन की नारी जाति पर सदियों से लोहे की जूती पहनने का जो यन्त्रणामय अत्याचार हो रहा था, उससे उसे कैसे मुक्ति मिलती ? भारत मे स्त्रियों और शूद्रों से पढने का जो कुदरती अधिकार छीन लिया गया था, वह उन्हे कैसे हासिल होता ? या कोई भी लाभकारी राजनैतिक और सामाजिक आन्दोलन कैसे सफल होता ?

: ८ :

भारत में धार्मिक स्वतंत्रता

२२-६-३८

प्रत्येक मनुष्य अपने धर्म व रीति-रिवाजों को मानने और उनका अपने साथियों या देशभाइयों मे प्रचार करने मे आजाद है—यह सचाई वैसे तो दुनिया के हरेक आदमी के लिए माननीय है, पर हिन्दुस्तान के लिए तो, जहाँ सैकडों मत-मतान्तर है और भिन्न-भिन्न परस्परविरोधी धर्म है, इस सत्य को समझने की और भी ज्यादा जरूरत है। प्रत्येक व्यक्ति को अपना धर्म मानने और उसका प्रचार करने का अधिकार है। प्रत्येक सरकार का फर्ज है कि वह अपनी प्रजा के इस अधिकार की रक्षा करे। किसी खास धर्म को मानने के कारण किसीको खास अधिकार न दिया जाय और न किसी धर्म-विशेष को मानने के कारण किसी से कोई अधिकार छीना जाय। मुसलमानों का हिन्दुओं पर जजिया कर लगाना, यूरोप के जुदे-जुदे देशों मे कैथलिकों या प्रोटेस्टेण्टों से विशेष पक्षपात या जर्मनी मे यहूदियों के नागरिक अधिकार छीनना आदि मनुष्य के झूठे अभिमान के उदाहरण हैं। यहाँ मनुष्य अपनेको या अपने धर्म को बिलकुल सच्चा मान लेता है। आज भी भारत मे धार्मिक असहिष्णुता के उदाहरणों की कमी नहीं है। हिन्दू मुसलमानों पर यह जोर डालते है कि वे गोवध न करें, पीपल न काटें और मुसलमान उनपर बाजा न बजाने की जबरदस्ती करते है। यह सब क्या है, दूसरे की धार्मिक स्वाधीनता छीनना ही तो है। सरकार का फर्ज है कि वह सब धर्मों

या जातियों के धार्मिक समारोह मनाने के अधिकार की रक्षा करे।

भारतवर्ष की समस्या केवल जुदा-जुदा धर्मों तक ही सीमित नहीं है। वैदिक या प्राचीन काल मे, जैसा कि मैं पहले कह आया हूँ, समाज का संगठन समाज के हित को ध्यान मे रखकर किया गया था। लेकिन पीछे एक समय आया, जबकि समाज व्यक्ति पर हावी हो गया। यह भारत का पतनकाल था। इस काल मे यहाँ व्यक्तिगत स्वाधीनता इस बुरी तरह से कुचली गई कि समाज का बहुत बडा भाग व्यक्तिगत बातों मे भी आजाद नहीं रह सका है। हिन्दू-समाज की रूढिप्रियता, अन्ध-विश्वास और अनुदारता के कारण ही जात-पॉत और छूत-छात के कठोर बंधन बनाये गये। अपने आप तो उच्च-वर्ण के पुरुष-समाज ने सब सुविधाये ले लीं, लेकिन दूसरे को वे सामाजिक स्वतंत्रताये देने से इन्कार कर दिया। 'स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्' मे यही रहस्य है। स्त्रियों और दलितवर्ग को शिक्षा तक के अधिकार से वंचित कर दिया गया। कितना भीषण अनर्थ है। शूद्र यदि वेद के मंत्र सुन ले, तो उसके कानों मे गरम तेल तक डालने का फतवा हमारे यहाँ दे डाला गया है। आज की इस बीसवीं सदी मे भी भारत मे मनुष्यों को किसी जाति मे पैदा होने के कारण ही बहुत-से अधिकारों से वंचित किया जाता है। दलित व्यक्ति किसी उच्च-वर्ण कहलानेवाले को छू नहीं सकता, किसी सार्वजनिक मदिर मे जा नहीं सकता, और सार्वजनिक कुऍ पर पानी भर नहीं सकता, भले ही वह प्यासा तडपता रहे। मद्रास मे तो छुआछूत का भाव बेहद बढा हुआ है। वहाँ अछूतों को बहुत-सी सडकों तक पर चलने का अधिकार नहीं है। अगर उनकी छाया भी किसी सवर्ण पर पड जाय तो उस अछूत बेचारे की तो आफत ही आजाती है। इतना ही नहीं,

वे आपस मे व्यवहार करने में भी आजाद नहीं है। वे बहुत जगहों पर ऊन के कपड़े नहीं पहन सकते, सोने-चाँदी के गहने पहनना उनके लिए मना है, विवाह के अवसर पर वे घोड़े या हाथी पर नहीं चढ सकते, पालकियों मे उनकी स्त्रियाँ नहीं बैठ सकतीं और वे अपने घरों मे अपने मन मुताबिक पक्वान्न नहीं बना सकते। भारत के जुदे-जुदे प्रान्तों मे इस प्रकार के कठोर बंधन निम्न वर्ण के मनुष्यों पर उच्च-वर्ण के लोगों ने लगा रक्खे है। समाज या राष्ट्र के प्रत्येक सदस्य को सामाजिक दृष्टि से पूर्णतः स्वाधीन रहना चाहिए। सरकार का कर्तव्य है कि वह अपने प्रत्येक अंग के हितों की रक्षा करे। यदि समाज दलितों के एक भाग की उपेक्षा करता है, तो यह भी निश्चित है कि वह भाग भी समाज को परवा न करेगा और अगर उसे समाज के विरुद्ध क्रान्ति या वगावत करने का मौका मिला तो वह इसमे भी नहीं चूकेगा। नागरिकों की सामाजिक स्वतन्त्रता का मतलब यह है कि वे अपनी मर्जी के मुताबिक खान-पान, पहनना-ओढ़ना, रहन-सहन आदि रख सकें, अपने धार्मिक उत्सव समारोह से मना सकें, उनके विवाह-शादी, उनके बालकों की शिक्षा, खेल-कूद तथा स्वदेश या विदेश मे जाने-आने मे भी राज्य या समाज की ओर से कोई अनुचित बाधा न हो। जिन चीजों के बनाने या जिन संस्थाओं को चलाने के लिए राज्य आम रिआया द्वारा दिये गये करों से ख़र्च करता है, उनके उपयोग मे किसीको कुछ बाधा न होनी चाहिए, चाहे वह किसी भी धर्म या मत को माननेवाला हो या किसी जाति मे पैदा हुआ हो।

मैं अभी कुछ दिन हुए, पं० जवाहरलाल नेहरू की 'विश्व-इतिहास की झलक'[1] पढ रहा था। यह पुस्तक बहुत ही अच्छी और उपयोगी

१ सस्ता साहित्य मडल से प्रकाशित—मूल्य ८)

है। मैं तुम्हे इसके पढ़ने की जोरों से सिफारिश करूंगा। इससे तुम्हे बहुत-सी नई और उपयोगी बातें मालूम होंगी और दुनिया का सारा इतिहास तुम्हारी आंखों के आगे खड़ा हो जायगा। इस पुस्तक मे जवाहरलालजी ने हिन्दू-धर्म की उदारता और प्रगतिशीलता के सम्बन्ध मे एक बात बिलकुल ठीक लिखी है—"हिन्दू-धर्म और हिन्दू-शास्त्र कई बातों मे परिवर्तनशील और प्रगतिशील थे, यह बात दूसरी है कि पिछली सदियों मे इनकी प्रगति बहुत धीमी रही। स्वयं हिन्दू-शास्त्र एक तरह से प्रथा या रिवाज है और रिवाज हमेशा बदलते और तरक्की करते रहते है।" वस्तुतः हिन्दू स्मृतिकार कभी किसी बात पर इतने अधिक कट्टर नहीं रहे। उन्होंने हरेक नई उपयोगी और समयानुकूल बात को अपना लिया। यही कारण है कि अलग-अलग समयों मे बनी हुई स्मृतियो मे हम इतना अन्तर पाते है। भिन्न-भिन्न मत रखनेवाले आचार्य भी समान आदरबुद्धि से देखे गये है। ईश्वर से इन्कार करनेवाले कपिल तक मुनि माने गये है। भारतवर्ष मे जो मत पैदा हुए, सभी हिन्दू-धर्म के उदार और विशाल शरीर के अग बन गये। यहां तक कि बौद्ध-धर्म भी, जो हिन्दू-धर्म का विरोधी था, हिन्दू-धर्म का अग बन गया और बुद्ध हिन्दुओं के अवतार बन गये। ऐतिहासिकों का ख़याल है कि यदि इस्लाम अपनी तलवार के साथ न आता, तो वह भी व्यापक हिन्दू-धर्म का एक अग बन जाता। महमूद गजनी के आक्रमण से पहले हिन्दू राजाओं ने इस्लाम की सहायता की, इसके कई उदाहरण मिलते है। पर हिन्दू-धर्म मे कट्टरता कहांसे आई, इसका भी सुन्दर विवेचन पं० जवाहरलाल करते है। वह लिखते है—"ब्रिटिश सरकार ने दोनों (हिन्दू और इस्लाम) धर्मों के कट्टरपन को बढाने मे जानबूझ कर

और अनजान मे दोनों तरह सहायता दी। वे धर्म के ऊपरी रूप की रक्षा और सहायता तक करने लगे। कट्टर लोगों की नाराजी के डर से सरकार सुधारकों के खिलाफ कट्टर लोगों का पक्ष लेने लगी, इस तरह सुधार का काम रुक गया हिन्दूशास्त्र का परिस्थितियों के अनुकूल बन सकने का यह गुण ब्रिटिश राज्य के अन्दर गायब हो गया और उसकी जगह बड़े-से-बड़े कट्टरपन्थियों की सलाह से बनाये गये कठोर शास्त्रीय नियमों ने ले ली।" यह कट्टरता ही धार्मिक या सामाजिक असहिष्णुता का मूल है।

किसी राष्ट्र के नागरिकों को जहाँ अपना धर्म, अपनी संस्कृति, अपनी विचारधारा प्यारी होती है, वहाँ अपनी लिपि और अपनी भाषा से भी प्यार होता है। भाषा और लिपि किसी देश या जाति की सस्कृति का एक बडा अंग है और इनकी रक्षा का उसे पूरा अधिकार है। एक देश की लिपि और भाषा नष्ट कर दो, उसके अन्दर आत्माभिमान व देशभक्ति की भावना भी कम होजायगी। ज्यादातर अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीयों मे संस्कृत या हिन्दी पढ़े हुओं की बनिस्बत भारतीय सस्कृति से कम प्रेम होना स्वाभाविक है। इसीलिए पराधीन राष्ट्र की लिपि व भाषा को नष्ट करने का प्रयत्न शासक लोग अवश्य करते हैं। भारत मे अंग्रेजी शिक्षा की मैकाले-योजना का उद्देश्य ही 'काले गोरे' पैदा करना था। सर जान वुडरफ के शब्दों मे "जो लोग दूसरी भाषा (या लिपि) के लिए अपनी भाषा (या लिपि) को छोड देते हैं या ऐसा करने के लिए विवश किये जाते हैं, वे अपने अस्तित्व को नष्ट कर देते हैं।" राजकार्य मे भी अपनी भाषा का प्रयोग करने का अधिकार होना चाहिए। भारत मे प्रत्येक प्रान्त को अपनी प्रान्तीय भाषाओं को रक्षा का अधिकार है, लेकिन सार्वदेशिक

कार्य के लिए एक राष्ट्र-भाषा (आजकल सर्वसम्मति से हिन्दुस्तानी को यह पद मिल चुका है) नियत होनी चाहिए। उर्दू या हिन्दी के प्रश्न पर भी इसी दृष्टि से विचार करना चाहिए।

इस ऊपर लिखे विवेचन से तुम यह न समझ लेना कि प्रत्येक मनुष्य या समाज हरेक प्रकार का आचरण करने मे स्वतंत्र है। प्रत्येक नियम मे अपवाद होते है। व्यक्तिगत स्वाधीनता के सम्बन्ध मे भी कुछ अपवाद है।

मैं पहले पत्रों मे लिख चुका हू कि मनुष्य को वे सब अधिकार प्राप्त होने चाहिए, जिनसे समाज की अवनति न हो। किसी की व्यक्तिगत स्वाधीनता की कसौटी भी जॉन स्टुअर्ट मिल के शब्दों मे यह है—"दूसरो को किसी तरह की हानि न पहुँचाकर और अपने हित के लिए किये गये दूसरो के यत्न मे बाधा न डालकर, जिस तरह हो, उस तरह, अपने स्वार्थ-साधन की आजादी का नाम स्वाधीनता है।"

प्रत्येक अपना धार्मिक समारोह मनावे, लेकिन उसका समारोह किसी दूसरे के अधिकार मे बाधक न हो। मुसलमानों को गोवध का अधिकार तो है, लेकिन उन्हे यह अधिकार नहीं कि वे उसे सजाकर उन सार्वजनिक सड़कों या बाज़ारों से ले जावे, जहाँ रहनेवाली अधिकाश हिन्दू आबादी का दिल दुःखे। इसी तरह किसी का यह अधिकार नहीं कि वह अपने धर्म के नाम पर अछूतों और दलितों को उनके सार्वजनिक अधिकारों से वञ्चित करे। किसी मत मे नरबलि का विधान है, तो उसे भी वैसा करने की आज्ञा नहीं दी जा सकती। यदि किसी सम्प्रदाय मे ब्रह्मचर्य को महत्त्व नही दिया जाता, तो भी उसे व्यभिचार की—वाममार्ग की तान्त्रिक विधियों की आज्ञा नहीं दी जा सकती। आजकल यूरोप मे चलने वाले नग्नतावाद का मैं इसी-

लिए विरोधी हूँ कि इससे समाज मे अनाचार बढने की संभावना बहुत बढ जाती है। व्यक्तिगत स्वाधीनता पर भी इसी नुक्तेनिगाह से कुछ पाबन्दियां लगाई जाती है। एक व्यक्ति कहता है कि मैं अपनी सन्तान को शिक्षा नहीं दूँगा, दूसरा मनुष्य कहता है कि मैं ५० साल का हूं, तो क्या हुआ, मैं १० साल की लडकी से विवाह करूँगा, तीसरा आदमी सफाई के नियमों को मानने से मैं इन्कार करता है और चौथा वेश्यागमन की छूट चाहता है। उपर्युक्त चारों मनुष्य व्यक्तिगत स्वाधीनता की दुहाई देते है। इनको रोकने से इनकी व्यक्तिगत स्वाधीनता मे चोट भी जरूर लगती है, लेकिन फिर भी समाज को इन सब पर बधन तो लगाने पडेंगे, क्योंकि इस प्रकार की स्वाधीनता से समाज की और उस व्यक्ति की स्थायी हानि होती है। समाज मे शिक्षा का प्रचार जरूरी है, अशिक्षा समाज के धरातल को नीचे ले जाती है। वृद्ध-विवाह एक कन्या पर बलात्कार है, इससे उस कन्या का जीवन नष्ट होजाता है। सफाई के नियम न मानने से न केवल नियम तोडने वाला बीमार हो सकता है, परन्तु आस-पास भी रोग फैलने का अन्देशा है। वेश्या गमन या शराब भी समाज मे बुराइयों को फैलाते हैं—समाज का नैतिक पतन करते हैं। इसलिए इन सब पर पाबन्दी लगनी चाहिए। समाज सुधार के कानून भी समाज के स्थायी और व्यापक हित को लक्ष्य मे रखकर ही बनाये जाते है।

जॉन स्टुअर्ट मिल का एक उद्धरण देकर इस पत्र को समाप्त करूँगा—"यदि कोई आदमी ऐसा काम करता है, जिससे दूसरों को तकलीफ होती है, तो उसे कानून के द्वारा सजा देना उचित मालूम होता है। ऐसी भी बहुत-सी बातें हैं, जिनसे समाज के हित की विशेष

सम्भावना रहती है। वे भी हरेक आदमी से जबरन कराई जा सकती हैं। अदालत में जज के सामने गवाही देने के लिए हरेक आदमी मजबूर किया जा सकता है, क्योंकि जिस समाज में वह आराम से रहता है, उसके हित या उसकी रक्षा के लिए सहायता करना उसका धर्म है। किसी की जान बचाने या असहायों पर जुल्म होते देख-कर उनकी रक्षा करने के लिए बल-प्रयोग करना उचित है। जो आदमी दूसरे को लाठी से मारकर उसे चोट पहुँचाता है, वह भी सजा पाने का काम करता है और जो दूसरे को डूबता देखकर उसे बचाने की कोशिश न करके चुपचाप तमाशा देखता रहता है, वह भी सजा पाने का काम करता है।"

मिल ने 'लिबर्टी' के पांचवें अध्याय में दो सिद्धान्तों का जिक्र किया है —(१) आदमी के जिस काम से उसे छोड़ और किसी का सम्बन्ध नहीं है, उसके लिए वह समाज के सामने जवाबदेह नहीं है। (२) जिन बातों से दूसरों का सम्बन्ध है, उनके लिए हर आदमी समाज के सामने जवाबदेह है। (इसी सिद्धान्त के अनुसार सभी देशों में दण्ड व्यवस्था लागू होती है।)

: ९ :

लिखने और बोलने की स्वतन्त्रता

२५-६-३८

तुमने अखबार मे पढा होगा कि कुछ दिन हुए इंग्लैण्ड मे एक छोटी-सी घटना होगई थी। हाउस आफ कामन्स के एक सदस्य मि० सेण्डीज ने पार्लमेण्ट मे कुछ सवाल पूछे थे। उन सवालों से मालूम होता था कि सेना के कुछ गुप्त भेद उन्हे मालूम है। इसपर सैनिक अधिकारियों ने उनसे जवाब तलब किया कि उन्हे ये समाचार कैसे मालूम हुए। और उन्हे सैनिक अदालत मे उपस्थित होने को कहा गया। इसपर पार्लमेण्ट के सदस्यों ने वडा हल्ला मचाया। उनका कहना था कि प्रजा के प्रतिनिधियों को अधिकार है कि वे देशहित के सम्बन्ध मे प्रत्येक विषय पर जानकारी रक्खें और अधिकारियों से सवाल करें। कुछ सोच-विचार कर सैनिक अधिकारियों ने सैनिक अदालत मे हाजिर होने की आज्ञा वापस लेली, पर पार्लमेण्ट ने सदस्यों के अधिकार पर विचार करने के लिए एक सब-कमेटी नियत करदी है। यह कमेटी क्या निर्णय करेगी, यह तो अभी से नहीं कहा जा-सकता, लेकिन इससे यह तो साफ है कि ब्रिटिश-जनता अपने अधिकारों के बारे मे, जिन्हे उसने वडी मुश्किलों से प्राप्त किया है, कितनी अधिक सतर्क है। वहाँ के नागरिकों को देश के शासन के सम्बन्ध मे जो अधिकार मिले है, वे उन्हे अपने प्राण से भी प्यारे है। यदि नागरिकों के प्रतिनिधि इन अधिकारों को छोड देते, तो गलती करते। सरकार न जाने कब कौन-सा अधिकार किस तरह

चुपचाप जनता से छीनले, यह हमेशा ख्याल में रखना पड़ता है। अपने अधिकार के सम्बन्ध में इतनी सतर्कता सीखने में हम भारतीयों को, जो 'कोऊ नृप होय, हमें का हानी' का सिद्धान्त मानते हैं, काफी समय लगेगा। अस्तु।

पिछले पत्रों में मैं नागरिक की शारीरिक, सामाजिक और धार्मिक स्वतन्त्रताओं पर प्रकाश डालते हुए यह भी बता चुका हूँ कि हरेक नागरिक को शासन के सम्बन्ध में भाग लेने का अधिकार है। और इसके लिए उसे मताधिकार मिलना चाहिए। इतना लिखने के बाद मुझे अब अधिकारों के सम्बन्ध में बहुत कहने की जरूरत नहीं रही। फिर भी अधिकारों की चर्चा में दो-तीन जरूरी बातों पर अलग-अलग चर्चा कर लेना जरूरी है, हालांकि वे पहले लिखी सब बातों के अन्तर्गत आजाती है।

राजनैतिक अधिकारों की चर्चा के सिलसिले में यह बात साफ़ कर चुका हूं कि प्रत्येक नागरिक का अपने गांव, नगर और देश के शासन में भाग लेने का पूरा अधिकार है। सामाजिक अधिकारों की चर्चा में मैंने यह बताने की कोशिश की थी कि किसी मनुष्य, जाति या समूह को अपने को निर्भ्रान्त नहीं मान लेना चाहिए। इन दोनों सिद्धान्तों को मान लेने के बाद नागरिकों के भाषण, लेखन और संगठन की स्वतन्त्रता पर ज्यादा लिखने की जरूरत नहीं रह जाती। एक मनुष्य निर्भ्रान्त नही है, इसलिए प्रत्येक ऐसे नागरिक को, जो राष्ट्र का अंग है, अपने विचार जाहिर करने की आजादी होनी चाहिए। विचार-विनिमय से मनुष्य को अपनी भूल मालूम होती है और वह अपनी विचारधारा या कार्य-पद्धति में जरूरी तबदीली कर लेता है।

हम अपने विचार दो प्रकार से प्रकट कर सकते है—(१) भाषण या बातचीत करके, और (२) लिखकर। यदि विचार प्रकट करने की आजादी न हो, शासन-नीति और सरकारी कार्यों की आलोचना करने का अधिकार न हो, तो शासन मे भाग लेने के अधिकार का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। शासन मे जनता का अधिकार तभी कारगर रह सकता है, जबकि जनता को या जनता के प्रतिनिधियो को लिखने-बोलने की पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त हो। आलोचना का अधिकार न होने से सरकार को अपनी गलतियों का पता नहीं लग सकता। गलतियों का पता न लगने से कोई सरकार अपने शासन को और अधिक अच्छा नहीं कर सकती। इसलिए प्रतिनिधितत्र देशो मे पार्टीवन्दी का स्वागत किया जाता है। बहुमतवाला पक्ष अपनी सरकार बनाता है तो अल्पमत उसका विरोध करता है। अल्पमत या विरोधीदल का किसी देश की राजनीति मे कम महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं होता। प्रत्येक देश मे विरोधी नेताओं का काफी सम्मान होता है। वस्तुतः विरोधी दल के नेता का भी किसी देश की शासन-नीति निर्धारित करने मे कम भाग नहीं होता, क्योंकि सरकार को हमेशा उसकी तीव्र आलोचना से भय खाना पडता है। इग्लैण्ड मे तो, जिसे पार्लमेण्ट-पद्धति का जनक कहा जाता है, एक-दो साल से विरोधी नेता के महत्त्व को इतना अधिक माना जाने लगा है कि इसी काय के लिए उसे सरकारी खजाने से वेतन मिलता है। वस्तुतः विरोधी दल सरकार की मनमानी पर नियन्त्रण रखता है, जनता के अधिकारों की रक्षा करता है और सरकार को ठीक दिशा बतलाता है। जब किसी सवाल पर सरकार लोकमत के खिलाफ कार्य करती है, तो वह सरकार मे अविश्वास का प्रस्ताव पेश करता है। यदि

सचमुच जनमत उसके साथ हुआ, तो सरकार को स्तीफा देना पड़ता है और फिर नया चुनाव होता है। इस तरह किसी देश की जनता अपने देश की नीति के निर्धारण में पूरा भाग लेती है। यह सब कार्य बिना विचार-स्वातंत्र्य के नहीं होसकता।

केवल असेम्बली या पार्लमेण्ट में ही नहीं, साधारणतः देश में हरेक राजनैतिक पार्टी को संगठन करने और अपने विचारों का प्रचार करने की भी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। प्रत्येक नागरिक अपने विचार सभाओं में प्रकट कर सके और अखबारों में प्रकाशित कर सके। भाषण या अखबार द्वारा सरकार की कड़ी-से-कड़ी आलोचना करने पर भी सरकार की ओर से कोई पाबन्दी नहीं लगाई जानी चाहिए। सभाओं या अखबारों की आलोचना से ही सरकार को लोकमत का ज्ञान होसकता है। मैं पहले लिख चुका हूं कि अल्पसंख्यक जातियों को भी विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए, इसी तरह अल्पमत के राजनैतिक दलों को भी अपने विचार प्रकट करने का पूर्ण अधिकार होना चाहिए। आज अमुक राजनैतिक दल के विचार दस-बीस या दो-चार सौ व्यक्तियों तक सीमित हैं, इसे लोकमत तो माना नहीं जा सकता, या इसके विचार अत्यन्त क्रांतिकारी हैं, इसे क्यों प्रचार की आज्ञा दी जाय ? यह दलील भी ठीक नहीं है। आज जिस विचार को दस-बीस लोग मानते हैं, सम्भव है कल उसे ही देश का बहुमत मानने लगे। आजकल जुदे-जुदे देशों में जितने शक्तिशाली राजनैतिक दल हैं, वे कभी दो-चार या दस-बीस लोगों से ही शुरू हुए थे। इंग्लैण्ड का मजदूरदल कभी बिलकुल ही छोटी संख्या में था, लेकिन समय आया कि दो-तीन बार उसके हाथ में इंग्लैण्ड की सरकार आगई। कभी लिबरल-दल का देश में बोल-

वाला था, लेकिन समय ने पलटा खाया और आज उसकी कोई पूछ नहीं है। इसलिए किसी भी राजनैतिक दल पर, चाहे वह कितना छोटे-से-छोटा क्यों न हो, किसी प्रकार की पाबन्दी लगाना अनुचित है।

विचार स्वतंत्रता के लिए सभाओं के संगठन की भी स्वतन्त्रता आवश्यक है। सार्वजनिक सभाओं के संगठन पर किसी प्रकार की रोक लगाना अनुचित है। प्रत्येक व्यक्ति को एक या अधिक आदमियों के साथ मिलकर बैठने या बातचीत करने का अधिकार है। मैजिनी ने एक जगह लिखा है कि "एक परमात्मा की सन्तान होने से तुम सब भाई-भाई हो और क्या भाई-भाई के परस्पर मिलने-बैठने—सभा-सम्मेलन करने मे बाधा डालना गुनाह नहीं है ?" लेकिन इस स्थिति का मुकाबिला तुम अपने भारतवर्ष से तो करो। लार्ड विलिंगडन के शासन मे, जिसे आर्डिनेन्स राज भी कहा जाता है, भारतीय जनता के कितने नागरिक अधिकारों पर कुल्हाडा चला था ? अखबारों पर आर्डिनेन्स की नंगी तलवार हमेशा लटकती थी। हिन्दुस्तान मे एक भी राष्ट्रीय पत्र ऐसा न था, जिससे हजारों की जमानत न मॉगी गई हो। जिन अखबारों की जमानतें जब्त की गई हैं, वे भी ४०-५० हजार से कम न होंगी। बहुत-से अखबारों ने तो सम्पादकीय लेख ही लिखना छोड दिया था। सभाओं पर, जलूसों पर या व्यक्तियों पर १४४ धारा व आर्डिनेन्स का बराबर प्रहार रहता था। अब चूंकि समय बदल गया है, भारत के सात प्रान्तों में नये विधान के अनुसार कांग्रेस ने पदग्रहण कर लिया है, जिसके फलस्वरूप लोगों को बोलने और लिखने की स्वतन्त्रता देदी गई है, लेकिन भारत के बहुत-से भागों मे—उन प्रान्तों मे जहां गैरकांग्रेसी राज्य है और देसी रियासतों मे—यही आर्डीनेन्स राज्य जारी है। जनता के लेखन, भाषण और

सगठन पर हर तरह की पाबन्दी है। भारत की राजधानी दिल्ली तक मे सब पाबन्दियाँ पहले की तरह ही मौजूद है। कई रियासतों मे तो कोई नया अखबार नहीं निकल सकता। किसी-किसी रियासत मे बिना लाइसैन्स के टाइप-राइटर तक रखने का अधिकार नहीं है। राजनैतिक अखबार ही नहीं, सामाजिक अखबार तक बिना आज्ञा नहीं निकाले जासकते। प्रजा के चुने हुए प्रतिनिधियों की असेम्बली आदि की तो बात ही दूर है। राजनैतिक सगठन ही नहीं, दूसरे भी सब प्रकार के निर्दोष धार्मिक, जातीय, व्यापारिक, साहित्यिक सगठन करने का अधिकार नागरिकों को होना चाहिए। सिर्फ इतना अवश्य ध्यान मे रखना चाहिए कि ये सब सगठन किसी दूसरे को नुक्सान न पहुचावे।

विचार-स्वातंत्र्य पर पाबन्दी लगाने के प्रश्न मे यह खास दलील दी जाती है कि कुछ व्यक्ति जो आदत से उद्दण्ड और शरारती होते है, उन्हे अपनी शक्ति का दुरुपयोग न करने देने के लिए या समाज मे शाति और सुव्यवस्था बनाये रखने के लिए सार्वजनिक भाषण या लेखन पर पाबन्दी रखना जरूरी है। यह हम मान लेते है कि समाज मे ऐसे भी आदमी होते है, पर थोडे से लोगों के अपराध के लिए साधारण जनता के नागरिक अधिकारों को कुचलना तो किसी भी हालत मे उचित नहीं है। ऐसे उद्दण्ड व्यक्तियों पर सरकार मुकदमे चला सकती है या उनका दमन कर सकती है। डाक्टर मरे ने एक जगह कहा है कि "किसी नैतिक सिद्धान्त का यह कहकर खण्डन नहीं किया जासकता कि लापरवाह लोग इसका दुरुपयोग करते है। विचार-स्वतंत्रता पर रोक लगा देने से बहुत हानि होती है। सबसे बडी हानि तो यही कि राज्य नागरिकों के विचार और अनुभव का लाभ नहीं उठा सकता। जब आदमियों को खुले आम

अपने विचार प्रकट करने से रोका जाता है, तो वे प्रायः चोरी से लुकछिप कर जहाँ-तहाँ बाते करते है, अखबार वा पुस्तके छापते या बेचते है। इस लुकाछिपी से नागरिकों में भय का भी संचार होता है, जो उनके चरित्र के पतन मे सहायक होता है। दूसरे इस दमन-नीति से प्रजा मे असतोष भी बढता है और यह राज्य के लिए अच्छा नहीं होता। इंजिन के बायलर से निकलनेवाली भाफ के बाहर जाने के मार्ग को बन्द कर देने से उसके फटने का हमेशा अन्देशा रहता है। विचारस्वातंत्र्य को रोकने का भी नतीजा अक्सर यह होता है कि जनता मे असंतोष की अग्नि फूट पडती है। ससार मे प्रजा की ओर से जितनी क्रान्तियाँ हुई है, ज्यादातर प्रजा के अधिकारों को और उनके वैध आन्दोलन को दबाने के परिणाम-स्वरूप ही हुई है। इसलिए यह जरूरी है कि नागरिकों की गतिविधि पर अनुचित बंधन कभी न लगाये जाने चाहिएँ।

यहाँ वेद के दो मत्र लिख देना अप्रासागिक न होगा। वेद-मंत्र लिखने या प्राचीन शास्त्रों से प्रमाण देने की मेरी आदत नहीं है। मैं समझता हूँ कि अव हमे शास्त्रके प्रमाणों पर आश्रित रहना छोडकर हरेक विषय पर स्वतंत्र दृष्टिकोण से ही विचार करना चाहिए। पर मैं ये मत्र इसलिए नीचे दे रहा हूँ कि इससे प्राचीन भारत का इस सम्बन्ध मे दृष्टिकोण मालूम हो जाय। वे दो मंत्र निम्नलिखित है :—

नैना ते देवा अददुस्तुभ्य नृपते अत्तवे। मा ब्राह्मणस्य राजन्य गा जिघत्सो अनाद्याम् ।। १ ।।

अक्षद्रुग्धो राजन्य, पाप आत्मपराजित । स ब्राह्मणस्य गामद्यादद्य जीवानि माश्व ।। २ ।। अथर्व अ० ४, सूक्त १८

कितने थोडे से शब्दों मे राजनीति के एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का

विवेचन कर दिया गया है। ब्राह्मण की वाणी इसलिए नहीं है कि राजन्य, क्षत्रिय या सरकार उसे खाजाय, दबादे। जो आत्म पराजित (लोकमत को दबानेवाला वस्तुतः अपने पराजय को स्वीकार करके ही दूसरों को बोलने नहीं देता) ब्राह्मण की गौ को—लोकमत को दबाता है, वह भले ही आज अपने को सफल मान ले, लेकिन उसकी यह सफलता स्थायी नहीं होगी। दमननीति अन्त मे कभी सफल नहीं होती।

जहां राजनैतिक विचार प्रकट करने की आजादी आवश्यक है, वहां उसकी एक मर्यादा नियत करना भी उतना ही जरूरी है। मर्यादा का नियम भी वही है, जिसका हम पहले जिक्र कर आये है। वह नियम यह है कि विचार प्रकट करनेवाले की स्वतंत्रता किसी दूसरे की स्वतत्रता मे बाधक न हो या उसे हानि न पहुंचाये। विचार प्रकट करते हुए किसी को गाली-गलौज देना, किसी का दिल दुखाना या समाज के विचारों को कलुषित करना भी बुरा है। स्त्रियों की नंगी तस्वीरें, अश्लील विज्ञापन या लेख लिखना आदि पर प्राय सभी देशों मे थोड़े-बहुत बंधन लगाये जाते है। जातिगत कलह के भाषणों पर भी पूर्ण नियंत्रण लगाना जरूरी है। इसकी जरूरत तो हम भारतीय अच्छी तरह समझ सकते है। सभाओ पर पाबन्दी नहीं लगानी चाहिए, लेकिन जब किसी सभा मे हिंसात्मक भाषण दिये जारहे हों, यह पूरा भय हो कि सभा का परिणाम दगा होगा, तो ऐसी सभाओं को कानूनन रोका जासकता है। यदि कोई उत्तेजित मजमा किसी के विरुद्ध लूटमार करने, मकानों को आग लगाने या मरने-मारने के लिए तैयार दीखे, तो उसी समय उसे तितर-बितर कर देना ज़रूरी है, लेकिन यह जरूरी है कि ऐसा करने मे यथासंभव कम-से-कम हानि पहुचाने की सावधानी की जाय।

: १० :

आर्थिक स्वतंत्रता

२६-६-३८

इन दिनों के अखबारो से तुम्हे कानपुर की हडताल का हाल मालूम होता रहता होगा। इन दिनों इस समस्या से युक्तप्रान्त की कांग्रेस सरकार को बहुत परेशानी रही। एक प्रसिद्ध व्यवसायी के कथनानुसार इस हडताल से देश को १८ करोड रुपयों का नुकसान हुआ। व्यापार-व्यवसाय को कितना धक्का लगा, यह इसीसे मालूम होता है कि पोस्ट-आफिस को ही डाक व तार आदि मे कमी के कारण ५००) रु० रोज का नुकसान हुआ। १९३७ की हडतालों के बारे मे भारत-सरकार ने जो रिपोर्ट प्रकाशित की है, उससे मालूम होता है कि पिछले साल हडतालों से ८९,८२,००० दिन बेकार गये। बगाल, बम्बई और युक्तप्रान्त मे क्रमशः ६०,६०,८८३,१८,६७,२१० और ७,०४,९४० दिन खराब गये।

अक्सर पूजीपतियों की ओर से यह प्रश्न किया जाता है कि मजदूरों को क्या ऐसी भीषण हडतालें करने का अधिकार भी है, जिनमें राष्ट्र को करोडों रुपयों का नुकसान हो। इसी प्रश्न के साथ नागरिकों की आर्थिक स्वाधीनता का सवाल खडा होता है, जिसकी ओर मैं अपने पहले किसी पत्र मे तुम्हारा ध्यान खीच चुका हूँ। मैं इस पत्र मे इसी विषय पर कुछ विस्तार से विचार करना चाहता हूँ।

मैं पिछले पत्र मे लिख चुका हूँ कि नागरिकों को जहां अपने

जीवन के अस्तित्व की गारंटी होनी चाहिए, वहाँ उन्हें अपनी सम्पत्ति के सम्बन्ध में भी पूरी बेफिकरी होनी चाहिए। पर इससे भी पहले हरेक नागरिक को यह भी निश्चय होना चाहिए कि वह भूखों नहीं मरेगा। जहाँ राज्य नागरिकों की घातक रोगों, हिंस्र पशुओं, और लुटेरों से रक्षा की जिम्मेदारी लेता है, वहाँ उसे भूख और उसके कारणस्वरूप बेकारी से भी नागरिकों को बचाने की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेनी चाहिए। आज करोड़ों हिन्दुस्तानी भूखों पेट सोते हैं। भारतीय जनसंख्या विभाग के कई साल तक अध्यक्ष रहनेवाले सर विलियम हंटर की राय में भारत के ४ करोड़ लोगों को भर पेट भोजन कभी नहीं मिलता। आसाम के चीफ कमिश्नर सर चार्ल्स इलियट ने कहा था—"मुझे यह लिखने में जरा भी संकोच नहीं कि आधे से ज्यादा किसान वर्ष के एक सिरे से दूसरे सिरे तक यह भी नहीं जानते कि पेट-भर खाना किसे कहते हैं।" 'इण्डियन विटनेस' नामक ईसाइयों के एक अखबार के अनुसार "१० करोड़ भारतीयों की सालाना आमदनी ५ शिलिंग (३॥ रुपये) से अधिक नहीं होती।" झांसी डिविजन के कमिश्नर की सम्मति में उस डिविजन का एक भाग हमेशा आधा-पेट भोजन पाता है। वाइसराय की कौंसिल के कर-विभाग के अनुभवी सदस्य की जाँच के मुताबिक ४० फीसदी किसान पेट-भर भोजन नहीं पाते। सरकारी अफसरों की ये कुछ सम्मतियाँ हैं। ऐसी सम्मतियाँ अगर एक जगह संग्रह करने लगूँ, तो एक पुस्तक ही तैयार होजाय। पर इसकी जरूरत नहीं। हाथ कंगन को आरसी क्या? तुम किसी भी गाँव में चले जाओ, गरीबी और भूख का यह ताण्डव बिना तलाश किये ही दीखने लगेगा। यह जीवन भी कोई जीवन है? इस गरीबी के कारणों की विवेचना में जाने की

यहाँ जरूरत नही । मेरा कहना तो यह है कि किसी जिम्मेदार सरकार का फर्ज है कि वह नागरिकों को रोटी की चिन्ता से भी निश्चिन्त करदे । जो व्यक्ति मेहनत से जी चुराता है, उसके लिए तो कोई जिम्मेदारी नहीं ले सकता, लेकिन जो नागरिक मेहनत करने को तैयार है, सरकार को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि उसे काम दे और भूखों न मरने दे । सिर्फ काम ही देने से यह मतलब हल नहीं होगा । सरकार का यह भी फर्ज है और दूसरे शब्दों मे नागरिकों का यह अधिकार है कि उन्हे इतनी कम तनख्वाह न मिले कि जिससे उनकी खास-खास जरूरतें भी पूरी न हों । कई सभ्य और उन्नत देशों मे सरकारों ने अपने इन कर्तव्यों की जिम्मेदारी समझ ली है और वे हरेक बेकार को या तो काम दिलाने की व्यवस्था करती है या फिर निर्वाह के लिए रुपया देती है । इंग्लैण्ड के हरेक बेकार मजदूर को करीब ४०-५०) रु० हर माह दिया जाता है । दूसरे कई राष्ट्रों मे भी बेकारों के लिए कुछ-न-कुछ नियम बने हुए हैं। कम-से-कम वेतन निश्चित करने के सिद्धान्त को भी कई सरकारों ने मजूर किया है। इसके अनुसार किसी मालिक को तय की हुई रकम से कम तनख्वाह देने का हक नहीं है।

जब एक नागरिक राष्ट्र और समाज की सेवा करता है, जब उसने भी समाज के अनेक बंधन मान लिये हैं. जब वह भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष करों द्वारा राष्ट्र के खजाने की पूर्ति मे सहायक होता है, तब क्या समाज या राष्ट्र का यह फर्ज नहीं है कि वह उसकी जीवन-सम्बन्धी जरूरतों को पूरा करे ? अगर राष्ट्र यह जिम्मेदारी नहीं लेता तो उसे भी नागरिकों से यह उम्मीद करने का क्या अधिकार है कि वे उसकी सेवा के लिए सदा तैयार रहेगे ? बीमारी या बुढापे

मे जब नागरिक कमाने योग्य नही रहता, तब भी सरकार का कर्तव्य है कि उसके खाने-कपडे की व्यवस्था करे।

आर्थिक अधिकारों का उल्लेख करते हुए मै पिछले किसी पत्र मे लिख चुका हू कि प्रत्येक नागरिक को यह गारंटी होनी चाहिए कि उसकी पैदा की हुई सम्पत्ति नष्ट नहीं होगी और न उसे कोई छीन सकेगा, पर यह उपार्जित सम्पत्ति चोरी, डाके या धोखे से कमायी हुई न हो। साधारण अर्थों मे हम जिसे चोरी या डाका कहते है, प्राय प्रत्येक सरकार यह ख्याल रखती है कि इस तरह सम्पत्ति का उपार्जन करनेवाले को दण्ड दिया जाय। लेकिन कई विचारकों की राय मे केवल किसी की गैरहाजिरी मे माल चुरा लेना या किसी को डरा-धमका कर किसी का माल ले लेना ही चोरी नहीं है। किसी की खास परिस्थिति से नाजायज फायदा उठाना भी चोरी है। किसी की मेहनत का फल आप खाजाना भी चोरी है। एक किसान या मजदूर दिन-भर कडी मशक्कत करता है, अपना खून पसीना एक कर देता है, लेकिन उसकी कमाई का बडा भाग जमींदार या पूजीपति ले लेता है। जमींदार और पूजीपति की कमाई हुई पूजी भी या तो मजदूरो की मिहनत की कमाई है या उसके बाप-दादा की। इस पूजी के बनाने मे भी तो समाज का बडा भारी हाथ है। रेल, तार, डाक, कानून और पुलिस आदि सभी की मदद से तो एक पुरुष धनी हुआ है। यदि कानून का डर न हो, तो डाकू बड़े-से-बड़े करोडपति को थोड़े ही समय मे कगाल करदें। समाज के सहयोग से रक्षित और पैदा की हुई सम्पत्ति पर क्यों एक ही आदमी का अधिकार होजाय? फिर क्या यह अन्याय नहीं है कि आज से सौ-दोसौ साल पहले किसी ने अपनी मेहनत से या सरकार की मिहरबानी से या किसी

दूसरे तरीके से बहुत-सा धन इकट्ठा कर लिया, तो उसके वंशज बिना मेहनत किये उसका उपयोग करते चले जावें ? क्या यह न्याय है कि एक पुरुष तो खून पसीना बहाकर भी ५) रु० महीने से ज्यादा नहीं पाता और एक आदमी समाज के सहयोग से रक्षित सम्पत्ति द्वारा गुलछर्रे उडाता है। इस तरह विचार करनेवालों का कहना है कि समाज मे सम्पत्ति का समान बटवारा होना चाहिए, तभी प्रत्येक नागरिक को उसका पूरा अधिकार मिल सकेगा। जबतक यह नही होता, तबतक प्रत्येक पूजीपति और प्रत्येक जमींदार मजदूर और किसान के अधिकार का अपहरण करता रहेगा, उनके हाथ से रोटी छीनकर खाता रहेगा। जिस तरह सरकार का यह फ़र्ज है कि किसी को किसी के घर डाका न डालने दे, उसी तरह उसका यह भी फ़र्ज है कि सदियों से संगठित चोरी और डाके की इस संस्था—पूजीवाद को भी खत्म कर दे। साधारण चोरी से एक दो आदमी तबाह होते है, लेकिन चोरी की उस सस्था से, जिसे सरकारी कानून और सैनिक-बल से सदा सहारा मिलता रहा है, करोडों आदमी तबाह हो गये है। एक नागरिक का यह अधिकार है कि उसकी मेहनत से कोई नाजायज फायदा न उठाये, उसे अपनी मिहनत का पूरा फल भोगने का अधिकार हो।

यही विचारक-श्रेणी इस विचारधारा के साथ नागरिकों को यह अधिकार देना चाहती है कि उन्हे अपने जीवन की रक्षा के लिये—आर्थिक अधिकारों की गारंटी के लिये हर किस्म के आन्दोलन करने का हक है। कारखानों की हडताल इसी आन्दोलन का एक रूप है। जब मिलमालिक बहुत सताते हों, वेतन कम देते हों, ज्यादा समय काम लेते हो या दूसरी तरह की ज्यादतियाँ करते हों और कहने,

मे जब नागरिक कमाने योग्य नहीं रहता, तब भी सरकार का कर्तव्य है कि उसके खाने-कपड़े की व्यवस्था करे ।

आर्थिक अधिकारों का उल्लेख करते हुए में पिछले किसी पत्र मे लिख चुका हूँ कि प्रत्येक नागरिक को यह गारंटी होनी चाहिए कि उसकी पैदा की हुई सम्पत्ति नष्ट नहीं होगी और न उसे कोई छीन सकेगा, पर यह उपार्जित सम्पत्ति चोरी, डाके या धोखे से कमायी हुई न हो। साधारण अर्थों मे हम जिसे चोरी या डाका कहते है, प्रायः प्रत्येक सरकार यह खयाल रखती है कि इस तरह सम्पत्ति का उपार्जन करनेवाले को दण्ड दिया जाय। लेकिन कई विचारकों की राय मे केवल किसी की गैरहाजिरी मे माल चुरा लेना या किसी को डरा-धमका कर किसी का माल ले लेना ही चोरी नही है। किसी की खास परिस्थिति से नाजायज फायदा उठाना भी चोरी है। किसी की मेहनत का फल आप खाजाना भी चोरी है। एक किसान या मजदूर दिन-भर कडी मशक्कत करता है, अपना खून पसीना एक कर देता है, लेकिन उसकी कमाई का वडा भाग जमींदार या पूजीपति ले लेता है। जमींदार और पूजीपति की कमाई हुई पूजी भी या तो मजदूरों की मिहनत की कमाई है या उसके वाप-दादा की। इस पूजी के वनाने मे भी तो समाज का वडा भारी हाथ है। रेल, तार, डाक, कानून और पुलिस आदि सभी की मदद से तो एक पुरुप धनी हुआ है। यदि कानून का डर न हो, तो डाकू वड़े-से-वड़े करोडपति को थोड़े ही समय मे कगाल करदें। समाज के सहयोग से रक्षित और पैदा की हुई सम्पत्ति पर क्यों एक ही आदमी का अधिकार होजाय? फिर क्या यह अन्याय नहीं है कि आज से सौ-दोसौ साल पहले किसी ने अपनी मेहनत से या सरकार की मिहरवानी से या किसी

दूसरे तरीके से बहुत-सा धन इकट्ठा कर लिया, तो उसके वंशज बिना मेहनत किये उसका उपयोग करते चले जावे ? क्या यह न्याय है कि एक पुरुष तो खून पसीना बहाकर भी ५) रु० महीने से ज्यादा नहीं पाता और एक आदमी समाज के सहयोग से रक्षित सम्पत्ति द्वारा गुलछर्रे उडाता है। इस तरह विचार करनेवालों का कहना है कि समाज मे सम्पत्ति का समान बटवारा होना चाहिए, तभी प्रत्येक नागरिक को उसका पूरा अधिकार मिल सकेगा। जबतक यह नहीं होता, तबतक प्रत्येक पूजीपति और प्रत्येक जमींदार मजदूर और किसान के अधिकार का अपहरण करता रहेगा, उनके हाथ से रोटी छीनकर खाता रहेगा। जिस तरह सरकार का यह फर्ज है कि किसी को किसी के घर डाका न डालने दे, उसी तरह उसका यह भी फ़र्ज है कि सदियों से संगठित चोरी और डाके की इस सस्था—पूजीवाद को भी खत्म कर दे। साधारण चोरी से एक दो आदमी तबाह होते है, लेकिन चोरी की उस संस्था से, जिसे सरकारी कानून और सैनिक-बल से सदा सहारा मिलता रहा है, करोडों आदमी तबाह हो गये है। एक नागरिक का यह अधिकार है कि उसकी मेहनत से कोई नाजायज फायदा न उठाये, उसे अपनी मिहनत का पूरा फल भोगने का अधिकार हो।

यही विचारक-श्रेणी इस विचारधारा के साथ नागरिकों को यह अधिकार देना चाहती है कि उन्हे अपने जीवन की रक्षा के लिये—आर्थिक अधिकारों को गारटी के लिये हर किस्म के आन्दोलन करने का हक है। कारखानों की हडताल इसी आन्दोलन का एक रूप है। जब मिलमालिक बहुत सताते हों, वेतन कम देते हों, ज्यादा समय काम लेते हो या दूसरी तरह की ज्यादतियाँ करते हों और कहने,

समझाने-बुझाने और प्रार्थना करने से न मानते हों, तब मजदूर हड़ताल का हथियार उठाते है। प्रायः सभी सभ्य देशों मे मजदूरों का हड़ताल करने का अधिकार मजूर किया जाता है। हालाँकि हड़ताल मे बलप्रयोग का अधिकार नहीं होना चाहिए, फिर भी सब हड़तालों मे थोड़ा-बहुत बलप्रयोग होता है, पिकेटिंग भी किया जाता है और प्रायः सभी हड़तालों मे मारपीट के भी उदाहरण मिलते हैं। ज्यादातर साम्यवादी इन्हे अनिवार्य मानते है और वर्गयुद्ध को अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए जरूरी बताते है। रूस की महान् क्रान्ति इसी नीति का नतीजा है। वहा धनियों और जमींदारों को घृणा की दृष्टि से देखा जाता है, हालाँकि अब कुछ दिनों मे इस भावना मे कमी आने लगी है। साम्यवादियों के मतानुसार सारी सम्पत्ति सर्वसाधारण मे बाँट देनी चाहिए, जिससे हरेक शख्स संसार के सब ऐश-आराम और सुख भोग सके। इसका एक उपाय ये साम्यवादी विचारक यह बताते है कि उत्पत्ति के सब जरियों पर राष्ट्र का कब्जा होजाना चाहिए। भारत मे भी ये विचार आजकल बहुत प्रचलित होरहे हैं।

इस सम्बन्ध मे संसार के वर्तमान समय के सबसे बड़े क्रान्तिकारी विचारक महात्मा गांधी के मत पर भी अब हमे विचार करना चाहिए। वे भी सम्पत्ति के वर्तमान विषम बटवारे को बहुत अवाञ्छनीय समझते हैं। उनकी राय मे अपने गुजारे भर के लिए आवश्यक सामग्री से अधिक लेना भी चोरी है। वे साम्यवादियों से कहीं ज्यादा जनसाधारण का हित और कल्याण चाहनेवाले है। लेकिन उनकी कार्यपद्धति साम्यवादियों से नहीं मिलती, वह जितना लक्ष्य पर ध्यान देते है, उससे कम महत्त्व साधन पर नहीं देते। उनका कहना है कि वर्गयुद्ध या हिंसा आपस मे द्वेष की ही वृद्धि करेगा। सुन्दर और

शिव उद्देश्य के लिए हिंसा का—असत्य का—झूठ का प्रयोग कभी सुन्दर परिणाम नहीं पैदा कर सकता। वह सम्पत्ति के मौजूदा असमान बँटवारे का हल दो प्रकार से बताते है। वह समान-विभाजन के बजाय अपरिग्रह (जरूरत से ज्यादा चीजों का संग्रह न करने) पर ज्यादा जोर देते है। वह कहते है कि समान बँटवारा तो एक ऊपरी इलाज है। यह बीमारी दूर करने की असली दवा नही है। सामाजिक व्यवस्था, विषमता या अशान्ति की असली जड सम्पत्ति का असमान विभाजन नहीं, बल्कि परिग्रह यानी अपनी जरूरत से ज्यादा संग्रह करने की प्रवृत्ति है। यही असली बुराई है। यदि अपरिग्रह के पालन की ओर दुनिया ध्यान दे तो कोई भूखों नहीं मर सकता। संसार मे खाने-पीने की चीजों की कमी नहीं है। आवश्यकता है अपरिग्रह की—यानी कोई अपनी जरूरत से ज्यादा न ले। गाँधीवाद के एक प्रमुख विचारक श्री हरिभाऊ उपाध्याय अपनी पुस्तक 'स्वतन्त्रता की ओर'[१] (पृष्ठ ३४२) मे लिखते हैः—"समान-विभाजन एक ऊपरी इलाज है, अपरिग्रह मनुष्य की इच्छा पर ही सयम लगाता है। एक बाहरी बन्धन है, दूसरा भीतरी विकास। समान बँटवारा जीवन के स्टैण्डर्ड पर कोई कैद नहीं लगाता, सिर्फ सम्पत्ति के समान रूप में बँट जाने पर जोर देता है, इसके विपरीत अपरिग्रह जीवन की साधारण आवश्यकताओं तक ही मनुष्य को परिमित कर देना चाहता है। इसमे मनुष्य के लिए स्वेच्छापूर्वक त्याग, सयम और उसके फलस्वरूप सामाजिक तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता अधिक रहेगी।" यहीं भारतीय और रूसी संस्कृति का भेद है। महात्मा गाँधी यन्त्रवाद या बड़े पमाने पर उत्पत्ति करने को अपरिग्रह के सिद्धान्त के विरुद्ध

१ सस्ता साहित्य मण्डल मे प्रकाशित—मूल्य १।।)

और मनुष्य की स्वतन्त्रता मे बाधक समझते है, इस कारण उसका विरोध करते है। मशीनरी की तह मे एकदम ज्यादा-से-ज्यादा पैदा कर लेने की—परिग्रह की—इच्छा काम कर रही होती है और इसी परिग्रह-प्रवृत्ति का नतीजा है पूँजीवाद, साम्राज्यवाद, एक देश का दूसरे की आजादी कुचलना। महात्मा गांधी जमींदार को सलाह देते है कि वह अपनेको सम्पत्ति का मालिक न समझकर ट्रस्टी समझे और जिसे उसकी जरूरत हो, उसे इस्तेमाल करने मे रुकावट न डाले। उनकी राय मे धनवान लोग अगर ऐसा व्यवहार रक्खेंगे कि उनके बाग-बगीचे, बंगले, गहने-लत्ते, गाडी-घोड़े, बरतन, दरी, गलीचे आदि उनके आश्रितों को इस्तेमाल के लिए मिल सके, अगर वे उनकी सब जरूरतों का ख़याल रक्खें, तो धनी लोगों के सोने के बरतन मे भोजन करने पर भी ग़रीबों को उनकी डाह न होगी।"

मैं शायद इस चर्चा मे बहुत दूर चला गया। मेरा मतलब तो सिर्फ़ यह था कि प्रजा का यह अधिकार है कि उसकी जीवन-निर्वाह की आवश्यकताये पूरी होनी चाहिएँ। गांधीजी और समाजवादियों के तरीके मे अन्तर है। जहांतक अधिकार का सवाल है, दोनों यह मानते है कि कोई भूखा न रहे, लेकिन जहां साधन का विवेचन होगा, वहां गांधीजी उदार, सत्य कल्याण-भावना की, आत्म-विकास की सलाह देंगे और साम्यवादी गृह-कलह, हिंसा और खून-ख़राबी की।

समाज या सरकार द्वारा उत्पत्ति के सब साधनों पर कब्जा करने का यह एक नतीजा होगा कि हरेक शख़्स अपने आजीविका-निर्वाह मे भी परतंत्र होजायगा, यह वस्तुतः नागरिक अधिकारों पर कुठारा-

घात है। आज व्यवसाय-प्रधान देशों मे भी, जहाँ व्यक्तिगत सम्पत्ति का सिद्धान्त माना जाता है, क्रियात्मक रूप से व्यक्ति स्वतंत्र नहीं रह सकता, क्योंकि उसे आखिर थोड़ेसे कारखानों मे से किसी-न-किसी मे काम करने पर लाचार होना पडता है। परन्तु गाँधीवाद मे, जहाँ घर-घर उत्पत्ति का काम किया जाता है, मनुष्य अपने काम के चुनाव और कार्यविधि मे मिल की बनिस्बत बहुत स्वतंत्र होता है। फिर भी ऐसे कुछ नियन्त्रण तो सरकार को लगाने ही होंगे, जैसे व्याज की दर, कम-से-कम वेतन आदि का तय करना, जिससे गरीब जनता का धनी-वर्ग शोषण न कर सके।

सरकार का यह कर्तव्य है कि वह ऐसी व्यवस्था करे कि किसी आदमी पर धर्म, जाति, वर्ण या लिग की वजह से आर्थिक क्षेत्र मे नियन्त्रण न किया जाय, किसीके साथ पक्षपात न हो, किसीके साथ अन्याय न हो। सबको समानरूप से आर्थिक विकास का अधिकार हो। खेती या व्यवसाय आदि पर जो कर लगाये जायें, वे नागरिको की शक्ति से अधिक न हों। शासन-विभाग इतना अधिक खर्चीला न हो कि जनता पर वह भाररूप होजाय। भारत मे जितनी भी आर्थिक श्रेणियाँ है, उन सबके हित का ख़याल रक्खा जाय। जनता के आर्थिक विकास मे सरकार पूरी तरह सहयोग दे। पुल, सड़क, रेल, तार, डाक और रक्षा आदि की व्यवस्था करना उसका कर्तव्य है। इसी तरह की अनेक बातों पर ध्यान खींचा जा सकता है, लेकिन इन सबकी तह मे जो सिद्धान्त काम कर रहा है, उसका निर्देश मैं ऊपर कर ही चुका हूँ।

नागरिकों की आर्थिक स्वाधीनता तबतक कायम नहीं रह सकती, जबतक सारा देश ही आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र न हो। आजकल

अनेक देशों मे राजनैतिक पराधीनता न होते हुए भी आर्थिक पराधीनता होती है। इसका सबसे बडा उदाहरण चीन है, जहां विदेशी पूजीपतियों और सरकारों ने प्राय. सारी आर्थिक मशीनरी पर अधिकार कर रक्खा है। इसी कारण चीन अपने व्यवसाय मे बहुत कम तरक्की कर पाया है।

: ११ :

हमारे और अधिकार

२७-६-३८

पिछले पत्रों मे मैंने देश की राजनैतिक स्वाधीनता के सिवा प्रायः सब नागरिक अधिकारों का थोड़े मे परिचय दे दिया है। लेकिन इन अधिकारों के अन्तर्गत दूसरे भी कई अधिकार है, जिनका उल्लेख कर देना जरूरी है।

इनमे सबसे महत्त्वपूर्ण अधिकार शिक्षा प्राप्त करने का है। जीवन, स्वास्थ्य और सम्पत्ति की रक्षा की गारण्टी का अधिकार जैसे नागरिक के लिए जरूरी है, ठीक उसी तरह समाज या राज्य का यह भी कर्तव्य है कि हरेक नागरिक के लिए कम-से-कम इतनी शिक्षा का प्रबन्ध तो जरूर करदे कि वह मामूली तौर पर लिख-पढ़ सके और अपने घर का हिसाब रख सके। जिस प्रकार एक राज्य की बहादुर या धनी जनता उसका बल होती है, ठीक उसी तरह शिक्षित जनता भी देश की एक शक्ति होती है। शिक्षा के फायदे गिनाने की न तो यह जगह ही है और न जरूरत। शिक्षा से नागरिक अपने लाभ-हानि का विचार करने, चिट्ठी-पत्री लिखने-पढ़ने, हिसाब रखने तथा देश-विदेश की उपयोगी बातें जानने के लायक हो जाता है। एक समय था, जब यूरोप मे सरकारें शिक्षा देना अपना कर्तव्य नहीं समझती थीं, लेकिन अब तो शिक्षा पर वे बहुत भारी रकम खर्च करने लगी हैं। प्राचीन भारत मे सकार यद्यपि शिक्षा का सब इन्तजाम खुद नहीं करती थी, लेकिन वह शिक्षा के प्रचार मे पूरी मदद देती

थी। भारतीय समाज का जो प्राचीन संगठन था, उसमे शिक्षा के दान की बहुत सुन्दर व्यवस्था थी। "सर्वेषामेव दानाना ब्रह्मदान विशिष्यते" कहकर शिक्षादान का महत्त्व स्वीकार किया गया था। यह काम ब्राह्मण-श्रेणी के सुपुर्द था। हरेक छोटा या बडा ब्राह्मण अपना यह फर्ज समझता था कि वह गॉव के लडकों को पढावे। हरेक ब्राह्मण का घर एक पाठशाला होता था, जहाँ गॉव के लडके पढते रहते थे। उन ब्राह्मणों का निर्वाह दो तरह से होता था। एक तो साधारण जनता द्वारा अनाज आदि की दक्षिणा के रूप मे, और दूसरे सरकार या पञ्चायत द्वारा जमीन के दान के रूप मे। सरकार की ओर से उन्हे विना टैक्स की जमीने मिली होती थीं। उपनिषद् की वह कथा तुमने जरूर सुनी होगी, जिसमे राजा अश्वपति ने वड़े अभिमान से यह कहा था कि मेरे राज्य-भर मे कोई अशिक्षित नहीं है।[1] बहुत पुराने जमाने की वात छोड भी दें, तो भी अंग्रेजी अमलदारी के शुरू मे भी शिक्षा का प्रचार आज से ज्यादा था। वगाल के एक अंग्रेज स्कूल इंस्पेक्टर ने १८६८ ई० मे लिखा था कि "अनगिनत पाठशालाओं, चटशालों और झोंपडों मे, जो आज सारे देश मे फैले हुए है, व्यापक शिक्षा का परिणाम देखा जा सकता है। उपेक्षा, घृणा और पिछले एक हजार साल की विपरीत अवस्थाओं के वावजूद आज ये संस्थायें जीवित हैं। इसीसे ज्ञात होता है कि

१ न मे स्तेनो जनपदे, न कदर्यो न मद्यप ।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्, न स्वैरी स्वैरिणी कुत ॥ (छान्दोग्य उपनिषद्)

अर्थात् मेरे राज्य मे एक भी चोर, कजूस, शरावी, अग्निहोत्र न करनेवाला, अशिक्षित और व्यभिचारी पुरुष नही है। तव व्यभिचारिणी कोई कैसे हो सकती है ?

इनके मूल मे कितनी जवरदस्त प्रेरणा और शक्ति थी। आजकल धार्मिक-भाव दिन-ब-दिन कमजोर होरहे है, ग्रामों की पञ्चायतें भी अपने दिन गिन रही हैं, उद्योग-धन्धे भी नष्ट होते जा रहे है, जमीन पर टैक्स का भारी बोझ लादा जा रहा है और अदालतों व व्यापार और दूसरे सरकारी कारोबार पर विदेशी भाषा ने कब्जा कर लिया है। इस तरह लोकप्रिय शिक्षा को मिलनेवाली राष्ट्रीय प्रेरणा लगातार कम हो रही है। इस (शिक्षा) की उन्नति अब इस बात पर निर्भर है कि विदेशी शासन से होनेवाली इस क्षति को सरकार किस तरह पूरा करती है।" लेकिन सरकार ने इस क्षति को पूरा करने के बदले उन ब्राह्मणों की आजीविका का साधन भी छीन लिया। वे माफ़ी की जमीनें भी जो सदियों और हजारों सालों से उन्हे मिली हुई थीं, उनसे छीन ली गई।

आज हालत यह है कि जब दूसरे देशों की सरकारें नागरिकों की शिक्षा पर बडी-बडी रकमे खर्च करती है, तब भारत मे शिक्षा पर खर्च होनेवाली रकम बहुत थोडी है। १६३१ के आंकडों के अनुसार भारत-सरकार देश की आबादी के हिसाब से प्रति व्यक्ति सिर्फ १) रु० शिक्षा पर खर्च करती थी, जबकि ग्रेटब्रिटेन मे ३२।), कनाडा मे ४८) और सयुक्तराष्ट्र अमेरिका मे ६५) रु० खर्च होता था। इसका नतीजा यह है कि जहाँ भारत मे सिर्फ़ ८ फीसदी नागरिक पढ़े-लिखे हैं, वहाँ ग्रेट ब्रिटेन मे ९२.५, फ्रास मे ९४, जर्मनी मे ९९.७, जापान मे ९९ और आस्ट्रेलिया मे ९८.३ फीसदी हैं। ब्रिटिश भारत मे प्रत्येक २१ के पीछे एक व्यक्ति शिक्षा प्राप्त कर रहा था, जबकि संयुक्तराष्ट्र अमेरिका व कनाडा मे हर ४ के पीछे एक व्यक्ति शिक्षा हासिल कर रहा था। वस्तुतः शिक्षा भी मनुष्य की दूसरी अनिवार्य

आवश्यकताओं के समान एक अनिवार्य आवश्यकता है। इस कारण सरकार का फर्ज है कि वह नागरिकों की प्राथमिक शिक्षा का पूरा प्रबन्ध करे और इसका खर्च उनपर न लादे।

नागरिकों का एक यह भी अधिकार है कि सरकार जो नये कानून बनावे या कोई खास हिदायत देना चाहे, उसके जनता में फैलाने का काफी इन्तजाम करे। हालांकि कानून का न जानना अदालत की निगाह में कोई सफाई नहीं है, फिर भी नागरिकों का यह पूर्ण अधिकार है कि इन्हें समय-समय यह मालूम होता रहे कि कौन-सा नया कानून बना है, कौन-सा नया हुक्म जारी हुआ है, किस चीज पर टैक्स लगाया, बढ़ाया या घटाया गया है। बगैर इन बातों के जाने लोग अगर नियम-भंग करें, तो वस्तुतः उनका दोष नही है। हरेक नये नियम या आज्ञा का प्रत्येक प्रान्तीय भाषा में अखबारों, ट्रैक्टों भाषणों और डोंडी आदि के द्वारा सर्वसाधारण तक प्रचार करना चाहिए।

व्यापार-व्यवसाय आदि की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि व्यापारिक भेद गुप्त रह सके। इसी तरह लोगों की बहुत सी ऐसी घरेलू या सामाजिक बातें होती है, जिनका गुप्त रहना जरूरी है। सरकार का यह फर्ज है कि वह ऐसी व्यवस्था करे कि डाक, तार, टेलीफोन आदि के जरिये होनेवाली लोगों की गुप्त बातचीत बाहर प्रकट न हो सके। इस सुविधा के बिना न व्यापार चल सकते है और न घरेलू व सामाजिक प्रश्न हल हो सकते है। अगर किसी तरह कोई महत्त्वपूर्ण भेद प्रकट हो जाय तो जिम्मेदार कर्मचारी को सजा दी जानी चाहिए, जिससे आगे ऐसी घटनाये न होने पावें।

देश की जनता को जीवन-निर्वाह की गारण्टी या काम दे देने

से ही सरकार का फर्ज पूरा नहीं होजाता। उसका यह भी कर्तव्य है कि वह हरेक आदमी के काम की स्थिति की भी देखभाल करे। एक मजदूर कारखाने मे काम करता है, उसे वेतन भी सरकार द्वारा नियत की हुई दर के मुताबिक मिल जाता है। लेकिन इतने से ही सरकार निश्चिन्त नहीं हो सकती। उसे यह भी तो देखना चाहिए कि मजदूर जिस कारखाने मे काम करता है, वहाँ रोशनी और हवा का इन्तजाम है या नहीं, वहाँ उसे बहुत सख्त गर्मी या सर्दी का तो मुकाबिला नहीं करना पडता, वहाँ मशीनों से उसे चोट लगने या उसकी जान जाने का खतरा तो नहीं है, और दुर्घटना होने पर उसका मुआवजा उस कारखाने का मालिक देता है या नहीं, उसे तनख्वाह ठीक समय पर मिल जाती है या नहीं, उसके साथ बहुत ज्यादती तो नही होती, बालकों और स्त्रियों को अपनी ताकत से तो ज्यादा काम नहीं करना पड़ता? एक समय था कि सरकारें इस आवश्यक विषय की ओर बहुत कम ध्यान देती थीं। उस समय के राजनीतिज्ञों का खयाल था कि ये सब बातें देखना मजदूर का काम है। यदि उसे किसी कारखाने की हालत पसन्द है, तो वह काम करेगा, नहीं तो नहीं करेगा। इस तरह मजदूरों के इन्कार करने से विवश होकर मालिक खुद इन्तजाम करेगा। यह मालिकों और मजदूरों का आपसी मामला है, इसमे सरकार को दस्तदाजी नहीं करनी चाहिए। लेकिन अब राजनीतिज्ञों का विचार बदल गया है। पूँजीपति अपने धन के प्रभाव से ऐसे हजारों लोगों को अपनी मुट्ठी मे कर लेता है, जो गरीबी की वजह से सभी प्रकार की अच्छी-बुरी शर्तें स्वीकार करने को विवश होते है। सरकार इतनी बड़ी सख्या की ओर से महज इसीलिए आँखें बन्द नहीं कर सकती कि

उन्होंने कारखाने की हालतें जानते-बूझते हुए भी वहां काम करना मजूर किया है। सरकार का फर्ज है कि वह इतनी बड़ी श्रेणी की विवशता से पूंजीपति को नाजायज फायदा न उठाने दे। इसीलिए आजकल सरकारें फैक्टरी-एक्ट बनाती हैं और पूंजीपतियों को कारखानों मे आवश्यक सुधार करने पर विवश करती है। कारखाने, रेल, जहाज या ट्रामकम्पनियों के मजदूरों, दुकानों के नौकरों और दफ्तरों के कर्मचारियों आदि सबको कार्य-स्थिति की देख-भाल और उसमे उचित सुधार करना भी सरकार का फर्ज है और सरकार से इस प्रकार की आशा करना नागरिकों का पूर्ण अधिकार है।

कारखानों के मजदूरों का ही नहीं, सर्वसाधारण जनता का भी यह अधिकार है कि उसे सारा दिन-रात काम की चक्की मे न पिसना पड़े। उसे खेल-कूद या मनोरञ्जन की सुविधा देना भी सरकार का कर्त्तव्य है। इसके लिए जहां काम करने के समय पर पाबदी लगानी चाहिए, वहां जगह-जगह सार्वजनिक उद्यान और दिलबहलाव व खेलकूद की व्यवस्था भी करनी चाहिए। आजकल सरकारें अपनी जिम्मेदारी को अधिकाधिक अनुभव करती जाती है और वे अपना फर्ज समझने लगी है कि प्रजा को हर तरह से सुख-सुविधा पहुंचाई जावे। इसीलिए वे जीवन के हरेक पहलू मे हस्तक्षेप करने लगी हैं। दरअसल प्रजा अपनी सब चिन्तायें अच्छी सरकार को देकर निश्चिन्त हो जाना चाहती है। इसी दृष्टि से सरकार का यह भी फर्ज है कि वह खेती, उद्योग-धन्धों की उन्नति और सुधार का कार्यक्रम बनाये। नई-नई खोज और अन्वेपण के काम पर दो-चार हजार नहीं, लाखों रुपया खर्च हो जाता है और इतनी भारी रकम खर्च करना किसी एक आदमी या कम्पनी के बूते की बात नहीं।

ऐसे काम सरकार को रिआया के फायदे के लिए करने चाहिएँ। हिन्दुस्तान मे भी हालाकि सरकार ने इस दिशा मे कदम उठाया है, पर दूसरे देशों के मुकाबिले वह बहुत ही कम है। इन प्रयोगों पर किया गया खर्च व्यर्थ नहीं जाता। एक प्रयोग जहाँ सफल हुआ कि उससे सारा देश लाभ उठाता है। एक छोटे-से नये प्रयोग से सारे देश की करोडों रुपयों की आमदनी बढ़ जाती है।

सरकार का यह भी फर्ज है कि वह यह देखे कि किन्हीं चीजों के दाम अनुचित रूप से ज्यादा या कम तो नहीं हो रहे है ? सट्टेवाज मिलकर कभी किसी चीज के दाम बहुत बढा देते है। कभी किसी जरूरी चीज की माँग विदेशों से इतनी ज्यादा आने लगती है कि अपने देश मे ही उसकी आवश्यक मात्रा नहीं रहने पाती। पिछले कुछ सालों से भारत से लगातार सोने का बाहर जाना इसका बहुत बडा उदाहरण है। कभी किसी फसल के बहुत ज्यादा होने या विदेशी होड की वजह से चीजों के दाम बहुत गिर जाते है और इसका नतीजा यह होता है कि किसान को बहुत कम आमदनी होती है। कभी-कभी तो यह होता है कि पैदावार बढ़ने से किसान को फायदे की जगह नुकसान तक होने लगता है। संयुक्तराष्ट्र अमेरिका मे एक साल ३२ करोड बुशल आलू पैदा हुए, उस साल आलू की कीमत १ डालर ८० सेण्ट फी बुशल थी। लेकिन जिस साल आलू की पैदावार ४४ करोड ६० लाख बुशल हुई, उस साल आलू की कीमत भी गिरकर सिर्फ ८० सेण्ट रह गई। यानी पहले साल कुल पैदावार की कीमत ५,७६,००,००० डालर थी, लेकिन दूसरे साल उससे कहीं ज्यादा पैदावार की कुल कीमत सिर्फ ३,५६,००,००० डालर रह गई। गन्ने और जूट की पैदावार एकदम

बहुत बढ़ जाने से भारत में भी यही अनुभव हुआ। ऐसी सब हालतों में सरकार का यह फर्ज होता है कि वह बाजारभाव को ठीक रखने के लिए अपनी शक्ति का प्रयोग करे। यह काम कई तरह से किया जा सकता है। वह विदेशों से आनेवाली चीजों (आयात) पर या किसी खास जरूरी वस्तु के बाहर जाने (निर्यात) पर तटकर लगा सकती है, मण्डियों का नियन्त्रण कर सकती है, कानून द्वारा किसी वस्तु का मूल्य निर्धारित कर सकती है, अपनी मुद्रा में कमी-बेशी करके कीमत पर असर डाल सकती है, किसी फसल की उपज पर नियन्त्रण करके मूल्यों में कमी को रोक सकती है। मैं इन सबके विस्तार में नहीं जाना चाहता। तुम अखबारों में प्रतिदिन इस प्रकार के समाचार पढ़ते रहते होगे। असल में यह सब व्यवस्था करना सरकार का फर्ज है। जनता की हर तरह की चिन्ता और समस्या हल करने की जिम्मेदारी सरकार पर है, क्योंकि जनता ने अपनी शक्ति सरकार में केन्द्रित करदी है। इसी दृष्टि से अधिकार के सम्बन्ध में तुम जितना भी विचार करोगे, उतना ही साफ तौर पर जनता के सभी अधिकार तुम्हारे सामने आजायँगे।

इस पत्र के साथ मैं अपनी राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) के उस प्रस्ताव[1] की नकल भी भेज रहा हूँ, जिसमें उसने अपने आदर्श स्वराज्य की कल्पना की है और जिसमें नागरिकों के प्रायः सभी मौलिक अधिकारों का समावेश हो गया है।

१ देखिए परिशिष्ट नं० २।

: १२ :

हमारा देश आज़ाद हो

२६-६-३८

पिछले पत्रों मे मनुष्य के प्रायः सभी नागरिक अधिकारों पर मैं रोशनी डाल चुका हूँ। इनपर जितना विस्तार से विचार किया जायगा, उतने ही ज्यादा अधिकार के भेद हमे मालूम होंगे। लेकिन इस पत्र मे मैं जिस अधिकार का जिक्र करना चाहता हूँ, वह वहुत महत्त्वपूर्ण है। उसीपर सब नागरिक अधिकारों का दारोमदार है। यदि वह न हो, तो दूसरे सब नागरिक अधिकारों की प्राप्ति नामुमकिन हो जाती है। वह महत्त्वपूर्ण अधिकार है अपने देश की आजादी। जिस समाज या राष्ट्र मे राष्ट्रीय स्वाधीनता ही नहीं है, उसमे दूसरी किसी---व्यक्तिगत, सामाजिक, राजनैतिक या आर्थिक स्वाधीनता की कल्पना ही नहीं हो सकती। विदेशियों के राज्य मे शासकों का शासित देश की अपेक्षा शासक-देश के हितों को ज्यादा प्रधानता देना निश्चित है। अगर शासक देश अपना लाभ न देखे, तो वह एक देश को राजनैतिक गुलामी मे रखने के लिए भारी झंझट क्यों करे? आजकल जितने भी पराधीन राज्य है, उन सबके शासक अपने अधीन देशों का लगातार आर्थिक व राजनैतिक शोषण कर रहे है। दूसरे देशों का उदाहरण देने की जरूरत नहीं। हम भारत-वासी ही राजनैतिक गुलामी के वहुत वडे उदाहरण है। हमारे यहाँ भारत की आर्थिक, व्यापारिक और व्यावसायिक नीति वनाते समय

हमेशा पहले ब्रिटिश हितों को तरजीह दी जाती है। इसके लिए मैं तुम्हारा ध्यान पिछले डेढसौ बरसों के भारत के आर्थिक इतिहास की ओर खींचना ही काफी समझता हूँ। किन नीच उपायों से ब्रिटेन के हित के लिए भारत के व्यापार-व्यवसाय को नष्ट किया गया, किस तरह संसार के सबसे धनी देश को डेढ़ सौ बरसों मे दुनिया का सबसे गरीब देश बना दिया गया, किस तरह आज भी विनिमय-दर को ब्रिटेन के अनुकूल रखकर भारत का करोड़ों रुपया हरसाल इंग्लैण्ड ले जाया जा रहा है, किस तरह भारत के उठते हुए नये व्यवसायों को एक्साइज-करों या संधियों की आड मे दबाया जाता रहा है, किस तरह अंग्रेजों को भारी-भारी नौकरियाँ देकर भारत के गरीब करदाताओं पर शासन का भारी बोझ लादा जा रहा है, किस तरह विदेशी पूँजीपतियों से अनुचित शर्तें करके उन्हे मनमाना लाभ उठाने दिया जाता रहा है, यह सब कहानी भारत के ही इतिहास मे नहीं, दुनिया के इतिहास मे भी अपना एक खास स्थान रखती है। जब एक देश मे उसका हित ही न देखा जाय, तो उस देश के नागरिकों को आर्थिक स्वाधीनता मिलने की भी उम्मीद कैसे की जा सकती है? यहाँ तो सभी देशवासियों की आर्थिक स्वाधीनता के मूल मे ही कुठाराघात किया गया है। यह भी स्वाभाविक है कि इन परिस्थितियों मे हिन्दुस्तानी लोग अपनी आजादी पाने के लिए प्रयत्न करते। पर वे कोई प्रयत्न न कर सकें, इसके लिए भी शासकों ने दमननीति का पूरा सहारा लिया। उनके हथियार छीन लिये गये, उनके लिखने-बोलने पर पाबन्दी लगा दी गई, उनके सभा-संगठनों पर व्यापक रूप से नियंत्रण किया गया, नागरिकों की गति-विधि पर भी कठोर नियन्त्रण किया गया, देश की अपनी संस्कृति, अपनी भाषा और अपनी लिपि तक

नष्ट करने मे कुछ नहीं उठा रक्खा गया। इसके अलावा सारे देश को, जो ससार मे सबसे सभ्य राष्ट्र था, जहरीली शिक्षा देकर उनका मानसिक और चारित्रिक पतन करने का भी प्रयत्न किया गया, जिससे वे स्वतन्त्रता की चर्चा ही करना भूल जायँ। केवल भारत ही नहीं, सारे गुलाम देशों मे यही घटनायें दुहराई जाती है। असल मे किसी देश की परतन्त्रता की कहानी उस देश के इतिहास का सबसे करुणा-पूर्ण अध्याय होता है।

यही सब कारण है कि देशवासी अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए खुशी से सर्वस्व बलिदान करने को तैयार रहते है। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए संसार मे सैकडों लड़ाइयाँ हुई है और उन राष्ट्रों के युद्धों मे हमे सोने के अक्षरों मे लिखे जाने योग्य अपूर्व बलिदान के बीसियों उदाहरण मिलते हैं। हालैण्ड, आयर्लैण्ड, अमेरिका आदि के स्वातन्त्र्य-युद्ध कितने अधिक स्फूर्तिदायक हैं, यह इतिहास के किस विद्यार्थी को मालूम नहीं है? भारत का पिछला अहिंसात्मक स्वातन्त्र्य-युद्ध क्या कम स्फूर्तिदायक है? आज भी चीन अपनी आजादी की रक्षा के लिए जो-कुछ कर रहा है, वह तुम्हे मालूम ही है। यह सब त्याग और बलिदान किस लिए? इसलिए कि मेरा देश आजाद हो—मैं सब नागरिक स्वतन्त्रताओं का उपभोग कर सकूं, क्योंकि किसी देश की आजादी ही अन्य सारी नागरिक स्वतन्त्रताओं का मूल आधार है।

राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के नष्ट होने से व्यक्तिगत आत्म-स्वातन्त्र्य भी नष्ट हो जाता है और आत्म-स्वातन्त्र्य के नष्ट होने पर नैतिक विकास असम्भव होजाता है। राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त होजाय, तो अन्य सब नागरिक स्वाधीनताओं को हासिल करना भी सम्भव हो जाता है, लेकिन

इस स्वतन्त्रता के अभाव मे तो अन्य सब अधिकारों की आशा करना वालू से तेल निकालने की आशा करना है।

इस पत्र के साथ मैं अधिकारों की चर्चा समाप्त करता हूँ। अधिकारों की चर्चा बहुत लोकप्रिय विषय है। सभी अधिकार प्राप्त करने को उत्सुक हैं। लेकिन केवल उत्सुकता से कुछ नहीं होता। अधिकार-प्राप्ति की योग्यता भी तो प्राप्त करनी चाहिए। और फिर अधिकारों की रक्षा के लिए भी ताकत, संगठन और दृढ संकल्प भी उतने ही जरूरी हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि अधिकार पाकर नागरिक या राष्ट्र मद मे चूर न हो जाय।

: १३ :

हमारे कर्तव्य

९-७-३८

पिछले पत्रों मे मैंने तुम्हे एक नागरिक के क्या-क्या अधिकार होते हैं, यह बताने की कोशिश की थी। पर यह तो तुम समझ ही सकते हो कि जब हम एक समाज, देश या राष्ट्र मे रहते है तो उसके नागरिक की हैसियत से सिर्फ अपने अधिकार का ही हमे खयाल नही रहना चाहिए। हमारा भी उस समाज, राष्ट्र या देश के प्रति कुछ फर्ज होता है। बल्कि मैं तो यह भी कहूँगा कि जिस समाज, देश या राष्ट्र मे हम रहते हैं, उसके प्रति हमारा जो फर्ज है, उसे अदा करने के बाद हम अपने अधिकार का दावा करें। बगैर अपना फर्ज अदा किये अपने अधिकार का दावा करना मेरी निगाह मे चोरी है। इन आगे के पत्रों मे मेरा इरादा अपने कर्तव्यों के बारे मे चर्चा करने का है। यद्यपि अधिकारों के बजाय कर्तव्यों का विषय दिलचस्प कम होगा और उसमे हमे अपनी बुराइयों और कमियों पर निगाह डालनी होगी, इस वजह से शायद कुछ अप्रिय भी मालूम हो, पर मुझे आशा है कि जिस भावना से तुमने मुझसे यह पत्र-माला शुरू कराई है, उसमें तुम्हे यह भी दिलचस्प ही मालूम होगा।

कुछ दिन पहले मैं इटली के प्रसिद्ध विचारक और देश-भक्त जोसेफ मेजिनी की 'मनुष्य के कर्तव्य' (Duties of man) नामक पुस्तक पढ रहा था। उसमे मेजिनी ने अपने शुरू के वक्तव्य मे एक बहुत ही गम्भीर प्रश्न किया है। वह प्रश्न उस समय जितने जोर के

साथ किया जा सकता था, उतने ही जोर से आज भी किया जा सकता है। मैजिनी ने इटली के मजदूरों को अपनी पुस्तक का उद्देश्य बताते हुए कहा है कि अधिकार की बजाय कर्तव्यों का उपदेश देना तुम्हें विचित्र प्रतीत होगा। तुम कहोगे कि "हम गरीब है, गुलाम है और दुःखी है। हमारे सामने तो भौतिक सुखों की बात करो, हमे आजादी, सुख व अधिकारों का सन्देश सुनाओ। हमे बताओ कि क्या हमारी जिन्दगी इसी तरह दुःख मे बीतेगी या हम कभी सुख भी भोगेंगे। कर्तव्यों का उपदेश तो हमारे मालिकों को दो, जो हमसे मशीनों की तरह काम लेते है और जो हमपर तरह-तरह के अत्याचार करते है। हमे तो अधिकार, संगठन और ताकत का सन्देश सुनाओ, जिससे हम उनसे बदला ले सकें। जब हम शक्तिसम्पन्न हो जावे, भर-पेट रोटी खाने लगें और तन ढकने को बढ़िया कपड़ा पहनने लगे, तब आप हमे कर्तव्य का उपदेश देना।" आज के हिन्दुस्तानी और खास कर दुःखी-दरिद्र ग्रामीण भी यही कह सकते है। और उनकी यह बात दिल को लगती भी जरूर है। बात यह है कि उन लोगों को, जो अबतक अपने मालिकों की, सरकारी अफसरों और जमींदारों की जायज-नाजायज सभी आज्ञाओं को बिना ननुनच सिर-आँखों रखते आये है, जो अपने-आप भूखों रह कर, गरमी और सरदी मे नंगे बदन दिन गुजारकर अपना सब-कुछ जमींदारों व हाकिमों को अर्पण करते रहे है, उनके सामने कर्तव्य की चर्चा करना क्या पागलपन नहीं है? मैजिनी ने इसका जो जवाब दिया है, वह मनन करने योग्य है। वह कहते है कि मनुष्य के अधिकारों के नामपर पिछली सदियों मे कई महान कार्य हुए है—फ्रास की क्रान्ति या उसके बाद आनेवाली अनेक भीषण क्रान्तियाँ, मनुष्य के अधिकारों की घोषणा, दार्शनिकों व साहित्यिकों द्वारा मनुष्य के अधिकार की चर्चा

आदि महान् कार्य हुए है। कई देशों मे मनुष्य ने अधिकार भी प्राप्त कर लिए है, पर क्या वस्तुतः उनकी हालत सुधर गई है ? क्या इन देशों मे रहने वाले सुखी है ? वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण उत्पत्ति जरूर दुगनी हो गई है, व्यापार खूब बढ गया है, आने-जाने के साधन भी खूब सुधर गये और सुगम हो गये है, मनुष्य के पैदायशी अधिकार को भी मंजूर किया जाने लगा है, राजनैतिक दृष्टि से भी मनुष्य अपने को कहीं ऊँचा समझने लगा है, पर क्या इस सबके बावजूद मनुष्य की—आम जनता की हालत सुधर गई है ? उत्पत्ति के सबमे समान विभाजन के बजाय क्यों एक नयी कुलीन श्रेणी बनाने का प्रयत्न हो रहा है ? व्यापार और व्यवसाय की वैज्ञानिक उन्नति का नतीजा मानव जाति का कल्याण न होकर क्यों थोड़े से इने-गिने मनुष्यों का भोगविलास-मय जीवन होगया है ? इसके उत्तर मे मैजिनी कहते है कि इसका जवाब साफ है। जिस श्रेणी ने क्रान्ति की है, उसके सामने एक ही उद्देश्य था और वह था स्वाधीनता—व्यक्तिगत स्वाधीनता और नागरिक स्वाधीनता की प्राप्ति। लेकिन इसका उन आम लोगों के लिए कोई मतलब न था, जिन्हे यह आजादी नहीं मिली थी। असल मे जिन लोगों का व्यापार-व्यवसाय से कोई ताल्लुक न था, जिनके पास न पैसा था, न शिक्षा, उन्हे तो कोई अधिकार ही नहीं मिला। इन अधिकारों को प्राप्त करनेवाली तो एक छोटी-सी मध्यम-वर्ग की जमात थी, जिसके पास जमीन थीं और पैसा भी था। इस क्रान्ति से आम लोगों का, जो दिन-रात कड़ी मेहनत करनेवाले मजदूर या किसान थे, कोई सम्बन्ध न था। इनके लिए तो स्वतन्त्रता और अधिकारों की घोषणा एक मजाक था। उनकी ओर मध्यमवर्ग की जमात ने भी उपेक्षा दिखाई। उसे तो अपने अधिकारों की परवा थी,

दूसरे की उसे कोई चिन्ता न थी। जब उसके स्वार्थ दूसरे से टकराये, तब एक युद्ध हुआ। यह युद्ध बन्दूकों व तोपों का न था, यह एक नये किस्म की सोने-चादी की लडाई थी—चालाकी व धोखेबाजी की लडाई। पर इसका नतीजा तलवारो और तोपों के हिंसात्मक युद्ध से भी भीषण था। इस लडाई मे पैसेवालों ने गरीबों को तबाह कर दिया। मनुष्य की स्वतंत्रता उच्छृंखलता के रूप मे परिणत होगई। धार्मिक या नैतिक भावना का बंधन न होने से हरेक अपना सुख, अपना स्वार्थ खोजने लगा। किसी को यह फिक्र न हुई कि हमारी आजादी से दूसरे के अधिकार कुचले जा रहे हैं।

अधिकारों की सत्ता से इन्कार नही किया जा सकता। उनका अस्तित्व है और निश्चित है। पर सवाल उठता है कि जहाँ एक शख्स के अधिकार दूसरे के अधिकारों से टकराते हैं, वहाँ दोनों का समन्वय कैसे होगा? जहा एक मनुष्य के अधिकारों का, एक समूह या देश के अधिकारों से संघर्ष हो, वहाँ कौनसी अदालत मे अपील की जाय? अगर मजदूर और मिल-मालिक सभी को अपने स्वार्थ के साधन का ही खयाल रहे, तो इन दोनों के झगडों का पंच कौन बनेगा? यदि जीवित रहने का अधिकार सबको है तो समाज के हित के लिए अगर मरना पड़े तो कौन मरेगा और कौन किससे त्याग और बलिदान की अपील करेगा? क्या तुम देश, समाज या बिरादरी के नाम से यह अपील करोगे? देश या समाज भी क्या है? समाज ने यही तो मनुष्य को तसल्ली दी है कि वह अपने अधिकारों का इस्तेमाल कर सकता है। अब क्या तुम उसे कहोगे कि वह सब अधिकार समाज को सौंप दे और यदि समाज के लिए जरूरी हो तो वह जेल जाय, युद्ध मे लड़े और मर जाय? अपने

सुख को समझने का समाज ने उसे उपदेश दिया और अब क्या समाज ही उसे कहेगा कि वह अपना सुख और अपना जीवन देश या समाज को विदेशियो से मुक्त करने के लिए बलिदान करदे ? और कहोगे किस आधार पर ? तुमने उसे बरसों से भौतिक स्वार्थो की शिक्षा दी है। तब तुम उससे यह कैसे आशा कर सकते हो कि वह अब अपनी पहुँच मे आई हुई सम्पत्ति व शक्ति को छोड देगा ? वह तो उसे अपने अधिकार मे रखने की भरपूर कोशिश करेगा, भले ही इससे दूसरों के हितों को नुकसान पहुँचे।

मैजिनी बड़े दुःख के साथ इटली की आम जनता को सम्बोधन करते हुए कहते है कि उनका यह विचार-प्रवाह अकारण ही नहीं है। यह इतिहास है—हमारे अपने समय का इतिहास है, जिसके पन्ने-के-पन्ने हमारे भाइयों के खून से रंगे हुए है, जिसे देखने के बाद मैं इन नतीजों पर पहुँचा हूँ। १८३० की भयंकर क्रान्ति देखो, जब हजारों लोग क्रान्ति के नाम पर राजकीय और धर्म के उच्च अधिकारियों से दूसरी छोटी-सी श्रेणी के (मध्यमवर्ग) के हाथ मे सत्ता लेने के लिए मार दिये गये। यह सब क्यों हुआ ? इसका कारण था अधिकारों के सिद्धान्त की शिक्षा। कर्तव्य की शिक्षा उन्हे नहीं दी गई थी। उन्होंने (मध्यमश्रेणी ने) आमलोगों की सहायता से चार्ल्स दसवें के विरुद्ध युद्ध किया और सब प्रकार के कष्ट सहन किये, लेकिन जब उन लोगों को राजनैतिक अधिकार मिल गये, उन्हे बडी-बडी सरकारी नौकरियाँ मिल गई, जब उन्हे वह सुख मिल गया जिसके लिए इन्होंने लडाई की थी, तो वे आम जनता को, उन लाखों लोगों—को भूल गये, जो शिक्षा मे, धन मे उनसे छोटे थे। उन्हे आम जनता की चिन्ता ही न रही और उनका अधिकार-युद्ध खतम हो गया।

संसार के इतिहास मे ऐसे सैकडों उदाहरण मिलेंगे, जबकि एक श्रेणी ने मानव-अधिकार के नामपर शासकों से संघर्ष किया, लेकिन जब ताकत उनके हाथ में आगई, तब वे भी आम लोगों के अधिकारों की इसी तरह उपेक्षा करने लगे, जिस तरह पहले के शासक उनकी उपेक्षा किया करते थे। इसका एकमात्र कारण यह है कि उन्हे अधिकार प्राप्ति की शिक्षा तो खूब दी गई, लेकिन कर्तव्यपालन की सलाह नहीं दी गयी थी। उन्हे यह तो बताया गया कि अपने अधिकारों के लिए लडो, लेकिन उन्हे यह सलाह नही दी गई कि समाज या राष्ट्र के प्रति भी तुम्हारा कुछ कर्तव्य है, अपने अधिकारों की रक्षा के साथ-साथ दूसरे के अधिकारों की भी रक्षा तुम्हे करनी है।

यदि अधिकारों के सिद्धान्तों मे विश्वास करनेवाला एक व्यक्ति समाज या राष्ट्र के प्रति यह कह करके विद्रोह कर दे कि—मैं समाज के कायदे-कानून नहीं मानता, मैं तो अपने अधिकारों की रक्षा करूँगा, मुझे कौन रोक सकता है, मैं जो चाहूं, करूँगा। ऐसे विद्रोही को किस तरह रोका जा सकता है? यदि वह कायदे कानून तोड़े, तो तुम्हे उसे दण्ड देने का क्या अधिकार है? वह तो अपने अधिकारों के लिए लडता है और इसका उसे अधिकार है। हमारा उसे दण्ड देना तो एक लडाई-सी हुई, शान्ति तो न हुई। वस्तुतः ऐसी वागी प्रवृत्ति को अधिकार की शिक्षा देकर नहीं, कर्तव्य-पालन की शिक्षा देकर ही शान्त किया जा सकता है। अधिकारों का सिद्धान्त हमे उन्नत होने और सब बाधायें उखाड फैंकने मे सहायता देता है, लेकिन राष्ट्र के जुदा-जुदा हिस्सों मे समन्वय, संगठन और स्थायी शान्ति पैदा नहीं करता। व्यक्तिगत सुख के सिद्धान्त से ऐसे आदमी

तो पैदा हो जायगे, जो अहम्भाव रखते हों, दुनियावी सुखों मे विश्वास करते हों, लेकिन समाज की कल्याण-भावनावाले पैदा नहीं हो सकेंगे। इसके लिए कर्तव्य के सिद्धान्त की शिक्षा देना निहायत जरूरी होगा। हमे लोगों को यह समझाना होगा कि एक परमात्मा के सब पुत्रों को एक नियम का ही पालन करना है। हरेक यह सोचे कि मुझे दूसरों के लिए जाना है, सिर्फ अपने ही लिए नहीं, केवल अपना सुख ही मेरा उद्देश्य नहीं, अपना और अपने सब पडोसियों का सुख भी मुझे देखना चाहिए, अपने भाइयों के फायदे के लिए अन्याय और पाप के विरुद्ध युद्ध करना केवल अधिकार ही नहीं है, यह मेरा कर्तव्य है। इस कर्तव्य को भूल जाना पाप है। अधिकार छोडने की कोई सलाह नही देता, लेकिन अधिकार की प्राप्ति के लिए भी कर्तव्य-पालन बहुत जरूरी है। बिना कर्तव्यपालन के अपने अधिकारों की रक्षा असंभव है। मैजिनो के शब्दो मे अपनी उन्नति भी अपने प्रति कर्तव्य का पालन है। वह कर्तव्य को इतनी प्रमुखता देता है कि वह उसे उद्देश्य और अधिकार को साधन कहता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति करते हुए अपने अधिकार, पडोसी के अधिकार और समाज या देश के अधिकार के प्रति भी मनुष्य अपनी जिम्मेदारी निभा सकता है।

इस पत्रमाला को शुरू करते हुए मैंने अधिकार और कर्तव्य पर विचार करते हुए लिखा था कि—"मनुष्य के जीवन के लिए समाज लाजमी है, इसलिए उसकी रक्षा भी लाजमी है। अगर समाज की रक्षा न की गई, इसे नष्ट होने दिया गया तो, यह नष्ट होकर मनुष्य को भी मार देगा।" "समाज मनुष्य की उन्नति मे बाधक न हो और मनुष्य समाज की उन्नति मे बाधक न हो। दोनो एक दूसरे की उन्नति मे मदद-गार हों। ऐसी हालत उत्पन्न करने के लिए मनुष्य को समाज के प्रति जो-

कुछ करना पड़ता है, वही उसका कर्तव्य है। मनुष्य एक हाथ से समाज को अपने कर्तव्य-पालन के रूप मे कुछ देता है और दूसरे हाथ से अपने अधिकारों की रक्षा के नाम से कुछ ले लेता है। यह 'ले' और 'दे' का समन्वय ही हमे समझने की आवश्यकता है।" दूसरे पत्र मे भी मैंने कर्तव्य का निर्देश करते हुए लिखा था—"मनुष्य ने अपनी स्वतंत्रता कायम रखने के लिए ही—बलवान आक्रमणकारी, मनुष्य के अधिकारों पर कुठाराघात न कर सके, इस उद्देश्य से समाज या राज्य की कल्पना की थी। समाज के लिए कुछ बन्धन आवश्यक है यानी अधिकारों की रक्षा के लिए बन्धन अनिवार्य है। मनुष्य पर राज्य का बन्धन मनुष्य की उच्छृङ्खलता रोकने के लिए और राज्य पर मनुष्य का नियंत्रण या बन्धन राज्य की उछृङ्खलता रोकने के लिए लगाया जाता है। पहले प्रकार के बधन मनुष्य के कर्तव्य है और दूसरे प्रकार के बंधन अधिकार है।"

खुद जीना मेरा अधिकार है, लेकिन दूसरे को जीने देना मेरा कर्तव्य है। मैं चाहता हूं कि मेरे अधिकारों की रक्षा हो, लेकिन सामूहिक अधिकार-रक्षा के लिए यह निहायत जरूरी है कि मैं दूसरे के अधिकार की भी रक्षा करूँ। अगर लोग अपने कर्तव्य की—दूसरे के अधिकार-रक्षा की चिन्ता न करें, तो संसार मे किसी का अधिकार भी सुरक्षित न रहे। सभी को हर समय दूसरे से अपने अधिकार छिन जाने का खतरा रहे तो समाज भी नष्ट हो जाय। मैं जहाँ समाज से लाभ की आशा करता हूँ, वहाँ दूसरा भी तो समाज से, जिसका कि मैं भी एक अग हूँ, लाभ की आशा करता है। समाज के प्रति लोगों की उपेक्षा का नतीजा ऐसी अराजकता होगी, जिसमे किसी के अधिकार न बच सकेंगे।

हरेक को अनुभव करना चाहिए कि यदि मैं समाज के लिए नहीं हूँ, तो समाज भी तो सिर्फ मेरे लिए नहीं है। समाज के अधिकार की रक्षा का दूसरा नाम कर्तव्य है। आर्यसमाज के प्रवर्तक ऋषि दयानन्द ने आर्यसमाज के दस नियमों मे से दो नियमों मे समाज के प्रति कर्तव्य पर खासकर जोर दिया है। ९वा नियम यह है—"प्रत्येक को अपनी उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति मे अपनी उन्नति समझनी चाहिए।" १०वा नियम यह है—"सब मनुष्यो को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने मे परतत्र रहना चाहिए, प्रत्येक हितकारी नियम मे स्वतंत्र रहना चाहिए।" सबकी उन्नति मे अपनी उन्नति समझना और सर्वहितकारी नियम-पालन मे परतंत्र रहना—बंधन स्वीकार करना कर्तव्य के सिद्धान्त का मुख्य आधार है। इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध विद्वान, जान स्टुअर्ट मिल की 'स्वाधीनता' पुस्तक, ऐसा प्रतीत होता है कि इन्हीं दो नियमों की व्याख्या है। वह स्वाधीनता का लक्षण करते हुए लिखता है कि—"दूसरो को किसी तरह हानि न पहुँचाकर और अपने हित के लिए किये गये दूसरो के यत्न मे बाधा न डालकर अपने स्वार्थ-साधन की आजादी का नाम स्वाधीनता है।" यह शर्त कर्तव्य-पालन का ही निर्देश करती है।

ससार मे आज जो अशान्ति है, वह चाहे छोटे क्षेत्र मे हो या बड़े क्षेत्र मे, चाहे एक ग्राम मे हो, देश मे हो या अन्तर्राष्ट्रीय ससार मे, सबका मूल कारण लोगों, जातियों या राष्ट्रों की अपने कर्तव्य के प्रति उपेक्षा है। हरेक अपने अधिकार की रक्षा तो चाहता है, लेकिन अपने पड़ोसी, अपने समाज, अपने ग्राम, शहर, प्रान्त या देश और ससार के दूसरे राष्ट्रों के सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक अधिकारो की उपेक्षा करता है। इसीलिए आज ससार की आर्थिक और

राजनैतिक समस्यायें इतना भीषण आकार धारण करके सामने आ रही हैं।

साधारणतः कर्तव्य को हम नीचे लिखे विभागों में बांट सकते हैं—

(१) **अपने प्रति**—अपनी शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और भौतिक उन्नति। जबतक समाज के अंग ही पुष्ट न होंगे, समाज कैसे पुष्ट हो सकता है? मनुष्य खुद भी समाज का एक अंग है, इसलिए अपने प्रति लापरवाही भी समाज के प्रति लापरवाही है।

(२) **ग्राम व नगर के प्रति**—हमारे राजनैतिक संगठन की इकाई ग्राम या नगर होते हैं। इनकी उन्नति अपनी उन्नति के लिए जरूरी है।

(३) **देश के प्रति**—राज्य किसी देश की उन्नति और अवनति के लिए बहुत उत्तरदायी है। जननी होने के कारण हम माता की इज्जत करते हैं, लेकिन मातृभूमि तो सारे देशवासियों की जननी है। देश ही दुर्बल होगया, गुलाम होगया तो देशवासी भी सुखी नहीं रह सकते।

(४) **समाज के प्रति**—समाज के जुदे-जुदे वर्गों, स्त्रियों, बालकों और दलितों के अधिकारों की हम पूरी रक्षा करें। विधर्मियों का भी आदर करें और विभिन्न आर्थिक श्रेणियों—मजदूरों, किसानों आदि के सुखों और अधिकारों का खयाल रक्खें।

इस तरह स्वयं, परिवार, मुहल्ला, ग्राम, जिला, प्रान्त और देश तक अपने कर्तव्य का दायरा बढ़ाते-बढ़ाते हम सारी दुनिया तक अपना दायरा बढ़ा सकते हैं, जब हरेक व्यक्ति को हम अपना

मानेंगे, हरेक देशवासी या हरेक धर्म माननेवाले का हित हमे अभीष्ट होगा। उस समय हमारा उद्देश्य होगा—

"सर्वे भवन्तु सुखिन सर्वे सन्तु निरामया ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दु खभाग्भवेत् ॥"

आगे के पत्रों मे मैं कर्तव्य की इन्हीं दो-चार श्रेणियों पर रोशनी डालने की कोशिश करूँगा।

: १४ :

अपने लिए क्या करूँ ?

८-७-३८

हिन्दू शास्त्रकारों ने मनुष्य के जीवन का उद्देश्य मोक्ष बनाया है। उनकी राय मे स्वतंत्रता आत्मा का स्वभाव है। किसी बंधन मे पडना उसके स्वभाव के विपरीत है, लेकिन कर्मफल के संयोग से उसे छोटे-बड़े अनेक बंधनों मे आना पडता है। इन बंधनों से छूटने की कोशिश उसे हमेशा करते रहना चाहिए। एक साधक न केवल संसार के राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक बंधनों को तोड डालना चाहता है, बल्कि जीवन-मरण के बंधन से भी छूटने की कोशिश करता है। मनुष्य के अपने प्रति कर्तव्यों का विवेचन करते हुए धर्मशास्त्रों ने बहुत से योग, नियम और व्रत आदि बताये है, जिनसे आत्मा अपने जीवन को आदर्श बनाते हुए आध्यात्मिक उन्नति द्वारा परमात्मा मे लीन हो सकता है और मोक्ष या निर्वाण पा सकता है।

लेकिन इन पत्रों मे मैं इन कर्तव्यों का जिक्र नहीं करना चाहता। न तो मैं उसका अपने को अधिकारी ही मानता हूँ और न यह इस पत्रमाला का विषय है। यहाँ तो मैं केवल उन गुणों और कर्तव्यों का ही जिक्र करना चाहता हूँ, जिनका समाज के साथ—इस भौतिक जगत् की उन्नति के साथ सीधा सम्बन्ध है। निजी उन्नति के बारे मे दुनिया के बहुत से फिलासफरों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से विचार किया है। उन सबपर विचार करना मेरे लिए नामुमकिन है। मै तो थोड़े मे ही इस विषय का जिक्र-भर करना चाहता हूँ।

शारीरिक उन्नति

एक भारतीय विद्वान् का कथन है—कि "शरीरमाद्यं खलु धर्म-साधनम् ।" यदि शरीर ही तन्दुरुस्त नहीं तो लौकिक और पारलौकिक व्यवहारों मे सफलता पाना कठिन है । 'स्वस्थ शरीर मे स्वस्थ मन वास करता है,' कहावत मे पूरी सचाई है । बिना तन्दुरुस्ती के जीवन बोझ होता है । किसी काम मे भी उत्साह और रस नहीं लिया जा सकता । एक रोगी शरीर न जीवन का सुख ले सकता है और न कोई उन्नति कर सकता है । वह तो अपनी चारपाई पर पडा रहता है या दवाइयों की खोज मे डाक्टरों के दर-दर भटकता रहता है । दुनिया मे उसका जीवन व्यर्थ बीतता है । हमेशा बीमार रहनेवाले का जीना या मरना समाज के लिए बराबर है, क्योंकि वह समाज पर भार के सिवा उसके किसी काम नहीं आता । जबतक किसी देश का स्वास्थ्य अच्छा नहीं वह किसी भी दिशा मे उन्नति नहीं कर सकता । भारतवर्ष मे निरतर होनेवाले शारीरिक ह्रास की ओर मैं तुम्हारा ध्यान अपने चौथे पत्र मे खींच चुका हूँ । एक बार उन रोमाचकारी आकडों को फिर पढो और सोचो कि भारत मे इस ओर कितना ज्यादा ध्यान देने की जरूरत है । ५०–६० साल तक दुनिया का अनुभव लेने के बाद ऐसी उम्र आती है, जबकि मनुष्य अपनी ओर से संसार को कुछ दे सके, लेकिन उससे पहले ही वह ससार से चला जाता है । इसका मतलब यह है कि दुनिया करोडों व्यक्तियों के कई दशकों के अनुभवों के लाभ से वचित रह जाती है । शारीरिक उन्नति के उपाय तुम बीसियों स्वास्थ्य-संबंधी किताबों मे पढ सकते हो और तुम जानते भी हो, फिर भी यह विषय अधूरा न रह जाय, इसलिए मैं कुछ उपायों की ओर तुम्हारा ध्यान दिलाना चाहता हूँ—

(१) मनुष्य को 'शतं जीवेम शरदः शतम्' (यानी मैं सौ वर्ष तक जीवित रहूँ) की वेद-प्रार्थना को अपना आदर्श बनाना चाहिए। इसके लिए दृढ संकल्प, आशावाद और हमेशा खुश रहने के गुणों का होना बहुत जरूरी है। इन तीन गुणों का शरीर पर जितना असर पडता है, उतना दूसरे किसी उपाय मे नही। अग्रेजी का मशहूर नाट्यकार शेक्सपीयर एक जगह लिखता है "प्रसन्न हृदय दिन-भर चलता रहता है, जबकि पाप का उदास हृदय एक मील से ही थक जाता है।"

(२) साफ हवा फेफडों के लिए बहुत जरूरी है। घर खुले और हवादार होने चाहिऍ, जिससे धूप और हवा खूब आसके। गाँवों के आदमी, यद्यपि दिन भर बाहर खेतों की खुली हवा मे काम करते है, लेकिन उनके घर और खासकर उठने-सोने के कमरे बिलकुल बन्द होते है, जिनमे एक भी खिडकी और रोशनदान नहीं होता। शहरों मे, जहाँ बाहर की खुली हवा नसीब नहीं होती, तपेदिक आदि गंदी बीमारियाँ इसीलिए होती हैं। कपड़े इतने ज्यादा नहीं पहनने चाहिऍ कि शरीर को हवा भी न लग सके। खद्दर के कपड़े तन्दुरुस्ती के ख़याल से बहुत अच्छे होते है। शुद्ध हवा मे गहरी सास लेने का अभ्यास करना चाहिए। एक डाक्टर का कहना है कि "हर रोज एक मनुष्य को चालीस से लगाकर पचास घनफुट तक हवा की जरूरत होती है।" हमारे पूर्वजों ने प्रणायाम पर इसीलिए खास जोर दिया था।

(३) साफ हवा की भाति साफ पानी भी बहुत जरूरी चीज है। गांव मे इस ओर बहुत-कम ध्यान दिया जाता है। गांवों के कुऍ बिना ढके होते है फिर उनके पास लोग टट्टी-पेशाब करते भी संकोच

नहीं करते। इससे पीने का पानी गंदा हो जाता है। बहुत से गाँवों मे, जहाँ तालाब का पानी पीने के काम मे भी आता है, लोग तालाब मे ही मैले कुचेले कपड़े धोते है। ऐसे तालाबों के पानी से कई रोग पैदा हुआ करते है। घर मे भी पानी साफ बर्तनों मे ढककर रखना चाहिए। किसी-किसी मौके पर पानी औटाकर भी पीना पडता है। रोज अच्छी तरह नहाने से कई रोग नही होने पाते। हमारे यहाँ कहा है "अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति।" (पानी से शरीर शुद्ध होता है)

(४) हवा और पानी के बाद तीसरी जरूरी चीज है धूप, बल्कि कई हालतों मे तो धूप सबसे ज्यादा आवश्यक चीज है। सूरज की किरणों मे रोग दूर करने की बडी शक्ति होती है। वे मनुष्य मे स्फूर्ति और उत्साह का संचार करती है। 'स्वेद-स्नान' से भी कई रोग दूर होते है।

(५) भोजन के बारे मे 'शुद्ध सात्विक और कम खाने' का नियम याद रखना चाहिए। मनुष्य के शरीर का आधार भोजन है। प्रत्येक अस्थि और प्रत्येक पेशी भोजन की ही बनी होती है। मनुष्य के मन और आत्मा पर भी भोजन का कम प्रभाव नहीं पडता। कहा है—"अन्नमय हि मनः"। भोजन सादा होना चाहिए। बहुत भारी, चटपटा और नशीला भोजन शरीर के लिए जहर का काम करता है। चाय, काफी, तमाखू आदि चीजें, जो आजकल की सभ्यता का आवश्यक अग बन गई हैं, बहुत नुकसानदेह चीजें है। दुनिया के मशहूर आविष्कारक एडिसन तमाखू के इतने खिलाफ़ थे कि सिगरेट पीने वाले किसी व्यक्ति को अपने यहाँ नौकर नहीं रखते थे। जर्मनी और इटली के डिक्टेटर हिटलर व मुसोलिनी भी तमाखू नहीं पीते। मांसाहार शरीर मे खट्टापन और जहर पैदा करता है। अमेरिका

के प्रसिद्ध लेखक अप्टन सिंक्लेयर के कहे अनुसार "शराब मनुष्य जाति के पंखे को बाँधनेवाला प्रकृति का सबसे बडा जाल है।" डा० गुलिक के शब्दों मे "नशे अथवा उत्तेजक पदार्थों पर भरोसा करना एक धोखेबाज साथी पर भरोसा करना है।" म० गाँधी हाथकुटे चावल, हाथपिसे आटे और हाथबने गुड आदि तथा कच्चे या सिर्फ उबाले हुए अनाज और सब्जी आदि खाने की सिफारिश करते है। इस विषय पर मैं तुम्हे सलाह दूँगा कि तुम कुछ नई पुस्तके जरूर पढ़ो। मैं इस विषय का विशेषज्ञ भी नहीं हूँ और न यह पत्र इसके लिए ठीक स्थान ही है।

(६) नियमित कसरत करना भी स्वास्थ्य को उत्तम बनाने और जीवन को दीर्घ करने मे सहायता करता है। कसरत करने से शरीर मे हलकापन आजाता है, कार्य-शक्ति बढती है, शरीर भरा हुआ और सुडौल हो जाता है, कफ, मेद आदि रोग दूर होते है, जठराग्नि बढ़ती है, बदहजमी तथा दूसरे रोग नहीं होते। व्यायाम के लिए देशी और विदेशी खेल दोनों हमारे यहाँ इस समय प्रचलित है। विदेशी कसरतें और खेलें काफी खर्चीली होती है, वहाँ देशी खेल और व्यायाम बहुत सस्ते और सुगमता से किये जा सकते है।

(७) संयम या ब्रह्मचर्य स्वास्थ्य-रक्षा के लिए लाजिमी है। वीर्य सातों धातुओं मे सबसे श्रेष्ठ है। भोजन का सार वीर्यरूप मे बनता है। इसके विनाश की हमारे स्मृतिकारों ने मृत्यु से उपमा दी है। "मरणं बिन्दुपातेन जीवन बिन्दुधारणात्" ब्रह्मचर्य नाश से स्वस्थ से स्वस्थ शरीर कुछ समय मे नष्ट हो जाता है। चेहरे पर रूप लावण्य का नाम नहीं रहता, आँखों की ज्योति मलीन हो जाती है, शक्ति नष्ट होते-होते राज-रोग जैसे बड़े रोग हो जाते है। ब्रह्मचर्य की

कृपा से देवों ने मृत्यु को भी अपने वश मे कर लिया था, यह कहावत निराधार ही नहीं है। ब्रह्मचर्य की रक्षा या संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए कामभाव से स्त्रियों का दर्शन, स्पर्श, एकान्तसेवन, भाषण, विषयकथा, परस्पर क्रीडा, विषय का ध्यान और संग इन आठ मैथुनों से अलग रहना हमारे नीति-नियमों मे जरूरी माना गया है। दिन-रात विषयोत्तेजक और शृंगाररस-प्रधान काव्य, नाटक, उपन्यास पढने और सिनेमा व नाटक देखनेवाले, खटाई-मिर्च आदि का खुला प्रयोग करनेवाले आजकल के अधिकाश कालेज के विद्यार्थियों से यह आशा भी नहीं हो सकती कि वे ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन बिता सकेंगे। मनुस्मृति मे तो ब्रह्मचर्य-पालन करने के लिए मद्य, मास, गंध, रस, स्त्री, खटाई, शृगार(जोकि आजकल के फैशनेबल लोगो मे बहुत चल पडा है), विना निमित्त उपस्थेन्द्रिय के स्पर्श आदि के त्याग और एकाकी शयन की सलाह दी गई है। भारत मे भीषण रूप से प्रचलित बालविवाह ने हमारे राष्ट्र के शारीरिक ह्रास मे जितना भारी भाग लिया है, उतना दूसरी किसी बुराई ने नहीं। संयम केवल ब्रह्मचर्य-आश्रम मे ही नहीं, गृहस्थ-आश्रम मे भी जरूरी है। स्वास्थ्य के और भी बीसियों नियम है, लेकिन उन सबकी चर्चा करने का यहाँ स्थान नहीं है।

मानसिक उन्नति

शारीरिक उन्नति से ही मनुष्य पूर्ण नहीं होता। एक आदर्श नागरिक बनने के लिए अपने मन और आत्मा को भी ऊचा बनाना जरूरी है। महान स्मृतिकार मनु ने इस सम्बन्ध मे योगदर्शन मे बताये पांच यमो और पांच नियमों का निर्देश किया है। यम और नियम

ये हैं :—अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। शौच सन्तोष-तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। (योग० साधनपाद ३० और ३२ सूत्र)

इन दो छोटे-से सूत्रों में योगदर्शनकार पातञ्जलि ने गागर में सागर भर दिया है। मनुष्य की व्यक्तिगत और सामाजिक उन्नति करने के लिए अद्भुत कुशलता के साथ सभी जरूरी नियमों का इन दो सूत्रों मे समावेश किया गया है।

व्यक्तिगत उन्नति के लिए योगदर्शनकार ने पाँच नियम बताये है। शौच (बाह्य शुद्धि, जिसका उल्लेख मैं स्वास्थ्य के प्रसंग मे कर आया हूँ), सन्तोष (पुरुषार्थ करते जाना और दूसरों की उन्नति देखकर ईर्ष्या न करना), तप (कष्ट सहकर भी धर्मयुक्त नियमों व कर्तव्यों का आचरण) स्वाध्याय (शिक्षा और विविध विषयों का ज्ञान) और ईश्वर-प्रणिधान (ईश्वर की भक्ति) से मनुष्य की वैयक्तिक उन्नति होती है। इन पाँचों नियमों पर बहुत-कुछ लिखा जा सकता है, लेकिन यह लिखने से पत्र बहुत लम्बा हो जायगा। इनपर जितना विचार करोगे, उतना ही ज्यादा इन गुणों की विशेषता स्पष्ट होती जायगी। मनु ने लिखा है कि केवल नियमों का ही पालन न करे। जो केवल नियमों का पालन करता है और यमों का पालन नही करता, वह भी पतित हो जाता है।[1] यम ऐसे सामाजिक कर्तव्य हैं, जिनका पालन समाज की रक्षा के लिए भी जरूरी है। अधिकारों के प्रकरण मे नागरिक के जिन-जिन अधिकारों का विचार किया गया है, उनकी रक्षा के लिए, समाज की व्यवस्था कायम रखने के लिए, इन यमों

१ यमान्सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुध
यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन ॥ (अ० ४।२०४॥)

का पालन आवश्यक है। प्रत्येक नागरिक को जीवित रहने देने और उसके शरीर की रक्षा के लिए समाज के सदस्यों मे अहिसा का गुण अनिवार्य है। समाज का कारोबार चलाने के लिए एक-दूसरे का विश्वास करना, जिसका आधार केवल सत्य हो सकता है, जरूरी है। नागरिकों की सम्पत्ति तबतक सुरक्षित नहीं हो सकती, जबतक समाज के सदस्यों मे अस्तेय (चोरी न करने) की प्रवृत्ति न हो। स्त्रियों के सतीत्व—शारीरिक और चारित्रिक धर्म की रक्षा के लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक है। आज ससार मे पूँजीवाद ने जो भीषण समस्या पैदा कर रक्खी है—संसार की ज्यादातर सम्पत्ति थोड़े-से पूँजीपतियों ने हथिया रक्खी है, इसका हल अपरिग्रह के व्रत मे है। इस यम का पालन करनेवाला पूँजीपति बन ही नहीं सकता। उसके लिए अपनी आवश्यकता से अधिक लेना पाप है। जैनो के पाँच यम और बौद्धों के पाँच शील भी थोड़े-बहुत अन्तर के साथ यही सामाजिक धर्म है। हमारे पूर्वजों ने संसार के अनुभव तथा गम्भीर चिन्तन के बाद समाज के लिए जो नियम बताये हैं, वस्तुतः उनके पालन से संसार की बहुत-सी समस्यायें हल हो जाती है। मनु ने धर्म के दस लक्षण बताते हुए धृति (धैर्य), क्षमा (दूसरे का अपराध माफ कर देना), दम (आत्मसयम), अस्तेय (चोरी न करना), शौच (सफाई—'सैनिटेशन' और 'हाईजिन'), इन्द्रियनिग्रह (इन्द्रियों को वश मे करना), धी (बुद्धिपूर्वक आचरण), विद्या (शिक्षा-प्राप्ति), सत्य (मन, वचन और कर्म से सत्याचरण) और अक्रोध (क्रोध मे अन्धा न होना) पर जोर दिया है। ये दसों धर्म है—समाज का धारण करते है (धर्मो धारणात), समाज की व्यवस्था कायम रखते है।

मैंने इस विषय पर प्राचीन स्मृतिकारों के उद्धरण दिये है, इसलिए

इन्हे योंही उपेक्षा से मत देख जाना या आजकल के गलियों मे फिरनेवाले कथावाचकों की चर्चा मत समझ लेना। असल मे ये सामाजिक नियम है। यूरोपीय विद्वानों की विचार-प्रणाली भले ही हमसे भिन्न हो, लेकिन वे भी इससे भिन्न और ऊँचे निष्कर्ष पर नहीं पहुंच सके। यद्यपि जोसेफ मैजिनी ने मनुष्य के कर्तव्यों का प्रारम्भ ईश्वर के प्रति कर्तव्यों से किया है, और हमारे स्मृतिकारों ने भी मोक्ष को आदर्श माना है, तो भी मैंने उसपर खास जोर नहीं दिया, क्योंकि मैं जापानी कवि ओमी ओकुरा की इस कविता को बहुत पसन्द करता हूँ—

'स्वर्ग को प्रकाशित करने के ढग बहुत दूर है,
अब तू अपने पास की वस्तुओ पर ध्यान दे।
हे मित्र तू अपने पार्थिव गृह की ओर ध्यान दे,
और अपने कर्तव्य को यहां पूर्ण करने का उद्योग कर॥

मनुष्य की व्यक्तिगत आर्थिक उन्नति की चर्चा किसी और पत्र में करूँगा।

: १५ :

मैं और मेरा परिवार

१०-७-३८

हमारे पुराने स्मृतिकारों ने समाज के चार भाग किये हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। यजुर्वेद के एक मत्र मे ब्राह्मण को समाज के मुख से, क्षत्रिय को बाहु से, वैश्य को धड से और शूद्र को पैर से उपमा दी गई है। जिस तरह शरीर के ये चारों अग भिन्न-भिन्न काम करते हुए भी उसके लिए एकसे जरूरी है, उसी तरह समाजरूपी शरीर के लिए भी विभिन्न काम करनेवाले ये चारों विभाग लाजमी है। मनुस्मृत्ति मे ब्राह्मण के कर्तव्य अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ करना-कराना, दान देना और लेना बताये गये है,[१] परन्तु एक दूसरे श्लोक मे "प्रतिग्रहः प्रत्यवरः" कहकर दान लेने को क्षुद्रता भी कहा गया है। भगवद्गीता मे शम (मन का बुरे विचारों की ओर से शमन), दम (इन्द्रियों पर नियन्त्रण), तप (कष्टमय सहिष्णु जीवन), शौच (सफाई), क्षान्ति (निन्दा, स्तुति, सुख-दुःख आदि का खयाल करना), आर्जव (कोमल व सरल स्वभाव), ज्ञान-विज्ञान (आध्यात्मिक और आधिभौतिक विद्याओं का अध्ययन) और आस्तिक्य (ईश्वरनिष्ठा) ब्राह्मण के गुण बताये गये है।[२] ब्राह्मण

[१] अध्यापनमध्ययन यजन याजन तथा।
दान प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयन् (मनु० १-८८)

[२] शमो दमस्तप शौच क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञान विज्ञानमास्तिक्य ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ (गीता अ० १८-४२)

समाज का मस्तिष्क और मुख (Mouthpiece) है। वह समाज को अपने साहित्य, अपने उपदेश और अपने आचरण द्वारा प्रेरणा कर सकता है। इस नेतृत्व के लिए उसमें इन गुणों का विकास जरूरी है।

क्षत्रिय के कर्तव्य मनु ने प्रजा की रक्षा, सुपात्रों को दान, यज्ञ, अध्ययन और विषयों से अप्रसंग (सयत जीवन) बताये हैं।[1] गीता ने क्षत्रिय के लिए जिन गुणो का होना जरूरी बताया है, वे ये हैं—बहादुरी, तेज, धैर्य, व्यवहार-कुशलता, युद्ध से न भागना, दान देना और राजशासन करने की शक्ति।[2] देश का शासन और रक्षण करनेवाले वर्ग मे, चाहे आप उसे किसी नाम से बुलाइए, इन गुणों का विकास आवश्यक है। इन गुणो के बिना वह देश का ठीक तरह से शासन और रक्षण नहीं कर सकता।

स्मृतिकार मनु की सम्मति मे पशुओं का पालन, दान, यज्ञ, अध्ययन व्यापार, महाजनी तथा खेती वैश्य के कर्तव्य है।[3] इसीको गीता मे "कृपिगोरक्ष्यवाणिज्य वैश्यकर्मस्वभावजम्" कहकर दोहराया गया है। शूद्र का कर्तव्य मनु और भगवान् कृष्ण ने इन तीनों वर्णों की सेवा बताया है।

वर्णव्यवस्था प्राचीनकाल मे गुण, कर्म और स्वभाव से मानी

१ प्रजाना रक्षण दानमिज्याध्ययनमेव च।
विपयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासत ॥ (मनु० १।८९।)

२ शौर्य तेजो धृतिर्दाक्ष्य युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्र कर्म स्वभावजम् ॥ (गीता १८–४३)

३ पशूना रक्षण दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथ कुसीद च वैश्यस्य कृपिरेव च ॥

जाती थी, न कि जन्म से, जैसा कि गीता मे योगिराज कृष्ण कहते है "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मस्वभावशः" । जबसे हिन्दू-समाज ने इसे जन्म से बांध दिया, तबसे इन गुणों और कर्तव्यों की ओर किसीका ध्यान न रहा, क्योंकि जब अपना जीवन बनाने का प्रयत्न किये बिना ही ब्राह्मणत्व मिल जाय, तब कोई क्यों पढने-पढाने,तप करने का कष्ट करे ? ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के विभाग प्रत्येक काल और प्रत्येक समाज मे रहते है, भले ही उन्हे कोई नाम दिया जाय। जबतक यह व्यवस्था सगठित और शुद्ध रहती है, सब वर्णो को अपने-अपने कर्त्तव्यों और गुणों का ध्यान रहता है, समाज का काम ठीक तौर से चलता रहता है। लेकिन जहाँ यह व्यवस्था बिगड जाती है, वर्ण, जोकि समाज के नागरिक है, अपना-अपना काम छोड देते है, अपनी-अपनी जिम्मेदारियाँ नहीं समझते, वहाँ सारे समाज की व्यवस्था बिगड जाती है।

लेकिन तुम भी कहोगे कि आजकल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य आदि के शब्द तो भूतकाल की वस्तु हो गये है। आज के समाज मे यह श्रेणी-विभाजन नहीं है। बीसवीं सदी मे इन वर्णो की चर्चा शोभा नहीं देती और फिर तुम जैसे वर्तमान सदी के विचारो से भली-भाति परिचित पुराणपन्थिता की बातें करें, यह तो और भी आश्चर्य की बात है। ठीक है, मैं तुम्हारे मनोभावों को समझ सकता हूँ। वर्ण-व्यवस्था को जन्म से बाँधने के कारण वह बदनाम हो गई है और आजकल के शिक्षितो मे उसके प्रति घृणा या उदासीनता पैदा होना स्वाभाविक है। लेकिन थोडा-सा विचार करने से आजकल प्रचलित सब पेशो को इन चारों वर्णों मे बांटा जा सकता है। विभिन्न पेशों व कर्तव्यो के सम्बन्ध मे निम्नलिखित दो-चार बातें यदि हम ध्यान

मे रखलें, तो हमे अधिक विस्तार मे जाने की आवश्यकता न पड़ेगी।

समाज का प्रत्येक सदस्य जो भी काम करता है, उसका प्रभाव प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में समाज पर जरूर पड़ता है। इसलिए हरेक व्यक्ति के कर्तव्य की एक कसौटी यह है कि वह कोई ऐसा काम न करे, जिससे दूसरे की हानि हो। इसमें कई मौकों पर अपवाद अवश्य आ जाते है—जैसे चोर को अदालत दण्ड देती है, व्यभिचारी का समाज बहिष्कार करता है और हत्या करनेवाले को फांसी मिलती है, लेकिन ऐसे कार्य उससे बड़े समाज के हित के लिए जरूरी है। अपनी मानसिक और आत्मिक उन्नति के सिवा भौतिक उन्नति के लिए भी लगन, अध्यवसाय, ईमानदारी, दृढ संकल्प आदि गुणों की जरूरत है। कोई पेशा हो, चाहे वह खेती हो या मजदूरी, इंजिनीयरी हो या अध्यापन, शासन-प्रबन्ध हो या सफाई, सभी कामों मे उन्नति की पूरी गुंजाइश है। कोई काम छोटा नहीं है। सभी काम जो समाज के लिए आवश्यक है, एकसमान है। किसी कार्य मे छुटपन अनुभव न करना, उसमे सुधार और उन्नति की पूरी कोशिश करना, प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। संसार के बड़े-बड़े आविष्कार ऐसे ही ईमानदार महापुरुषों की सूझ, लगन और अध्यवसाय के परिणाम है। इजिन के आविष्कार का विचार एक कारखाने के एक मजदूर को ही सबसे पहले सूझा था।

प्राचीन व्यवस्था के अनुसार आश्रम-व्यवस्था व्यक्तिगत धर्म का पालन है और वर्णव्यवस्था सामाजिक उन्नति के लिए आवश्यक व्यक्तिगत कर्त्तव्यों के पालन के लिए है।

मैं यह पत्र लिखने तो बैठा था पारिवारिक कर्तव्य के सम्बन्ध में, लेकिन पिछले पत्र की व्यक्तिगत कर्त्तव्य-संबंधी चर्चा पर ही इतना लिख

डाला। जैसे मेरे अपने प्रति कर्तव्य है, उसी तरह से अपने परिवार के प्रति भी मेरे कर्तव्य है। ब्रह्मचारी के सामने अपनी व्यक्तिगत उन्नति ही आदर्श होता है, लेकिन गृहस्थाश्रम मे प्रवेश कर वह अपने व्यक्तित्व का दायरा कुछ विस्तृत कर लेता है। अपने शरीर और आत्मा की उन्नति से संतुष्ट न होकर अपनी पत्नी, अपने बाल-बच्चे और भाई-बहिन आदि परिवार के सब सदस्यो मे आत्मबुद्धि अनुभव करने लगता है। यह उसका विकास है। समाज मे परिवार का एक विशेष स्थान है। परिवार समाज या संगठन की सबसे छोटी इकाई है। परिवार सामाजिक या नागरिक शिक्षा का पहला स्कूल है। यह सबसे छोटा समूह है, जहाँ मनुष्य अपनेसे भिन्न कुछ व्यक्तियों के लिए त्याग करता है, अपने सुख की अपेक्षा वह अपने बाल-बच्चों, अपनी पत्नी आदि के सुख को अहमियत देता है। स्त्री और पुरुष परस्पर कामवासना और व्यक्तिगत प्रेम के कारण एक-दूसरे के प्रति खिचते है और उनके प्रेम की जमानत उनकी सन्तान है।

कुछ विचारकों के खयाल से परिवार मनुष्य के और अधिक सामाजिक विकास मे रुकावट डालता है। मनुष्य अपने और अपने परिवार की सेवा मे मस्त होकर समाज को भूल जाता है, इसलिए परिवार की प्रथा को नष्ट कर देना चाहिए। लेकिन यह एक भ्रम है। यों तो हरेक वस्तु का भी दुरुपयोग किया जासकता है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि वह वस्तु ही निरुपयोगी और नुक्सानदेह है। परिवार केवल विषयभोग का साधन नहीं, वह तो आत्मिक विकास की एक सीढी है। मनुष्य समाज की रचना है, इस आश्रम के द्वारा वह समाज के इस ऋण को चुकाने की कोशिश करता है।

परिवार मे पति-पत्नी, बाल-बच्चे तथा छोटे भाई-बहन होने

है। पति का कर्तव्य है कि वह पत्नी को भोग-विलास की सामग्री न समझकर उसे अपनी जीवन-यात्रा की सहचरी समझे। हिन्दू-शास्त्रों में उसे अर्धाङ्गिनी कहा गया है। किसी भी अच्छे काम में, जिसे हमारे पूर्वज 'यज्ञ' का नाम देते थे, स्त्री की उपस्थिति जरूरी थी, क्योंकि दोनों मिलकर समाज के प्रति अपने कर्तव्य को पूरा करते हैं। राम को यज्ञ के लिए सीता के अभाव में उसकी प्रतिमा जरूर रखनी पड़ी। पति स्त्री के सुख और इच्छाओं का आदर करे और पत्नी उसे सुख पहुचाने की कोशिश करे। दोनों एक-दूसरे के सुख-दुख में साथी हों। आपस में अधिकार की भावना के बजाय कर्तव्य की भावना प्रधान हो। मनुस्मृति ने आदर्श घर का वर्णन करते हुए लिखा है—सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च। यस्मिन्नेव कुले नित्य कल्याण तत्र वै ध्रुवम् ॥ दोनों एक-दूसरे के प्रति आत्मसमर्पण का भाव रक्खें। समाज और जीवन में किस का महत्त्व अधिक है यह कहना कठिन है, परन्तु यह निश्चित है कि जीवन में दोनों जरूरी है, दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। "स्त्री में पत्नी और माता होने के कारण स्नेह, वात्सल्य और कौटुम्बिकता की अधिकता है, तो पुरुष में पति और पोषक पिता होने के कारण तेज, पुरुषार्थ और व्यवसाय की प्रधानता है। दोनों मिलकर पूर्ण बनते हैं। स्त्री उत्साह और जीवन देती है, पुरुष रक्षा करता, आगे बढ़ता, कठिनाइयों को मिटाता, संकटों को चीरता और सफलता पाता है। स्त्री समाज की सेविका है और पुरुष समाज का सिपाही।"

बालक किसी देश के भावी नागरिक हैं। इस दृष्टि से यदि हम उनके शारीरिक, मानसिक विकास की ओर ध्यान दें, हम उन्हे निरे बालक ही न समझें, उनके मनोभावों का भी आदर करें, खेल-कूद

आदि की पूरी सुविधायें उन्हे पहुँचायें, तो बालकों की उन्नति मुमकिन है। बालक अनुकरणशील होता है। इसलिए माता-पिता आदि को खुद भी ऐसे काम न करने चाहिएं, जिनसे उनके दिल पर बुरा असर पडे। उत्तम, स्वस्थ, सदाचारी और सुयोग्य सन्तान सबसे बडी और उत्तम विरासत है, जो कोई नागरिक अपने राज्य और समाज के लिए छोड सकता है। बच्चे के लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा और चाल-चलन की ओर सदा सावधान रहना चाहिए। बालक प्रकृति का दिया हुआ खिलौना, घर का दीपक और समाज की आशा होता है। वह एक ऐसा विशुद्ध दर्पण होता है, जिसपर किसी भी मैल का असर एकदम पड जाता है। इसलिए उसे शहर के गन्दे दूषित वातावरण से, जहाँ गालियों और सिनेमा के अश्लील गानों के सिवा कोई अच्छी चीज नहीं सुनाई देती, बचाने की कोशिश करनी चाहिए।

"खून पानी से गाढा होता है।" इसलिए रक्त-सम्बन्ध के सबंधी माता, पिता, भाई, बहन, चाचा, मामा आदि के प्रति भी मनुष्य के कुछ फर्ज है। माता-पिता का ऋण तो कभी चुकाया नहीं जा सकता। इनके प्रति नम्रता और अहसानमन्दी का व्यवहार करना चाहिए। मनु ने अभिवादनशील और वयोवृद्धों की सेवा करनेवाले को विद्या, यश, आयु और बल की प्राप्ति का फल लिखा है (२-१२१)। माता वात्सल्य की प्रतिमा है, उससे यह गुण सीखकर समाज के प्रति अपने अमल में लाना चाहिए। वृद्ध-जनों की विचार-दिशा सदा युवकों से भिन्न होती है, इसलिए उन्हे दोष कभी नहीं देना चाहिए। उम्र के साथ यह स्वाभाविक है। आज के युवक भी जब वृद्ध होंगे, उन्हे भी यह अनुभव होगा। भाई-बहन एक ही माता की सन्तान है। उनके

है। पति का कर्तव्य है कि वह पत्नी को भोग-विलास की सामग्री न समझकर उसे अपनी जीवन-यात्रा की सहचरी समझे। हिन्दू-शास्त्रों मे उसे अर्धाङ्गिनी कहा गया है। किसी भी अच्छे काम मे, जिसे हमारे पूर्वज 'यज्ञ' का नाम देते थे, स्त्री की उपस्थिति जरूरी थी, क्योंकि दोनों मिलकर समाज के प्रति अपने कर्तव्य को पूरा करते है। राम को यज्ञ के लिए सीता के अभाव मे उसकी प्रतिमा जरूर रखनी पडी। पति स्त्री के सुख और इच्छाओं का आदर करे और पत्नी उसे सुख पहुचाने की कोशिश करे। दोनों एक-दूसरे के सुख-दुख मे साथी हों। आपस मे अधिकार की भावना के बजाय कर्तव्य की भावना प्रधान हो। मनुस्मृति ने आदर्श घर का वर्णन करते हुए लिखा है—सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च। यस्मिन्नेव कुले नित्य कल्याण तत्र वै ध्रुवम्॥ दोनों एक-दूसरे के प्रति आत्मसमर्पण का भाव रक्खें। समाज और जीवन मे किस का महत्त्व अधिक है यह कहना कठिन है, परन्तु यह निश्चित है कि जीवन मे दोनों जरूरी है, दोनों एक-दूसरे के पूरक है। "स्त्री मे पत्नी और माता होने के कारण स्नेह, वात्सल्य और कौटुम्बिकता की अधिकता है, तो पुरुष मे पति और पोषक पिता होने के कारण तेज, पुरुषार्थ और व्यवसाय की प्रधानता है। दोनों मिलकर पूर्ण बनते है। स्त्री उत्साह और जीवन देती है, पुरुष रक्षा करता, आगे बढता, कठिनाइयों को मिटाता, संकटों को चीरता और सफलता पाता है। स्त्री समाज की सेविका है और पुरुष समाज का सिपाही।"

बालक किसी देश के भावी नागरिक है। इस दृष्टि से यदि हम उनके शारीरिक, मानसिक विकास की ओर ध्यान दें, हम उन्हे निरे बालक ही न समझें, उनके मनोभावों का भी आदर करें, खेल-कूद

आदि की पूरी सुविधायें उन्हें पहुचायें, तो बालकों की उन्नति मुमकिन है। बालक अनुकरणशील होता है। इसलिए माता-पिता आदि को खुद भी ऐसे काम न करने चाहिए, जिनसे उनके दिल पर बुरा असर पडे। उत्तम, स्वस्थ सदाचारी और सुयोग्य सन्तान सबसे बडी और उत्तम विरासत है, जो कोई नागरिक अपने राज्य और समाज के लिए छोड सकता है। बच्चे के लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा और चाल-चलन की ओर सदा सावधान रहना चाहिए। बालक प्रकृति का दिया हुआ खिलौना घर का दीपक और समाज की आशा होता है। वह एक ऐसा विशुद्ध दर्पण होता है, जिसपर किसी भी मैल का असर एकदम पड जाता है। इसलिए उसे शहर के गन्दे दूषित वातावरण से, जहा गालियां और सिनेमा के अश्लील गानो के सिवा कोई अच्छी चीज नहीं सुनाई देती, बचाने की कोशिश करनी चाहिए।

"खून पानी से गाढा होता है।' इसलिए रक्त-सम्बन्ध के सबधी माता, पिता, भाई, बहन, चाचा, मामा आदि के प्रति भी मनुष्य के कुछ फर्ज है। माता-पिता का ऋृण तो कभी चुकाया नहीं जा सकता। उनके प्रति नम्रता और अहसानमन्दी का व्यवहार करना चाहिए। मनु ने अभिवादनशील और वयोवृद्धो की सेवा करनेवाले को विद्या, यश, आयु और बल की प्राप्ति का फल लिखा है (२-१२१)। माता वात्सल्य की प्रतिमा है, उससे यह गुण सीखकर समाज के प्रति अपने अमल मे लाना चाहिए। वृद्ध-जनों की विचार-दिशा सदा युवकों से भिन्न होती है, इसलिए उन्हे दोष कभी नहीं देना चाहिए। उम्र के साथ यह स्वाभाविक है। आज के युवक भी जब वृद्ध होंगे, उन्हे भी यह अनुभव होगा। भाई-बहन एक ही माता की सन्तान है। उनके

लिए भी अपना स्नेह उसी तरह रखना चाहिए। अन्य सम्बंधियों का सुख और हित भी हरेक को देखना चाहिए।

मैं ऊपर लिख चुका हूं कि परिवार बन्धन न होकर एक ऐसा स्कूल होना चाहिए, जहां हम सहिष्णुता, प्रेम, सेवा, त्याग, दान और उद्यमशीलता के गुण सीखकर समाज की सेवा के लिए तैयार हो सकें। इतिहास मे ऐसे सैकडों उदाहरण मिलेंगे, जब लोगों ने देश के हित के लिए पारिवारिक सुख का बलिदान कर दिया है। हजारों परिवार—पति-पत्नी और बच्चे १९३०-३१ के भारत के सत्याग्रह-संग्राम मे पारिवारिक सुख को लात मारकर एकसाथ कूद पड़े। यह सिद्ध करता है कि परिवार केवल बंधन नहीं है।

शहर या गाँव का इन्तज़ाम

१२-७-३८

पिछले दो पत्रों में मैंने मनुष्य के अपने और अपने परिवार के प्रति कर्तव्यों पर कुछ विचार प्रकट किये थे। परिवार के साथ मेरा या किसी भी मनुष्य का प्राणि-विज्ञान-सम्बन्धी रक्त का सम्बन्ध है, परन्तु इससे अगली संस्था, जिससे मेरा नागरिक सम्बन्ध है, बिलकुल ही जुदी तरह की है। वह अपने रूप और कार्यक्षेत्र में देशीय तथा राजनैतिक है। यह संस्था मेरा गाँव या नगर है और यही राजनैतिक संगठन की पहली संस्था है। यहाँ मनुष्य पारिवारिक रूप में— माता, पिता, भाई या बहन के रूप में सदस्य न होकर नागरिक के रूप में उसका सदस्य है। नागरिकता का यह बन्धन ही मनुष्य को सभ्यता के पद पर बिठाता है। 'सिविक्स' (नागरिकशास्त्र) और सिविलाइजेशन (सभ्यता) एक ही शब्द से बने हैं, इसीलिए कुछ विद्वान् सिविक्स को सभ्यता का विज्ञान भी कहते हैं। मनुष्य के कार्य का दायरा ग्राम या नगर है। मनुष्य पृथ्वी के इस छोटे-से भाग से, जहाँ वह पैदा हुआ है या जहाँ वह बरसों रहकर उसे अपना घर मानने लगा है, प्रेम करने लगता है। इस गाँव या 'राजनैतिक घर' को बनानेवाले सभी सड़कों, खेतों, चरागाहों, पहाड़ियों और नदियों से भी उसे खुद ही प्रेम होजाता है। इस गाँव या नगर के प्रबन्ध में भी उसकी दिलचस्पी होना स्वाभाविक है, क्योंकि उसके सारे जीवन और जीवन से ताल्लुक रखनेवाली छोटी-छोटी बातों पर ग्राम के इन्तज़ाम

का असर पड़ता है। मैंने पिछले पत्रों में नागरिक के शासनाधिकार का विचार किया है। मनुष्य जिस समाज का अंग है, उसके इन्तजाम में भी उसका भाग जरूर होना चाहिए, नहीं तो मुमकिन है कि वह समाज उसके अधिकारों और हितों की उपेक्षा करने लगे। गाँव या शहर वह सबसे छोटी इकाई है, जो नागरिक के जीवन पर सबसे ज्यादा गहरा असर डालती है। गाँव या शहर का शासन भी सब लोग मिलकर नहीं कर सकते, इसलिए वहाँके निवासियों के प्रतिनिधियों की एक कमेटी पर यह काम सौंप दिया जाता है। इसे आजकल 'म्युनिसिपल कमेटी' कहते हैं। पहले हिन्दुस्तान में इसे ही 'पंचायत' कहते थे। आज भी बहुत-से गाँवों में पचायतें गाँव का प्रबन्ध करती हैं। सिविक्स या नागरिकशास्त्र का यह सिद्धान्त है कि ग्रामपंचायतों या म्यूनिसिपल कमेटियों के शासन-प्रबन्ध में ऊपरी सरकार की कम-से-कम दस्तन्दाजी हो। इस हस्ताक्षेप का मतलब है जनता के अधिकारों पर हमला। पचायतों या म्युनिसिपल कमेटियों को यथासम्भव ज्यादा अधिकार देने का नतीजा यह होता है कि पंचायतें या म्युनिसिपल कमेटियों के, जिन्हें 'स्थानीय शासन-संस्था' कहा जाता है, सदस्य अपने 'राजनैतिक घर' के प्रबन्ध में खूब दिलचस्पी ले सकते हैं। भारतीय पंचायतों के इसी गुण का भारतीय जनता पर कितना गहरा असर पड़ा, यह सर जार्ज बर्डवुड के नीचे लिखे उद्धरण से मालूम होगा :—

"भारत में जितनी धार्मिक और राजनैतिक क्रान्तियाँ हुई हैं, उतनी संसार के दूसरे किसी देश में नहीं हुई। परन्तु यह होते हुए भी ग्राम-संस्थाओं की अवस्था में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, वे उसी उत्साह और शक्ति के साथ काम करती रहीं। सीरियन, ग्रीक, सग-

सीन, अफगान, मुगल और मराठे पहाड़ों से आये तथा पोर्चुगीज, अंग्रेज, फ्रेंच और डेन समुद्र की तरफ से आये और यहाँ अपना अधिकार जमा लिया। परन्तु उनके आने और चले जाने से यहाँ की धार्मिक और व्यापारिक ग्रामसंस्थाओं पर उतना ही प्रभाव पड़ा, जितना कि एक चट्टान पर लहरों के आने और चले जाने का पड़ता है।"

सर चार्ल्स मेटकाफ के शब्दों में "यही ग्राम-संस्थायें, जिनमें से प्रत्येक एक पृथक राज्य की तरह है, भारतीय जनता की रक्षा में सबसे अधिक कारण हैं। इन्हीं के जरिये सब परिवर्तनों और क्रान्तियों में जनता की हिफाजत होती रही। उनको जो कुछ प्रसन्नता स्वतन्त्रता आदि प्राप्त है, उनमें सबके लिए यही सबसे अधिक सहायक है।"

अलग-अलग भौगोलिक परिस्थिति, भिन्न-भिन्न संस्कृति, रहन-सहन, भाषा और जुदे-जुदे व्यवसाय-धन्धे आदि के कारण प्रान्त, जिला या ग्राम की जरूरतें और समस्यायें भी अलग-अलग होती हैं। इनमें सारे देश के प्रतिनिधियों को कोई दिलचस्पी नहीं हो सकती। इनका देश-द्वारा नियंत्रण तो स्थानीय जनता पर अत्याचार ही है। केवल स्थानीय लोग ही अपने मामलों में दिलचस्पी लेते हैं, इसीलिए स्थानिक शासनसमिति या पंचायत की स्वतन्त्र सत्ता आवश्यक है, जो स्थानीय समस्याओं को हल करे। स्थानीय मामलों में इन्हें काफी अधिकार देना भी इसीलिए जरूरी है कि ये जरूरत के मुताबिक अपना इन्तजाम खुद करलें। फिर स्थानीय आवश्यकताओं के लिए दूर के लोग क्यों टैक्स दें? हरेक अपने आराम के लिए तो टैक्स आसानी से दे देता है, लेकिन सहारनपुर जिले का रहनेवाला

बनारसी नागरिक की प्याऊ या डिस्पसरी के लिए क्यों टैक्स मे लादा जाना पसन्द करेगा ?

हरेक नागरिक को यह महसूस करना चाहिए कि वह अपने गांव या शहर की प्रबन्ध-कमेटी का एक लाजमी अग है। उसे अपने गाँव या शहर की हरेक बात मे पूरी दिलचस्पी लेनी चाहिए। जबतक आम जनता इन बातों मे दिलचस्पी लेती है, तबतक स्थानीय प्रबन्ध भी ठीक चलता है। जहाँ आम लोगों ने दिलचस्पी लेनी बन्द की, वहाँ कुछ थोड़े-से लोग, जिनके हाथ मे इन्तजाम का काम होता है, अपने-अपने स्वार्थ के साधन मे लग जाते हैं। शहर की हरेक घटना या नियम मे हरेक नागरिक की सम्मति लेना नामुमकिन होता है, इसलिए लोगों के नुमाइन्दों की कमेटी को ये काम सुपुर्द कर दिये जाते हैं। लेकिन इससे आम नागरिकों का कर्तव्य खत्म नहीं होजाता। उनका सबसे पहला फर्ज यह है कि वे अपने प्रतिनिधियों के चुनाव मे पूरी दिलचस्पी लें। आजकल चुनाव के तरीकों मे कुछ ऐसी खराबियाँ आगई हैं, जिनसे चुनाव ही फिजूल-सा होजाता है। चुनाव के समय नागरिकों को नीचे लिखी बातों का खूब ध्यान रखना चाहिए :—

१—उम्मीदवार योग्य और व्यवहार-कुशल हो, शहर की सब सम्बद्ध समस्याओं से परिचित हो।

२—उम्मीदवार मे खुदगरजी की बनिस्बत दूसरे का भला करने या जन-सेवा का भाव ज्यादा हो।

३—उम्मीदवार मे जातिगत भावना न हो। जो उम्मीदवार एक या दूसरी जाति के साम्प्रदायिक भावों को भडकाकर वोट पाना चाहता है, वह अपने शहर का बहुत बडा दुश्मन है। जो व्यक्ति पैसा या

दूसरे लालच देकर वोट लेने की कोशिश करता है वह पापी है जरूर वह कमेटी में स्वार्थसिद्धि के लिए जाना चाहता है। वह न केवल अपना स्वार्थ-साधन करता है बल्कि वह नागरिकों के चारित्रिक पतन का भी जिम्मेदार है। बहुत-से नागरिक दो-चार या दस रुपये लेकर किसी अयोग्य उम्मीदवार को वोट दे देते हैं। ऐसे लोग दर-असल देशद्रोह या देश के साथ विश्वासघात जैसा पाप करते हैं। उन्होंने दो-चार या दस रुपये में अपने गांव या शहर का हित बेच दिया। अगर वे किसी योग्य ईमानदार उम्मीदवार को वोट देते, तो वह स्वार्थ के बजाय शहर या गांव के हित को तरजीह देता। एकबार निकम्मे, खुदगर्ज और अयोग्य व्यक्तियों को पंचायत में भेजकर नया चुनाव आने तक—तीन-चार साल तक—नागरिकों को पछताना पड़ता है। न शहर की सफाई होती है, न रोशनी का ठीक इन्तजाम होता है और न बच्चों की पढ़ाई ही ठीक होती है। वोट का हक एक ऐसी पवित्र धरोहर है, जिसे समाज ने सदियों की लड़ाई के बाद हासिल किया है और प्रत्येक नागरिक को इसलिए सौंपा है कि वह उसका समाज के फायदे के लिए उपयोग करे। उसका दुरुपयोग पाप है। सब उन्नत सभ्य देशों में बालिग मात्र को वोट देने का अधिकार होता है। किसी किसी देश में एक खास उम्र के बाद वोट देने का अधिकार मिलता है। रूस, टर्की और अर्जेण्टाइन में १८, जर्मनी और स्विट्जरलण्ड में २०, अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन और भारत में २१, नार्वे में २३, डेनमार्क और जापान में २५ साल की उम्र में वोट देने का अधिकार है। बहुत से देशों में अबतक भी बालिग मात्र को मताधिकार न देकर शिक्षा और सम्पत्ति की योग्यता पर अधिकार दिया जाता है। बद-किस्मती से अभीतक हिन्दुस्तान भी इसी श्रेणी में है। इस सम्बन्ध

में कुछ विवेचन मैं अपने पिछले एक पत्र मे कर चुका हूँ। बहुत-से नागरिक चुनाव के समय अपना मत ही नही देते, वे उदासीन हो जाते है। लेकिन यह उदासीनता भी एक पाप है, क्योंकि इसका अर्थ है समाज के उस अधिकार या कर्तव्य का प्रयोग न करना, जो हरेक नागरिक को सौंपा गया है। आम लोगों के दिलचस्पी न लेने का नतीजा यह होगा कि स्वार्थी लोग पंचायत या कमेटी मे घुस आयेंगे। कई देशों मे इसीलिए मत देना लाजमी बना दिया गया है और मत न देनेवाले को सजा दी जाती है। आस्ट्रेलिया मे वोट न देने पर जुर्माना देना पड़ता है। चेकोस्लोवाकिया, कनाडा और आरजेण्टाइन मे भी मत देना अनिवार्य किया गया है।

स्थानीय स्वराज्य, जिसे अंग्रेजी मे 'लोकल सेल्फ गवर्नमेण्ट' कहते है, गाँवों और शहरों की आबादी के अनुसार जुदे-जुदे भागों मे बटा हुआ होता है। हिन्दुस्तान मे इसे दो भागों मे बाँटा गया है, देहाती और शहरी। देहाती शासन को भी पंजाब मे तीन भागों मे बाँटा गया है। गाँवों मे पंचायत, तहसील या सब-डिवीजन मे लोकल बोर्ड, जिले मे जिला-बोर्ड पर स्थानीय शासन की जिम्मेदारी सौंपी जाती है। ये तीनों संस्थायें देहात मे ही काम करती है। शहरी शासन भी छोटे-बड़े शहर के खयाल से तीन हिस्सों मे बँटा होता है—छोटे कस्बों मे नोटिफाइड एरिया, बड़े कस्बों या शहरों मे म्युनिसिपल कमेटी और बहुत बड़े शहरों मे कारपोरेशन।

इन सब संस्थाओं मे ज्यादातर सदस्य जनता द्वारा चुने जाते है और कुछ सरकार द्वारा नामजद होते है। प्रजातन्त्र के असूल के अनुसार सरकार का यह हस्तक्षेप भी अनुचित है। कई प्रान्तों की नई कांग्रेसी सरकारें नामज़द करने की प्रथा को हटा भी रही हैं

और शायद कुछ सालों में सारे देश में स्थानीय स्वराज्य सम्बन्धी मामलों में सरकार का हस्तक्षेप और भी कम होजायगा। प्रायः सब संस्थाओं को अपना गैरसरकारी अध्यक्ष चुनने का अधिकार होता है, यद्यपि अभीतक भी यह अधिकार पूरी तौर से इस्तेमाल में नहीं लाया जाता। पचायतो का जितना प्रचार होना चाहिए अभी उतना नहीं हुआ है, और फिर पचायतो को अधिकार भी बहुत कम हासिल है। इसका अर्थ यह है कि भारत के ९० फीसदी लोगों को अभीतक भी स्थानीय स्वराज्य प्राप्त नहीं हुआ। कांग्रेसी सरकारें इस दिशा में कदम बढ़ा रही हैं यह तुमसे छिपा नही है। इन पचायतो के जिम्मे जहां काम बहुत-से होंगे, वहां इनके अधिकार भी बहुत-से होंगे। गाव की सफाई, शिक्षा, रोशनी और छोटे-छोटे मुकदमे सुनना पचायतो का काम है और इसके लिए उन्हे थोड़ा-बहुत टैक्स वसूल करने का अधिकार भी होना है।

तहसील के छोटे-छोटे गांवो में, जहां पचायते नहीं होतीं, सफाई, रोशनी आदि का काम लोकल बोर्डों के सुपुर्द किया जाता है, लेकिन वस्तुतः जिला-बोर्ड व पचायत के बीच की एक शृखला मात्र होने की वजह से ये बोर्ड महत्त्व प्राप्त नहीं कर सके। जिला बोर्ड, जो जिले के सब गावों का प्रबन्ध करता है, काफी महत्त्वपूर्ण सस्था है। इसमे सारे जिले के प्रतिनिधि होते है। आजकल के प्रतिनिधियो को दर-असल जिले का सच्चा प्रतिनिधि नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ये मतदाताओं के अज्ञान से लाभ उठाकर या उनपर अनुचित दबाव डालकर चुने गये होते है। जिला-बोर्ड के पास नीचे लिखे काम होते है —

सड़कों और छोटे-छोटे रास्तों का बनाना व मरम्मत—स्कूल

और शफाखाने—सड़कों पर दरख्त लगाना—खेती के लिए बांध, पुल, नहरें, कुए और तालाब बनवाना—विवाह, जन्म और मृत्यु का रजिस्टर रखना—दस्तकारी तथा खेती को प्रोत्साहन—अकाल के समय लोगों को सहायता—प्लेग, हैजा, चेचक आदि रोगों के निवारण का इन्तजाम—यात्रियों के लिए सरायें बनवाना—पशुओं की नस्ल मे सुधार वगैरह। इन कामों को करने के लिए जला-बोर्ड स्थानीय कर, विद्यार्थियों की फीस, दरख्तों की आमदनी, पुलों आदि के ठेके, हैसियत टैक्स आदि से पैसा वसूल करता है।

जुदे-जुदे प्रातों मे ये देहाती स्वराज्य संस्थायें जुदा-जुदा प्रकार से बँटी हुई है। कहीं तीन प्रकार के बोर्ड है—ग्राम, तहसील और जिला, तो बम्बई मे सिर्फ जिला बोर्ड व ताल्लुका बोर्ड ही है। किसी-किसी प्रान्त मे जिला बोर्ड को ही जिला कौंसिल भी कहते है।

नोटिफाइड एरिया कमेटी छोटे शहरों के प्रबन्ध के लिए सफाई, स्वास्थ्य और शिक्षा का काम करती है। बाजारों, गली-कूचों, नालियों और कुओं का बनाना, मरम्मत करना और श्मशान व कब्रिस्तान आदि की व्यवस्था भी इसीके जिम्मे होती है।

म्युनिसिपल कमेटी के कर्तव्य इस प्रकार के होते हैं:—

शहर की सफाई—पानी के लिए वाटरवर्क्स—रोशनी—हस्पताल खोलना—महामारियों का रोकना—गन्दे पानी के निकास के लिए नालियाँ बनवाना—स्कूल, पुस्तकालय और वाचनालय खोलना—श्मशान व कब्रिस्तान की देख रेख—मकानों का बनवाना—तांगों और मोटरों की देखरेख—आग बुझाने का प्रबन्ध—खतरनाक इमारतों का गिराना—लोगों के मनोरंजन के लिए बाग आदि बनवाना—सड़कों का निर्माण व मरम्मत। म्युनिसिपल कमेटी को

अपना खर्च निकालने के लिए कई प्रकार के टेक्स लगाने के भी अधिकार है। इनमे से खास-खास ये है —

शहर मे आनेवाले सामान पर चुंगी—हाउस टेक्स—पानी के नलों पर महसूल—तांगो व मोटरो का टेक्स—रोशनी का टेक्स—दरख्तो की आमदनी आदि। कारपोरेशन सारे हिन्दुस्तान मे सिर्फ चार शहरो—कलकत्ता, बम्बई, मद्रास और कराची मे ही है। इसे बहुत अधिकार होते है।

ब्रिटिश भारत मे सब म्युनिसिपलिटियो व कारपोरेशनो की सख्या १९३१-३२ मे ७२७ थी। (उसके बाद के अक नहीं मिल सके।) उनके कुल सदस्य १००२४ थे जिनमे से ३६२ सरकार द्वारा नामजद थे। उक्त वर्ष इनकी आमदनी (कर्ज मिलाकर) ३४ करोड रुपया थी। लेकिन बम्बई, कलकत्ता और मद्रास की २२ करोड की आमदनी निकालने से बाकी ७२४ म्युनिसिपलिटियो की आय सिर्फ १२ करोड रह जाती है। कुछ बडे शहरो मे उन्नति या सुधार के लिए इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्ट भी बनाये गये है। बम्बई, मद्रास, कलकत्ता, कराची आदि बन्दरगाहो का स्थानीय प्रबन्ध करने के लिए पोर्ट ट्रस्ट भी बनाये गये है, लेकिन उनपर जनता का नियन्त्रण बहुत कम है। इम्प्रूवमेण्ट ट्रस्ट भी ज्यादातर सरकारी नियत्रण मे काम करते है। म्युनिसिपैलिटियों की भी हालत बहुत अच्छी नही है। बहुत कम म्युनिसिपल कमेटियाँ सरकार के नाजायज दबाव से अपनेको बचा पाती है।

यदि तुम दूसरे उन्नत राष्ट्रों की स्थानीय संस्थाओं का हाल पढोगे तो तुम्हे मालूम होगा कि भारत की स्थानीय संस्थायें बहुत पिछडी हुई है। फ्रास, ब्रिटेन अमेरिका आदि देशों मे स्वास्थ्य, चिकित्सा, शिक्षा, रोशनी, सफाई आदि के अतिरिक्त अमन व शान्ति कायम

रखना, चोरियों तथा बदमाशियों को रोकना, पुलिस और साधारण न्याय के काम तक स्थानीय सस्थाओं के समझे जाते है। इग्लण्ड मे तो स्थानीय शासन का सब अधिकार स्थानीय संस्थाओं ही के पास है। इन सस्थाओं मे जनता द्वारा चुने गये प्रतिनिधियों के हाथ मे ही ये सब कार्य होते है। सरकार वहाँ स्थानीय शासन मे दखल ही नही देती। पुलिस, अस्पताल, सफाई आदि महकमों के छोटे-बड़े अफसर स्थानीय सस्थाओं से ही वेतन पाते है, वे नागरिकों द्वारा चुने गये प्रतिनिधियों के सामने ही जवाबदेह होते है और उन्ही का उनपर पूरा नियन्त्रण होता है। वहाँ पर कमिश्नर, कलक्टर, पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट, थानेदार, तहसीलदार आदि ऐसे कोई सरकारी अफसर शहर के मामलों मे दस्तंदाजी करने के लिए नहीं है। मन्त्रिमण्डल के मन्त्री स्थानीय संस्थाओं की देखभाल व सरकारी अफसरों द्वारा परामर्श लेते रहते है, लेकिन उनके अधिकार मे हस्तक्षेप नहीं करते। दरअसल स्थानीय स्वशासन का इसके सिवा कोई अर्थ भी नहीं है। भारत के वायसराय लार्ड रिपन ने १८८२ मे ठीक ही कहा था कि--"इसमे जरा भी सन्देह नहीं कि देश की उन्नति के लिए सबसे उत्तम उपाय यही है कि जनता का शासन जनता के ही हाथ मे दे दिया जावे। केवल थोड़े-से वही विषय केन्द्रीय सरकार के हाथ मे छोड दिये जावें कि जिनके लिए साम्राज्य के हित मे ऐसा करना लाजमी हो।" लेकिन लार्ड रिपन की उदार नीति उन्हीं के साथ खतम होगई और स्थानीय स्वराज्य को हिन्दुस्तान मे विकसित करने की उनकी योजना न चल सकी। १९१२ ई० मे श्री गोपालकृष्ण गोखले ने स्थानीय समितियों के अधिकार बढ़ाने के सम्बन्ध मे एक बिल पेश किया, लेकिन सरकर ने उसे स्वीकृत नहीं किया। आजतक भी जिलाधीश

जिले भर में सरकार का निरंकुश अधिकारी बना हुआ है। आशा है, कांग्रेसी प्रान्तीय सरकारें अब स्थानीय शासन में क्रान्तिकारी परिवर्तन करेंगी।

नागरिकों का फर्ज है कि वे इन सब संस्थाओं में पूरी दिलचस्पी लें। जब ये संस्थायें इनपर टैक्स लगाती हैं और नये-नये कायदे-कानून जारी करती हैं, तब नागरिकों का भी फर्ज है कि वे यह देखें कि कोई नाजायज टैक्स तो नहीं लगाया गया, उनसे लिये गये रुपये का इस्तेमाल तो जायज हुआ है, उनकी सभी उचित जरूरतों को पूरा किया गया है या नहीं।

इसके सिवा नागरिकों का एक कर्तव्य और भी है, और वह यह कि वे इन संस्थाओं के काम में पूरी मदद दें। कमेटी के कानून बना देने या सफाई के लिए कुछ नौकर रख देने से ही काम नहीं हो जायगा, जबतक कि जनता या नागरिक उसे इस काम में सहयोग न दें। लेकिन इसकी चर्चा तो मैं अगले पत्र में करूँगा।

: १७ :

गॉव और उसके नागरिक

१७-७-३८

मैं कल ही गांव से लौटा हूं। सुभास के मामा तो ईश्वर की कृपा से स्वस्थ हो गये, लेकिन तुम्हे यह जानकर दुःख होगा कि मेरे एक घनिष्ट मित्र ला० नन्दकिशोर का, जिनसे शायद तुम भी वाक़िफ होगे, देहान्त होगया। वह कुछ दिन पहले भले-चंगे और तन्दुरुस्त थे। अभी तो दिल्ली मे मुझसे मिलकर गांव गये थे। उनकी इस बीमारी का कारण मलेरिया था। उनके घर के पास एक छोटा-सा गढा था। उसमे आसपास के लोग कूडा-कचरा डालते थे। तुम भी उस गांव मे जा चुके हो, तुमने वह गढ़ा जरूर देखा होगा। मैंने उन्हे कई दफा उस गढ़े को बन्द करने व सफाई रखने के लिए कहा। वह कुछ-कुछ तैयार भी थे। उन्होंने दो-एक बार सफाई कराई भी, लेकिन उन्हे इसमे सफलता न हुई। इसका कारण था उनके पडोसियों का हठ। वे वहाँ कूड़ा-कचरा फेंकते रहे और घर का गन्दा पानी भी उसी गढे मे डालते रहे। फल यह हुआ कि वह गढ़ा गन्दे-गन्दे कीडों और मच्छरों का घर बन गया। इस बरसात मे वह गढा और भी लम्बा-चौडा हो गया। उसमे सडांद और बदबू इतनी ज्यादा होगई कि उसके पास से गुजरना कठिन होगया। इसीसे आसपास मलेरिया फैल गया। लाला नन्दकिशोर और दो पडोसियों के बालक तो गुजर भी गये। अब जाकर—तीन के बलि होने के बाद—गांववालों को समझ आई और गढ़ा साफ कराके भर दिया गया।

यह उसी गांव की घटना नहीं है. भारतवर्ष के ७० लाख गांवों और शहरों का भी यही हाल है। लोग यह नहीं समझते कि गांव या शहर की सफाई में उनका भी कोई फर्ज है। इसी फर्ज की ओर मैं पिछले पत्र में ध्यान खींचनेवाला था। यदि कोई पंचायत या म्युनिसिपल कमेटी सफाई के लिए थोड़े-से भंगी रख देती है, तो वे किसी काम नहीं आ सकते जबतक कि नागरिकों का उन्हें सहयोग न मिले। इस सम्बन्ध में केवल गांववाले ही नहीं पढ़े-लिखे शहरी भी भारी अपराध के दोषी हैं।

कभी किसी गांव में चले जाओ--तुम तो गांव में रहते ही हो—कितना बुरा दृश्य दीखता है। गलियों में कूड़े के ढेर लगे रहते हैं, सड़ा-गला भोजन वहीं बदबू कर रहा है, जो लोग मांस खाते हैं वे मांस के घिनौने टुकड़े और हड्डियां गली में फेंक देते हैं, जगह-जगह बालकों के पेशाब और टट्टी के नजारे दीख रहे हैं। नालियां एक तो होंगी नहीं, और जो होंगी उनकी सफाई न होगी। नालियों में ईंट-पत्थर, फटे कपड़े सब डाल दिये जाते हैं। कुए और तालाब, जहांसे पीने का पानी लिया जाता है, रोगियों के मैले-कुचैले कपड़े धोने के कारण जहरीले होगये हैं। जहां गाय-बैल बांधे जाते हैं, वहां उनके पेशाब और गोबर से योंही गन्दगी बनी रहती है। अक्सर मकानों के आसपास ही गड्ढे होते हैं, जिनमें बरसाती पानी भरा रहता है, काई जमी रहती है और लकड़ी, पत्तियां व कभी-कभी मैला भी बहता रहता है। लोग उसीमें आबदस्त लेते हैं, कुल्ला करते हैं, मिट्टी मल-मलकर हाथ धोते हैं और लोटा मांजते हैं। इसी पानी में मच्छर का परिवार बढ़कर बीमारी फैलाता है। गलियों में सड़नेवाले मैले पर मक्खियां भिनकती रहती हैं और अपने गन्दे पांव लेकर वे बस्ती के भीतर

खाने की चीजों पर बैठती है। शहरों में हालांकि इतनी बुरी हालत नहीं है, लेकिन वहाँ सफाई का जितना इन्तजाम होता है उसके मुक़ाबिले में सफाई बहुत कम होती है। वहाँ भी पक्की नालियों में बालक टट्टी-पेशाब करते हैं, भंगी के सफाई कर चुकने के बाद एकदम गलियों में कूड़ा-करकट डाल दिया जाता है। पेशाब-घरों में पेशाब न करके सड़कें और गलियाँ गन्दी कर दी जाती हैं। लोग बाजारों में चलते-चलते फल खाते जाते हैं और छिलके फेंकते जाते हैं, उन्हें यह परवा नहीं कि केले के छिलके रास्ते में गिराने से कभी-कभी कितनी भीषण दुर्घटना हो जाती है। किसीको कै आती है, तो वह बाजार में ही घिनौना नजारा पैदा कर देता है। कहने का मतलब यह है कि नागरिक सफ़ाई से इतने अधिक उदासीन हैं कि कुछ पूछो मत! इसमें हमारी कितनी हानि है, यह वे सोचते तक नहीं। कभी रेलगाड़ी के थर्ड क्लास के डब्बे में सफर तो करो। उसीमें यात्री थूकते हैं, छिलके फेंकते हैं, पानी डाल देते हैं, मातायें बच्चों को पेशाब करा देती हैं और डब्बा बैठने लायक नहीं रहता।

नागरिकों का प्रधान कर्तव्य है कि वे सफाई के नियमों को जानें और उनका पालन करें। लोगों की यह गन्दी आदत छुड़ाने में बहुत समय लगेगा और शुरू में तो स्वयं फावड़ा-झाड़ू हाथ में लेकर गाँव के मार्गों की सफाई करनी होगी, पाखाने मिट्टी से ढकने होंगे, नालियाँ साफ़ करनी होंगी तथा कूड़ा उठाना होगा। कुछ स्वयंसेवक या समझदार नागरिक यदि शुरू में खुद सफाई करने लगें तो शेष नासमझ नागरिक भी धीरे-धीरे सफाई के महत्त्व को समझ जावेंगे और सफ़ाई के काम में मदद देने लगेंगे।

फिर गलियों और सड़कों में जो कूड़ा फेंक दिया जाता है, उसकी

यदि कीमत लगाई जाय, तो करोडों रुपया साल बैठेगी। विदेशों मे कुछ म्युनिसिपल कमेटियों ने इधर ध्यान दिया है और वे लाखों रुपया कमाने लगी है। गलियों और सडकों के कूड़े के वर्गीकरण से तुम्हे मालूम होगा कि उसका कुछ हिस्सा बढिया खाद बनाने के काम आ सकता है, कुछ सिर्फ जमीन मे दफन कर देने के ही काबिल होगा और कुछ का तुरन्त ही आर्थिक लाभ देने वाला उपयोग हो सकेगा। हड्डी का प्रत्येक टुकडा यदि बीन लिया जाय, तो कितने ही उपयोगी सामान बनाने के लिए वह कीमती सिद्ध होगा या पीसने पर वह बहुत बढ़िया खाद बनेगा। चिथड़े और रद्दी कागजों का कागज बनाया जा सकता है और जगह-जगह से इकट्ठा किया गया पाखाना खेतों के लिए स्वर्णमय खाद है। मलमूत्र को उपयोगी बनाने के लिए उसको मिट्टी मे मिलाकर ज्यादा-से-ज्यादा एक फुट गहरा गढा खोद कर उसमे दबा देना चाहिए। जमीन को ऊपरी सतह सूक्ष्म जीवों से भरी रहती है और हवा तथा रोशनी की मदद से, जोकि वहाँ आसानी से पहुँच जाते है, ये जीव इस मलमूत्र को एक हफ्ते के अन्दर बढिया और मुलायम मिट्टी का रूप दे देते है। यह काम दो तरह से हो सकता है। या तो पाखाने बनाकर उनमे मिट्टी के गमले या लोहे की बाल्टियाँ रख दी जायँ और रोज उन्हे इसके लिए पहले से अच्छी तरह तैयार की गई जमीन मे खाली कर दिया जाय और या खेत मे चौरस गढा खोदकर उसीमे शौच किया जाय। मलमूत्र या तो गांव के सामूहिक खेतों मे गाडा जा सकता है या अपने-अपने निजी खेतों मे। यह सिर्फ ग्रामवासी नागरिकों के सहयोग से ही सम्भव है। आजकल तो यह सारी कीमती खाद, जो लाखों रुपयों की होती है, रोज बरबाद होती है और बदले मे हवा को गन्दा करती तथा बीमा-

रियाँ फैलाती है। कूड़े-करकट मे मिले लोहे की चीजों मे ही विदेशी म्युनिसिपल कमेटियों ने काफी रुपया कमाया है। मेरी इच्छा थी कि इस सम्बन्ध मे तुम्हे कुछ विस्तार से सूचनायें दूं, लेकिन इससे पत्र बहुत बडा होजायगा। गांधीजी ने गांवों के स्वास्थ्य के सम्बन्ध मे बहुत-कुछ विचार किया है। तुम उनका साहित्य पढोगे, तो तुम्हे बहुत-सी काम की बातें मिलेंगी।[1]

तुम्हे शायद यह जानकर ताज्जुब होगा कि आज से २२०० वर्ष पहले मौर्य चन्द्रगुप्त के काल मे सार्वजनिक स्वास्थ्य पर बहुत ध्यान दिया जाता था। कौटिल्य अर्थशास्त्र के नागरिक प्रणिधि के प्रकरण मे चाणक्य लिखते है कि—"गली मे कूडा फेंकने पर ⅛ पण और सडक पर कीचड फेंकने पर या कहीं कीचड व पानी रोक रखने पर ¼ पण जुर्माना किया जाय। यदि यही अपराध राजमार्ग पर किये जावें, तो इससे दुगुना जुर्माना किया जावे। पुण्य-स्थान, जल रखने के स्थान, मन्दिर, राजमार्ग तथा राजप्रासाद के पास पाखाना करने पर एक पण से ऊपर तथा पेशाब करने पर आधा दण्ड मिलना चाहिए। परन्तु यदि ये कृत्य दवाई, बीमारी या भय के कारण किये गये हों, तो कुछ भी सजा न दी जाय। मरे हुए बिलाव, कुत्ते, नेवले तथा सांप को नगर के बीच मे फेंक देने पर तीन पण जुर्माना किया जाय। मरे हुए गधे, ऊँट, खच्चर, घोड़े तथा दूसरे पशु को शहर के बीच मे फेंक देने पर छ: पण तथा मरे हुए मनुष्य की लाश को फेंक देने पर ५० पण जुर्माना किया जाय। अगर मुर्दे

१ देखिए—ग्राम-सेवा (म० गांधी) मू० ≡)
गांवो का सुधार और सगठन (रामदास गौड) मू० १)
दोनो के प्रकाशक—सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली।

को श्मशान के सिवा किसी अन्य स्थान पर रख दिया जाय या जला दिया जावे, तो १२ पण जुर्माना किया जावे।"

स्वास्थ्य-सम्बन्धी कर्तव्यों के अलावा नागरिकों के कुछ और भी कर्तव्य है, जिनके न करने से स्थानीय स्वराज्य-संस्थायें अपना काम नहीं कर सकतीं। अगर नागरिक अपनी सन्तानों को स्कूलों मे न भेजे, तो शिक्षा के लिए हजारों कोशिशे भी कामयाब नहीं हो सकतीं। यदि प्रत्येक नागरिक म्युनिसिपल कमेटी के टैक्स देना अपना फर्ज न समझे, तो कमेटी पैसा न होने की वजह से बहुत-से काम न कर सके। जबतक दोनों पहिये एकसाथ न चलें, गाडी का चलना कठिन होजाता है। राज्य भी, चाहे वह स्थानीय संस्था के रूप मे हो या प्रान्तीय और राष्ट्रीय सरकार के रूप मे एक गाडी है, जिसके सरकार और नागरिक ये दो पहिये है। गाँव, जिला, प्रान्त या देश की उन्नति के लिए जरूरी है कि दोनों ही अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करें। जिस प्रकार म्युनिसिपल कमेटी और सरकार का कर्तव्य नागरिकों की उन्नति है, उसी तरह नागरिकों का फर्ज है कि वे उसके बनाये कानूनों का पालन किया करे और आवश्यकता के अनुसार उसकी सहायता करते रहे।

प्रत्येक नागरिक को यह बात अपने सामने रखनी चाहिए कि नागरिकता का आदर्श प्रत्येक समय एक-दूसरे की सहायता करना है। यदि पडोसी के घर मे आग लगी हो तो मेरा फर्ज है कि मैं उसकी मदद करूं। बाढ आदि दैवी विपत्ति आने पर छूत-अछूत, हिन्दू-मुसलमान, शत्रु-मित्र, स्त्री-पुरुष, सब भेदभाव और लाज-परदा छोड-कर विपत्ति-निवारण के काम में लग जाना चाहिए। हमारे स्मृति-कारों ने समाज की एक शरीर से उपमा दी है, जिसमे विविध वर्ण

उसके जुदा-जुदा अंग बताये है। कल्पना तो करो कि यदि शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों में परस्पर सहयोग न हो तो शरीर का काम कैसे चलेगा? अगर मुंह भोजन का स्वाद लेकर पेट मे न पहुँचाये या मुख पर मक्खी बैठने पर हाथ न उडाये, या भोजन-प्राप्ति के लिए पैर चलने से और हाथ काम करने से इन्कार कर दे, तो शरीर का कोई भी काम न चले। सबके सहयोगपूर्वक काम करने पर काफी पहले से जोर दिया जाता रहा है। कौटिल्य अर्थशास्त्र मे लिखा है कि जब ग्रामिक (ग्राम का मुखिया) सारे गांव के लिए किसी काम पर जावे तो ग्रामवासियों को बारी-बारी से उसके साथ जाना होगा। ऐसा न करनेवाले पर जुर्माना किया जाय।[1]

एक-दो बातों का और निर्देश करके यह पत्र समाप्त कर दूंगा। लोगों को गांव का सामूहिक रूप से चारित्रिक और आर्थिक स्टैण्डर्ड ऊँचा करने की ओर भी ध्यान देना चाहिए। कुछ ऐसी बुराइयाँ है जिनके कारण सारे गांव की उन्नति नहीं हो पाती। आमतौर पर गांवों मे फजूलखर्ची यानी अपनी ताकत से ज्यादा खर्च करने की इतनी बुरी आदत है कि बीसियो साल तक मेहनत करने व कमाने के बाद भी किसान या मजदूर २०-२५) रु० नहीं बचा पाते। शादी और त्योहार पर कम खर्च किया जा सकता है, मुकदमेबाजी और आपस के झगडों का खर्च बचाया जा सकता है। शराब, तमाखू आदि नशों को छोडा जा सकता है। ये काम एक आदमी अकेले नहीं कर सकता। इसके लिए सारे गांव को पचायतों या बिरादरी द्वारा एक साथ सामूहिक प्रयत्न करना चाहिए। एक-दूसरे को फायदा पहुँचाने

१. ग्रामार्थेन ग्रामिक व्रजन्त उपवासा पर्यायेण अनुगच्छेयु। अननुगच्छन्त पणार्धपणिक योजन दद्यु।

की जबर्दस्त इच्छा जब हरेक नागरिक मे होगी, तब ये समस्यायें भी खुद-बखुद हल होजावेंगी। मुकदमे मे दूसरे को परेशान न कर आपसी समझौते द्वारा फैसला कर लेने की इच्छा से मुकदमेबाजी पर होनेवाला दोनों दलों का भारी खर्च बच सकता है। बराती अगर कन्यापक्ष की दिक्कत अपनी दिक्कत समझ ले, तो दहेज भोजनादि के शादी के बड़े भारी खर्च बच सकते है।

गाँव के समझदार लोग जैसे सफाई के बारे मे शेष नागरिकों को शिक्षा दे सकते है, वैसे ही सामाजिक दृष्टि से भी उन्हे शिक्षा दे सकते है। बालविवाह, अनमेल विवाह, मृतक भोज आदि सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के लिए गाँवभर मे आदर्श पेश करना और लोगों को समझाना उनका भारी फर्ज है। गाँव के अनपढों को वे निजी या सामूहिक रूप से शिक्षा दे सकते है, अवकाश मिलने पर अच्छी पुस्तकें या अखबार सुना-सुनाकर उनका ज्ञान बढा सकते है, बेकार या भिखारी लोगों को काम करने की प्रेरणा या काम देने का प्रबन्ध कर सकते है, उनमे मितव्ययिता, सहिष्णुता आदि गुणों का प्रचार कर सकते है।

अभी मैं तुम्हे आग, बाढ वगैरह विपत्तियों के आने पर सब लोगों की सहायता करने को लिख चुका हूँ। लेकिन सहायता करने का ढङ्ग सीखना पडता है। मैंने कई अग्निकाण्ड देखे है, जबकि सारा-का-सारा गाँव जलने लगा है और गाँववाले कुछ भी नहीं कर सके। इसलिए नहीं कि वे कुछ करना नहीं चाहते, बल्कि इसलिए कि उन्हे कुछ सूझता नहीं कि आग कैसे बुझाई जाय। गाँववाले हाथ-पर-हाथ धरे अपनी सारी दौलत को जलते देखते रहते है और कुछ समझदार अभ्यस्त स्वयसेवक या स्काउट आते है और

थोडी देर मे सब व्यवस्था कर देते है। समय पर दूसरे की सेवा करने की व्यावहारिक शिक्षा का ज्ञान भी नागरिकों को होना चाहिए। एक आदमी डूब रहा है, कहीं भारी चोट खा गया है, कहीं आग लग रही है या कोई और आफत आ रही है, मेले मे भारी भीड के कारण बच्चे कुचले जा रहे है या गुम हो गये है, ऐसे मौकों पर रक्षा की व्यावहारिक शिक्षा स्काउटों को दी जाती है। हरेक गांव मे भी स्काउटों या स्वयंसेवकों का एक ऐसा दल होना चाहिए, जो नागरिकों को समय-समय पर सहायता और ऐसे कामों की शिक्षा देता रहे।

नागरिकों की सामूहिक कर्तव्य-भावना को ऋग्वेद के अन्तिम तीन मन्त्रों मे इतनी उत्तमता से बताया गया है कि मैं उन्हे यहाँ देने का लालच रोक नहीं सकता:—

सगच्छध्व स वदध्व स वो मनासि जानताम् ।
देवा भाग यथा पूर्वे सजानाना उपासते ।।[1]

समानो मत्र समिति समानी समान मन सह चित्तमेषाम् ।
समान मत्रमभिमत्रये व समानेन वो हविषा जुहोमि ।।[2]

समानी व आकूति समाना हृदयानि व ।
समानमस्तु वो मनो यथा व सुसहासति ।।[3]

१ हे मनुष्यो, आप सब अच्छी तरह मिलकर चलो, आपस मे मत-भेद मत रक्खो, एक-दूसरे को पहचानने की कोशिश करो। जैसे सूर्य, अग्नि, वायु आदि अपना-अपना कर्तव्य पालन करते है, उसी तरह आप भी अपना-अपना कर्तव्य पालन करो।

२ आप सबकी एक सलाह हो, एकसाथ उठना-बैठना हो, दिल एक हो। मै सबको एक मत्र से दीक्षित करता हूँ और एक से प्राकृतिक साधन देता हूँ।

३ आप लोगो का एक सकल्प हो, दिलो मे फूट न हो, आप लोगो के सब काम एकसाथ अच्छी तरह सम्पन्न हो सके।

: १८ :

मेरा देश

१६-८-३८

पिछले दो पत्रों मे हमने गाँव या शहर के प्रति अपने कर्तव्यों पर कुछ विचार किया है। पर यह तो प्राथमिक कर्तव्य है। हमारा कर्तव्य यहीं समाप्त नहीं होजाता। एक और प्रधान सस्था मौजूद है, जिसके प्रति भी मेरा फर्ज है और जो मेरे सहयोग की अपेक्षा करती है—वह है मेरा—हमारा देश। इसके प्रति अपने फर्ज को राष्ट्रीयता कहा जाता है। यह राष्ट्रीयता भूगोल, भाषा, धर्म तथा दूसरी उन बातों से उत्पन्न होती है, जो निकटता तथा सामाजिक सजातीयता पैदा करती है। किसी राष्ट्र की भौगोलिक रूपरेखा नियत होती है। उसका अपना एक स्वतत्र नाम होता है। उसका अपना साहित्य, अपना इतिहास, अपनी सरकार और उसमे रहनेवालों के अपने स्वार्थ होते है। नागरिक ने व्यक्ति से कुटुम्ब और कुटुम्ब से गाँव या शहर तक अपना कार्यक्षेत्र फैलाया और अब वह राष्ट्र या देश तक, जिसे वह अपनी मातृभूमि कहता है, अपना दायरा बढाता है।

इस मातृभूमि के भाव ने जातियों के इतिहास बनाये है। एक समय था, जब देश या मातृभूमि का भाव लोगों मे इतना प्रबल न था। मनुष्य का क्षेत्र सकुचित था, पर वह बढ़ते-बढते अब एक राष्ट्र या देश तक फैल गया है। और यह यहाँतक बढ गया है कि जाति की जाति आँख मूँदकर देशभक्ति, मातृभूमि और राष्ट्रीयता के नाम पर अपनी जान कुर्बान करने मे जरा भी नहीं हिचकती। हजारों कवियों ने

मातृभूमि के नाम पर कविताए लिखी है, हजारों लेखकों ने विह्वल होकर मातृभूमि का यशोगान किया है और लाखों नागरिकों ने हसते-हंसते देशप्रेम के नाम से प्राणोत्सर्ग कर दिया है। अपने इस राष्ट्र या देश के इन्तजाम करनेवाले लोगों के समूह को सरकार कहते है, जो अपने नागरिकों की रक्षा का जिम्मा लेती है। एक देश उसमे रहने वाले सब नागरिकों को—सब श्रेणियों और सब जातियो को एक स्वार्थ से बांध देता है और एक नाम दे देता है। भारत के रहनेवाले भारतीय, ब्रिटेन मे रहनेवाले ब्रिटिश और फ्रांस मे रहनेवाले फ्रांसीसी कहलाते है।

कई शहर और गांव मिलकर जिला बनाते है और कई जिले मिलकर प्रान्त कहाते है। कई प्रान्त मिलकर देश कहाते है। जिलों और प्रान्तों के संबंध मे यह जरूरी नहीं कि वे एक समान बड़े हों। अलग-अलग भौगोलिक परिस्थिति तथा अपनी शासनसंबंधी सुविधा के अनुसार यह बटवारा किया जाता है। भारत बहुत बडा देश है। इसके प्रान्त भी उसी क्रम से बड़े है। इसका एक-एक प्रान्त यूरोप के एक-एक देश के बराबर है। भारत के भी सभी प्रान्त और जिले एक समान नहीं हैं। नागरिक के जिस शासनाधिकार की चर्चा हम पिछले (पाचवें) प्रकरण मे कर आये है, उसके अनुसार नागरिकों को अपने मामलों मे ज्यादा-से-ज्यादा दिलचस्पी लेने और अधिकार देने के सिद्धान्त को हमने माना था। इसीलिए स्थानीय स्वराज्य मे एक छोटे से केन्द्र की जनता को काफी अधिकार होते है। ऊपरी सरकार उसमे कम दखल देती है। कुछ ऐसे मामले होते है, जो ग्राम पंचायत के क्षेत्र व अधिकार से बाहर होते है। उन्हे जिला-बोर्ड सम्हालता है, पर वह भी यथासभव अपने सब मामले स्वयं निपटाता है। बड़ी-बडी सड़कों जैसे जो कार्य

उसकी शक्ति से बाहर है, प्रान्तीय सरकार के सिपुर्द होते है। प्रान्तीय सरकार जहा जिला-बोर्डों पर निरीक्षण करती है, वहाँ अपने को भी यथासभव स्वतंत्र रखने की चेष्टा करती है। अप्रैल १९३७ से पहले भारत मे जो शासन विधान चालू था, उसमे प्रान्तों को अपने प्रान्तीय मामलों मे भी बहुत-कम स्वतत्रता थी। उन्हे प्रायः प्रत्येक मामले मे केन्द्रीय सरकार का मुह ताकना पडता था, इसलिए उस व्यवस्था को 'यूनिटरी सिस्टम' कहा जाता था। लेकिन अब ११ प्रान्तों—बगाल, आसाम, बिहार, उडीसा, मध्यप्रान्त, मद्रास, बम्बई, सिन्ध, सीमाप्रांत, पजाब और युक्तप्रान्त को काफी ज्यादा अधिकार देकर प्रान्तीय स्वराज्य दे दिया गया है। केन्द्रीय सरकार सब प्रान्तीय सरकारों का निरीक्षण करती है और राष्ट्र-रक्षा आदि सिर्फ वही काम करती है, जिनका सारे देश से सम्बन्ध हो। इसके लिए वह कस्टम, रेलवे आदि आमदनी के कुछ साधन भी अपने पास रखती है। सब प्रान्त व संघविधान के अनुसार रियासतें भी इसकी सदस्य होंगी। अभीतक हमारे यहाँ प्रान्तीय स्वराज्य तो कायम होगया है, लेकिन सघ-विधान अमल मे नहीं आया।

मेरा विचार विधान के पेचीदे विस्तार मे जाने का नहीं है। विधान का निर्देश तो मैं प्रसगवश कर गया, मेरा मतलब सिर्फ यह था कि नागरिक के कर्तव्य अपने-अपने परिवार और अपने गांव या शहर तक ही सीमित नहीं है, वे इससे कहीं ज्यादा, अपने प्रान्त, सारे देश या राष्ट्र के प्रति है। जैसे नागरिक को परिवार और गांव के हित मे अपना हित समझना होता है, उसी तरह प्रान्त व देश के हित को भी अपना हित समझना चाहिए। अगर देश की स्थिति ही सुरक्षित न हो, तो गांव या परिवार की हालत भी ख़तरे मे पड सकती

है। इसका उदाहरण देने की बहुत जरूरत नहीं। भारत की अपनी सरकार नहीं है। इसका असर दूर-से-दूर कोने मे रहनेवाले भारतीय किसान पर भी उतना ही ज्यादा पड़ता है, जितना राजधानी दिल्ली मे रहनेवाले नागरिक पर। रेल्वे, सेना, सामुद्रिक तटकर, विनिमय और मुद्रानीति आदि कई महत्त्वपूर्ण विषय सारे देश से सम्बन्ध रखते है। इसलिए यह जरूरी है कि देश के मामलों मे नागरिकों को पूरी रुचि हो। यहां मैं देश के प्रति अपने कुछ कर्तव्यों की ओर तुम्हारा ध्यान खींचता हूं:—

(१) केन्द्रीय और प्रान्तीय धारासभाओं के चुनाव मे जहांतक मुमकिन हो, योग्य उम्मीदवार को भेजना चाहिए। पैसे के, जात-पात के या मजहब के लिहाज से नही, लेकिन योग्यता और देशसेवा की कसौटी से नागरिकों को चुनाव के समय वोट देने चाहिए। अभीतक भी भारत मे बहुत-कम नागरिकों को मताधिकार प्राप्त है और जो है भी, वह साम्पत्तिक या शिक्षा-सम्बन्धी योग्यता पर। यह अनुचित है। बालिगमात्र को मताधिकार मिलना चाहिए, जैसा कि मैं अधिकार के सिलसिले मे लिख चुका हूं। भारत के मताधिकार का दूसरा बड़ा दोष यह है कि इसमे हिन्दुस्तानियों को अलग-अलग दलों, फिरकों या सप्रदायों मे बांट दिया गया है। जो उम्मीदवार अपने सम्प्रदाय के साम्प्रदायिक भावों को जितना ज्यादा भड़कावेगा, वही ज्यादा वोट प्राप्त कर सकेगा और आज इसका नतीजा होरहा है भारत मे साम्प्रदायिकता की वृद्धि।

(२) देश के सामने जो समस्या पेश हो, उसमे नागरिक भी खूब दिलचस्पी लें। राष्ट्र के विधान और सरकारी मशीनरी के बारे में पूरी जानकारी होनी चाहिए। प्रत्येक महत्त्वपूर्ण समस्या पर लोक-

मत जागृत होना चाहिए, जिससे चुने गये प्रतिनिधियों को भी लोक-मत का निरादर करने की हिम्मत न हो।

(३) अगर कोई ऐसा मौका आजाय, जब प्रजा के हाथ से अपने अधिकार छिनने लगें, तो उससे सतर्क रहना चाहिए। जो अधिकार हमारे पूर्वजों ने सदियों लडकर प्राप्त किये है, उन्हे यों-ही अपनी लापरवाही और उपेक्षा से गवा देना परले दर्जे की मूर्खता होगी। अधिकारों की रक्षा के लिए यदि आन्दोलन की आवश्यकता हो, तो उससे भी घबराना नहीं चाहिए।

(४) राष्ट्र की सरकार जैसा कि मैं बार-बार कह चुका हूँ, सब नागरिकों की प्रतिनिधि-सस्था है। इसका अर्थ यह है कि नागरिक खुद ही अपने पर शासन करते है। इसका यह भी अर्थ हुआ कि सरकार जो कानून बनाती है, जो टैक्स लगाती है, वह हमारी—हमारे प्रतिनिधियों की सम्मति से लगाती है। उन कानूनों और आज्ञाओं को मानना हमारा कर्तव्य है। यदि हम इन सरकारी हुक्मों को मानने से इन्कार कर देते है, तो इसका परिणाम यह होगा कि वह सरकार फेल होजायगी और तब शक्तिशाली पुरुष सैनिक बल मे हम पर हावी हो जावेंगे, जो हमे कतई पसन्द नहीं है। हाँ, यदि विदेशी सरकार हो और वह लोकमत का निरादर कर अनुचित कानून जारी करे, अनुचित टैक्स लगावे, तो उनका विरोध करना प्रजा का केवल अधिकार ही नहीं, कर्तव्य भी है। जिस गुलाम देश के नागरिक निरंकुश विदेशी सरकार के अनुचित और कठोर नियमों का सिर झुकाकर पालन करते है, वे अपने कर्तव्य से गिर जाते है। विदेशी सरकार का विरोध करने मे चाहे कितनी ही तकलीफें क्यों न सहनी पडें, नागरिकों को घबराना नहीं चाहिए।

(५) राष्ट्र या देश की उन्नति मे यदि कुछ त्याग करना पड़े, तो वह करने में भी संकोच न करना चाहिए। महाभारत मे लिखा है:—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥

कुल के लिए एक व्यक्ति, ग्राम के लिए कुल, और प्रान्त के लिए ग्राम को छोडने में संकोच न करना चाहिए। जो राष्ट्र हमारे जन-धन और प्राण की रक्षा करता है, उसके लिए यदि हमे अपने प्राण तक देने पडे, तो भी उसके लिए संकोच न करना चाहिए। मातृभूमि के लिए आत्म-बलिदान की सैकडों वीर कथाएँ इतिहास मे विद्यमान है। जिस देश मे हम पैदा होते हैं, खेलते हैं, कूदते हैं और सब प्रकार के सुख पाते हैं, यदि उसकी रक्षा के लिए हम अपने को बलिदान भी करदे, तो वह महगा सौदा नहीं है। फिर, मातृभूमि की आजादी हमारी अपनी आजादी है। हमारी गतिविधि, हमारा चिन्तन, हमारा प्रत्येक काम ऐसा होना चाहिए कि उससे हमारे देश को जरा भी दुःख न हो। अथर्ववेद के पृथ्वीसूक्त मे नागरिक का कर्तव्य बताया गया है—उठते, बैठते हुए, खड़े हुए, दायें या बायें पैर से हम मातृभूमि को कोई कष्ट न दें।[1] अपने छोटे-बड़े भेद-भाव भूलकर मातृभूमि पर विपत्ति के समय हमे एक होजाना चाहिए।

(६) आजकल प्रत्येक सभ्य राष्ट्र के नागरिक की यह कोशिश रहती है कि वह अपनी मातृभूमि की इज्जत की रक्षा करे। भारतवर्ष में भी राष्ट्रीयता की दिनोंदिन वृद्धि होरही है। जहाँ यह देश के लिए शुभ लक्षण है, वहाँ हमारी राष्ट्रीयता मे एकांगिता का दोष भी

१ उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्त उत प्रक्रामन्त।
पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम्। २८।

है। हमारी राष्ट्रीयता के केवल राजनैतिक रूप का विकास होरहा है। केवल राजनीतिक अधिकार ही हमारे लिए काफी नहीं है। राष्ट्र की संस्कृति, राष्ट्र की सभ्यता और राष्ट्र की भाषा आदि की भी हमे प्राणपण से रक्षा करनी चाहिए। इस ओर हमारी भीषण उदासीनता राष्ट्रीयता के सिद्धान्तों के विरुद्ध है। इससे हममे आत्माभिमान या देश-गौरव नष्ट होजाता है। हमे अपने इतिहास पर—इतिहास के वीर नायकों पर गर्व करना चाहिए। हरेक मुल्क मे वीरपूजा के उत्सव बडी घूमधाम से मनाये जाते हैं। विशुद्ध विदेशी पोशाक मे रहने और विदेशी भाषा बोलनेवाले से आप सच्ची राष्ट्रीयता की आशा नहीं कर सकते। वह अपने देश की आम जनता से कभी हिलमिल नहीं सकता, न उससे पूरी हमदर्दी कर सकता है। विदेशी तालीम ने हम शिक्षित भारतीयों को सचमुच आम जनता से इतना दूर कर दिया है कि अपने ही देश के गाँवों मे हम परदेशी से मालूम पडते हैं।

(७) हमे प्रत्येक आर्थिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक और साहित्यिक क्षेत्र मे अन्य राष्ट्रों से आगे बढ़ने व अधिक उन्नति करने की कोशिश करनी चाहिए। हमारे अन्दर राष्ट्रीयता का एक ऐसा उत्साह होना चाहिए कि हम अपने देश की सर्वाङ्गीन उन्नति के बिना कभी चैन ही न लें।

(८) जब देश पर किसी शत्रु ने आक्रमण कर दिया हो, तब प्रत्येक व्यक्ति को राष्ट्र की रक्षा करनी चाहिए, यह मैं पहले लिख चुका हूँ। लेकिन जब अपना देश ही आक्रमणकारी हो और अन्याय से दूसरे पर आक्रमण कर रहा हो, तब भी क्या हमे उस युद्ध मे सम्मिलित होना चाहिए? इस सवाल का जवाब बहुत आसान नहीं है। कुछ राजनीतिज्ञो का मत है कि जब सरकार युद्ध का निश्चय कर

ले, तब नागरिकों को अपनी इच्छा को दबाकर बहुमत का आदर करना चाहिए। बहुत दफा सरकार जनता को सहयोग देने के लिए कानून द्वारा बाधित करती है, लेकिन मेरा विचार कुछ भिन्न है। किसी दूसरे देश पर बिना किसी कारण अपनी साम्राज्य-लिप्सा शान्त करने की खातिर ही आक्रमण करना पाप है। मनुष्य का दायरा केवल राष्ट्र की भौगोलिक सीमा तक ही सीमित नहीं है, वह तमाम दुनिया का—सारी मानव-जाति का भी तो एक अग है। जैसे एक नागरिक अपने पडोसी का अधिकार-हरण करके पाप करता है, वैसे ही एक राष्ट्र भी यदि दूसरे राष्ट्र को पराधीन करता है, तो वह भी पाप करता है। इसलिए ऐसे मौके पर नागरिकों को दिलेरी के साथ अपनी सरकार का विरोध करना चाहिए। यदि इतना आत्मबल आज यूरोपियन मुल्कों के नागरिकों मे आजाय, तो साम्राज्यवाद के लिए होनेवाले हमले भी बन्द होजाय। राजनीति के प्रसिद्ध विद्वान् प्रो० हैरल्ड लास्की लिखते है कि—

"आत्मा की प्रेरणा से बढ़कर और कोई कर्तव्य का निर्धारण नहीं कर सकता। आत्मा की आवाज को दबाना स्वतन्त्रता के साथ धोखा करना है। जो इस प्रकार की आज्ञाये स्वीकार कर लेते है, वे गुलामी की सीढ़ी का काम देते है। जो अन्याय को देखते हुए भी चुप बैठे रहते है, वे भी उस अन्याय के करनेवाले है। स्वतन्त्रता का अर्थ है अपने प्रति सच्चा रहना और यह तभी कायम रह सकती है, जब संघर्ष या मुकाबला करने का साहस हो। यह साहस—सिर्फ यही साहस स्वतन्त्रता की गारन्टी है। लोग कहेगे कि इससे अराजकता फैल जायगी। मैं मान लेता हूँ, पर हमेशा व्यवस्था ही सर्वोत्कृष्ट चीज नहीं होती है और विद्रोह हमेशा हानिकर भी साबित नहीं

हुए। शक्ति का उद्देश्य सिर्फ शक्ति नही है, शक्ति का उद्देश्य है सुख की प्राप्ति। यदि शक्ति से सुख या आत्मसन्तोष का लाभ न हो, इसके विपरीत आत्मा को असन्तोष हो, तो सिवाय उस शक्ति से सघर्ष या विद्रोह के, हमारे पास और क्या मार्ग रह जाता है ? अन्यथा अपने सुख का हम वलिदान कर दें।" आगे चलकर प्रो० लास्की लिखते हैं कि "हमारी सरकार कितनी ही अच्छी क्यों न हो, उसे यह भय ही हमारी स्वतन्त्रता का सबसे बडा प्रभावशाली साधन है कि जनता की स्वतन्त्रता का परिणाम होगा, दृढसकल्प नागरिकों द्वारा विद्रोह या क्रान्ति।"[१]

नागरिक का फर्ज है कि वह अपने दायरे को बढाते-बढाते तमाम दुनिया को अपना दायरा वना ले। कुछ लोग अन्तर्राष्ट्रीय विश्व-वन्धुत्व की कल्पना करते हुए कुल, जाति या देश के अभिमान को भूल जाते है, इन्हे सकीर्णता कहकर इनका निरादर करने लगते है। लोकमान्य तिलक ने ऐसे लोगों को खूब अच्छा जवाव दिया है। वे कहते है—"निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति के लिए जिस प्रकार सगुणोपासना आवश्यक है, उसी प्रकार 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की बुद्धि पाने के लिए कुल, जाति और देश आदि के अभिमान की भी आवश्यकता है। समाज की प्रत्येक पीढी इसी जीने से ऊपर चढती है और इसीलिए इस सीढी को वनाये रखना पडता है। ··· मंजिल पर मंजिल तैयारी करके इमारत वन जाने पर जिस प्रकार नीचे के हिस्से निकाले नहीं जा सकते, अथवा जिस प्रकार तलवार हाथ मे आ जाने पर भी कुदाली की, या सूर्य होने पर भी अग्नि की जरूरत वनी ही रहती है, उसी प्रकार सर्वभूत-हित की अन्तिम सीमा तक पहुँच जाने

१ Liberty in the Modern State (पृ० ७५-७८)

पर भी न केवल देशाभिमान की ही नहीं, वरन् कुलाभिमान की भी आवश्यकता वनी रहती है।" हाँ, इस हालत मे अपने देश की उन्नति का अर्थ दूसरे राष्ट्र का पतन नहीं होगा। अपना व्यक्तित्व, परिवार, गाँव, नगर, देश और विश्व ये पाँच वृत्त है, जिनका केन्द्र एक है और क्रमशः ये अपने पहले से वड़े है। ये परस्पर विरोधी नहीं है। इसलिए एक समय एक व्यक्ति के लिए सम्भव है कि वह अपने-अपने परिवार, गाँव, नगर, देश और विश्व सवके हितों की रक्षा कर सके। जहाँ एक हित दूसरे को काटने लगे, वहाँ वड़े वृत्त को तरजीह दी जानी चाहिए। राष्ट्रसंघ (लीग आफ नेशन्स) इस दिशा मे काफ़ी सफलता प्राप्त कर सकता, यदि उसके सदस्य इस नियम का पालन करते, लेकिन उनकी स्वार्थी प्रवृत्ति ने राष्ट्रसंघ को लुटेरों का सदस्य वना दिया है। कितनी वडी विडम्वना है।

: १६ :

मेरे देशभाई

२३-७-३८

तुम्हारे पत्र की अत्यन्त प्रतीक्षा थी। माँ के समाचार जानने की बहुत उत्कण्ठा थी, लेकिन तुम्हारा पत्र नहीं आया। शायद तुम माँ की सेवा-शुश्रूषा मे लगे होगे। माता की सेवा का सौभाग्य विरले को ही मिलता है। अपनी सेवा से प्रसन्न करके माँ से आशीश पानेवाला बड़भागी होता है। तुमने मनु का "अभिवादनशोलस्य वृद्धजनोपसेविन। चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्।" यह श्लोक पढ़ा होगा। मैं इस श्लोक का कायल हूँ। तुम्हे माँ की सेवा का अवसर प्राप्त हुआ है। सच्चे दिल से की गई सेवा व्यर्थ नहीं जाती। मुझे विश्वास है कि तुम्हारी सेवा से माँ फिर नीरोग हो उठेगी। मुझे तो इस सेवा का अवसर ही नहीं मिला। मैं जब घर पहुँचा था, माँ कुछ घण्टो की मेहमान थीं। माँ जबतक थी, उसका मूल्य नहीं समझ पाया था, उसके जाने पर सहसा मालूम हुआ कि मैं (३० वर्ष का, एक-दो बच्चों का बाप होकर भी) कितना अनाथ होगया हूँ। मै पिछले पत्र मे ही लिख चुका हूँ कि माँ की सेवा और देश-सेवा मे विरोध नहीं है। माँ की सेवा भी नागरिक का महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है।

अब मेरी पत्रमाला समाप्त होने हो लगी है। दो-एक पत्र और-बस, फिर यह चर्चा समाप्त।

पिछले पत्र मे देश के प्रति नागरिक के कर्तव्यो पर लिखते हुए एक खास विषय जानकर छोड गया था। वही इस पत्र मे लिखने का

विचार है। मातृभूमि के प्रति कर्तव्यबुद्धि--मातृभूमि के लिए बलिदान आदि शब्द बहुत हृदयस्पर्शी हैं, लेकिन यह मातृभूमि, यह राष्ट्र है क्या? केवल नदी-नालों या पहाड़ों का नाम ही तो राष्ट्र नहीं है। वस्तुतः राष्ट्र है भूगोल, इतिहास, धर्म, भाषा, संस्कृति आदि अनेक दृष्टियों से परस्पर सम्बद्ध एक नियत सीमित देश में रहनेवाले नागरिकों—आबालवृद्ध नरनारी का समूह, फिर चाहे उनमें कितनी ही श्रेणियाँ हों। वस्तुतः यही राष्ट्र है। राजनीतिशास्त्र की पुस्तकों में राष्ट्र के लक्षण पर जो विवाद किया गया है, मैं उसकी बारीकियों में नहीं जाना चाहता। अपनी बात समझाने के लिए राष्ट्र का इतना ही लक्षण काफी है। हम भारतीयों के लिए राष्ट्र क्या है? भारत की भौगोलिक सीमा में रहनेवाले सब भारतीय, चाहे वे स्त्री हों या पुरुष, बच्चे हों या बूढ़े, हिन्दू हों या मुसलमान, सिख हों या पारसी, ईसाई, दलित हों या सवर्ण, किसान हों या जमींदार, मजदूर हों या पूंजी-पति। सब भारतीय राष्ट्र के अनिवार्य अंग हैं। इन सबके हितों की रक्षा, इन सबकी सेवा और इन सबकी उन्नति ही नागरिकों का पहला कर्तव्य है। कोई वर्ग, कोई श्रेणी किसी दूसरे वर्ग या श्रेणी के अधिकारों का अपहरण न करे। सब एक-दूसरे के अधिकारों का आदर करें। मैं संक्षेप से इस पत्र में एक-एक श्रेणी पर विचार करने का यत्न करूंगा।

भारतवर्ष की सबसे बड़ी समस्या साम्प्रदायिक समस्या है। यह आज भारत के बड़े-से-बड़े नेताओं, राजनीतिज्ञों और विचारकों को परेशान कर रही है। इसकी तह में एक-दूसरे के प्रति अविश्वास, और धार्मिक असहनशीलता काम कर रही है। इसी अविश्वास और असहिष्णुता के कारण ही पिछले १६ सालों में कितने भयंकर दंगे

हुए, सैकडों मारे गये, कितनी स्त्रियों का अपहरण किया गया, लाखों रुपये की जायदादे जला दी गई। मेरा धर्म सच्चा है, दूसरे का झूठा, यह विश्वास ही इन झगडों की जड है। हरेक धर्मप्रवर्तक महापुरुष के जीवन का अध्ययन करने से हमे मालूम होगा कि उसने अपने समय और देश की हालतों के अनुसार कुछ विशेष बातों पर जोर दिया। बहुत मुमकिन है कि हजरत मुहम्मद अरब मे न होकर भारत मे होते, तो उनकी शिक्षाओं मे कुछ दूसरी बातों पर बल दिया जाता। इसी तरह म० बुद्ध, ईसा और गुरु नानक आदि की शिक्षाओं मे भी अपने चारों ओर की परिस्थितियों का प्रभाव साफ तौर से प्रतीत होता है। फिर एक महापुरुष को बिलकुल मुकम्मिल और निर्भ्रान्त मान लेने की गल्ती की जाती है। यदि ऐतिहासिक दृष्टि से निष्पक्ष विवेचन किया जाय, तो धर्मप्रवर्तकों की भी अनेक अपूर्णताए हमारे सामने आयॅगी, यहांतक कि सूर्य मे भी धब्बे दीखते है। हमे देखना तो यह चाहिए कि एक नागरिक के दार्शनिक मंतव्यों का उसके आचरण पर तो ऐसा प्रभाव नहीं पडता, जोकि समाज के लिए या पडोसी के लिए नुक्सानदेह हो। धर्मों का अध्ययन करने से यह साफ मालूम होता है कि सभी धर्मप्रवर्नकों ने सार्वभौमिक धर्म सदाचार की शिक्षा दी है। कोई मस्जिद मे जाय, गिरजे या मन्दिर मे जाय, इससे किसी दूसरे की हानि नहीं होती। इसलिए हम सब नागरिकों का कर्तव्य है कि हम हरेक धर्म या सम्प्रदाय को उन्नति करने दें। इतना ख़याल हमे जरूर रखना चाहिए कि अपने धर्म का प्रचार करते हुए किसी दूसरे से जबर्दस्ती न करें, क्योंकि ऐसा करना उस अधिकार को छीनना है, जो धार्मिक स्वतन्त्रता के बारे मे नागरिकों को मिला हुआ है और जिसकी चर्चा हम अधिकार के प्रकरण मे

कर चुके हैं। राष्ट्रसम्बन्धी व्यवहार में तो नागरिकों को सिर्फ इतना देखना चाहिए कि कोई व्यक्ति कितना योग्य है, उसमे जन-सेवा की कितनी लगन है। इस कसौटी पर उतरनेवाले किसी भी व्यक्ति को विना किसी झिझक के ऊँचे से ऊंचा पद दिया जा सकता है।

स्त्रियों के साथ भी नागरिकों का व्यवहार बहुत अच्छा होना चाहिए। नारी शक्ति की जननी है। समाज के निर्माण मे पुरुष की अपेक्षा उसका हिस्सा कम नही है। "स्त्री के अभाव में संसार हिंसा, कलह, अशान्ति और दुःख का नमूना बन गया होता। शोभा, सुन्दरता, सरसता और सजीवता की जगह भीषणता, बीभत्सता, नृशंसता, स्वार्थान्धता और रक्तपिपासा का राज्य दिखाई देता। स्त्री ने उत्पन्न होकर जगत् पर अमृत की वृष्टि की है। उसने मनुष्य को उत्पन्न ही नहीं किया, जगत को जिलाया और अमर भी किया है।" ऐसी स्त्री जाति के सुखों की चिन्ता पुरुष समाज का प्रथम धर्म है। स्त्रियों की शिक्षा, स्त्रियों के स्वास्थ्य और स्त्रियों की दूसरी सुविधाओं का इन्तजाम करना चाहिए। राजनैतिक या सामाजिक दृष्टियों से पुरुषों व स्त्रियों मे यथासम्भव कोई फर्क न रहे। विधवाओं के साथ होनेवाले अत्याचार बन्द कर देने चाहिए। रोजमर्रा पतियों द्वारा स्त्रियों पर होनेवाले अत्याचारो की भी समाप्ति हो जानी चाहिए।

दलितों के सम्बन्ध मे पहले भी मैं विचार कर चुका हूं। कोई मनुष्य जन्म के कारण दलित नही है। सभी नागरिकों को, जो भी इस राष्ट्र मे उत्पन्न हुए है, एक समान विकास करने का अधिकार है। नागरिकों को चाहिए कि वे जहां किसी के साथ धार्मिक भेदभाव न करें, वहीं जन्म या वर्ग के कारण भी किसी से भेदबुद्धि न रखे। लोकमान्य तिलक ने ठीक ही कहा था कि "किसी आदमी को

अस्पृश्य कहना भगवान् के विरुद्ध पाप करना है, क्योंकि वह भी भगवान् ही का एक पुत्र है।"

एक देश मे ऊपर लिखे श्रेणी-विभाजन के सिवाय आर्थिक दृष्टि से भी श्रेणियां बांटी जाती है। किसान, जमींदार, मजदूर, पूँजीपति, बौद्धिक पेशे, शासक श्रेणी वगैरा कई जमायते है, जिनके अधिकारों की रक्षा के लिए हमे कोशिश करनी चाहिए। किसानों पर अबतक जमींदारों और सरकारी कर्मचारियों की ओर से सैंकडों प्रकार के अत्याचार होने का नतीजा यह हुआ कि तमाम मुल्क के लिए अन्न पैदा करनेवाला किसान खुद भूखों मर रहा है। यह स्थिति किसी भी हालत मे न रहनी चाहिए। किसान को तो समस्त देश का अन्नदाता होने के कारण सबसे अधिक इज्ज़त होनी चाहिए। किसान से उतना ही टैक्स लेना चाहिए, जिसे वह बरदाश्त कर सके। उसकी आमदनी बढ़ाने, उसके ख़र्च कम करने और खेतो के सुधार की ओर भी नागरिकों का पूरा ध्यान रहना चाहिए। उनकी आर्थिक और सामाजिक स्थिति को उन्नत करना चाहिए। मज़दूरों के साथ भी यही उदार दृष्टिकोण रखना चाहिए। मिलों मे उनकी अनेक तकलीफों को दूर करना चाहिए। काम के घंटे, मज़दूरी व उनसे व्यवहार मे मनुष्यता का परिचय देना चाहिए। यदि किसी देश के किसान मजदूर दरिद्र है, तो उस देश का व्यापार व्यवसाय भी जरूर चौपट हो जायगा। अगर एक राष्ट्र की खरीदने की ताकत ही नष्ट हो जाय, तो उसका नतीजा व्यापार-व्यवसाय का नाश तो है ही।

ज़मींदारों व पूँजीपतियों के साथ भी नागरिकों का व्यवहार न्यायपूर्ण रहना चाहिए। आज बहुत-से विचारक इन दोनों श्रेणियों के अस्तित्व की उपयोगिता से इन्कार करते है। मैं यहां इस बहस

में नहीं पडना चाहता। मेरा तो कहना यह है कि खेती और विशेषकर व्यवसाय की उन्नति मे धनिक श्रेणी का विशेष हाथ रहा है, इसलिए उसके साथ भी अन्याय और बलात्कार नहीं करना चाहिए। हाँ, उन्होंने दरिद्र जनता पर जो अत्याचार कर रखे है, उन्हे भी दूर करने मे संकोच नही करना चाहिए। धन को अनुचित महत्त्व देने, आम लोगों को उन्नति की ज्यादा-से-ज्यादा सुविधाएँ देने का परिणाम यह होगा कि अमीर श्रेणियों ने जो अनुचित दबदबा कायम कर रखा है, वह खुद ही खतम होजायगा।

देश की सब जमायतों को नागरिकता के अधिकार एक-से है। यह मानकर यदि सभी नागरिक एक दूसरे के हितों और अधिकारों का खयाल रखे, तो मुल्क की बहुत-सी अन्दरूनी समस्याएं हल हो जायें। इनके सिवा जनता को अपनी नैतिक सतह भी ऊंची करनी चाहिए। चोरी, मारपीट, व्यभिचार, धोखा, बेईमानी आदि दुर्गुणों के निवारण की सामाजिक रूप से कोशिश होनी चाहिए। सरकार द्वारा जारी किये नियमों और कार्यों मे जनता को पूरा सहयोग देना चाहिए। यही नागरिक के कर्तव्य है।

यूनानियों की निम्नलिखित नागरिक प्रतिज्ञा सभी नागरिकों के लिए विचारणीय है। प्राचीन यूनान मे नगरराज्य होते थे, इसलिए हमे नगर से राष्ट्र ही समझना चाहिए। वह प्रतिज्ञा यह है:—

"यह हमारा नगर है। हम अपनी कायरता या बेईमानी के किसी काम से इसका अपमान न करेगे, न हम अपने दुखी साथियों का कार्यक्षेत्र मे साथ छोड़ेंगे। हम इस नगर की पवित्र वस्तुओं तथा आदर्शों की रक्षा के लिए लडेगे, चाहे हम अकेले हों या बहुतों के साथ हों। हम नगर के नियमों का आदर तथा पालन करेगे और

उनकी अवहेलना करनेवाले बन्धुओं मे भी ऐसा ही भाव भरने का यथाशक्ति प्रयत्न करेंगे, हम नागरिक कर्तव्यों की सार्वजनिक भावना को उत्तेजित करेंगे। इस प्रकार इन सब उपायों से हम इस नगर को जैसा हमे यह सौंपा गया है उसकी अपेक्षा आनेवाली पीढी के लिए कम नहीं, अधिक महान्, उन्नत और सुन्दर बनायेंगे।"

इस प्रतिज्ञा के आखिरी वाक्य की ओर मैं तुम्हारा ध्यान खास तौर से खींचना चाहता हूँ। यदि हरेक नागरिक, चाहे वह किसान हो या मजदूर, डाक्टर हो या वकील, वैज्ञानिक हो या दार्शनिक, राजनीतिज्ञ हो या शासक, उपदेशक हो या अध्यापक, कारीगर हो या दुकानदार, व्यवसायी हो या इंजिनीयर, इस आदर्श को अपने सामने रक्खे और किसी काम को अपने हाथ मे लेने से पहले की अपेक्षा अधिक अच्छी हालत मे कर देने का दृढ़ निश्चय करले, तो एक ही पीढी मे देश एक सदी आगे बढ़ सकता है। हरेक नागरिक अपने-अपने कार्य-क्षेत्र का विकास करे, आगे बढना, यह आदर्श अपने सामने रक्खे। इस आदर्श को सामने रखने से ही आज यूरोप वैज्ञानिक, राजनैतिक, व्यापारिक और व्यावसायिक आदि सभी क्षेत्रों मे इतनी उन्नति कर सका है। इसी आदर्श को सामने रखकर कोई भी राष्ट्रीय या सामाजिक आन्दोलन सफल होते हैं। संसार की उन्नति या विकास के मूल मे यही भाव मुख्यतया काम करता है।

: २० :

कर्तव्यों का संघर्ष

२४-७-३८

पिछले सात पत्रों मे हमने नागरिकों के व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्यों पर विचार किया है। ये जरूरी है और सच्चा नागरिक इनका पालन करने की कोशिश भी करता है। लेकिन कभी-कभी ऐसे अवसर भी सामने आजाते है, जब ये कर्तव्य आपस मे ही टकराने लगते है। महाभारत के युद्ध के मौक़े पर अर्जुन के सामने भी यही कर्तव्य-संघर्ष उपस्थित हुआ था। एक ओर उसके गुरु तथा रिश्तेदार थे, जिन्हे वह मारना नहीं चाहता था, और दूसरी ओर क्षत्रिय का धर्म था। ऐसी कर्तव्यमूढता अक्सर बहुत मौकों पर लोगों के सामने उपस्थित होती है, जब उन्हे दो कर्तव्यों के बीच मे से एक का चुनाव करना पडता है, लेकिन उन्हे सूझता नहीं। "किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिता" पण्डित भी बहुधा ऐसी पहेली नही सुलझा सकते। लोकमान्य तिलक ने 'गीता-रहस्य' के दूसरे प्रकरण 'कर्म-जिज्ञासा' मे ऐसे बहुत-से उदाहरण दिये है, जबकि धर्म के साधारण नियमों के पालन मे ऐसी अडचनें पैदा होजाती हैं, और आदमी किंकर्तव्य-विमूढ होजाता है। सत्य बोलना धर्म है, सत्य की हजार अश्वमेध यज्ञों से तुलना दी गई है, लेकिन आततायी से गौ को बचाने के लिए असत्य बोलना पाप नहीं माना जाता। शान्तिपर्व मे ही सत्य का यह अपवाद "सत्यस्य वचन श्रेय सत्यादपि हित वदेत्। यद्भूतहितमत्यन्त एतत्सत्य

मत मम ॥" कहकर स्वीकार किया गया है । इसमे सत्य से अधिक महत्त्व 'भूतहित' को दिया है । अहिसा को परमधर्म माना गया है, लेकिन दूसरी ओर स्मृतिकार मनु कहते है—"गुरु वा वालवृद्धौ वा ब्राह्मण वा वहुश्रुतम् । आततायिनमायान्त हन्यादेवाविचारयन् ॥" विश्वामित्र ने अभक्ष्य के भक्षण का समर्थन करते हुए कहा है—जीते रहेगे तो धर्म फिर भी कर लेंगे, मरने से जीना ज्यादा अच्छा है। (जीवित मरणात्श्रेयो जीवन्धर्ममवान्प्रुयात्—शान्ति० १४१)

नीतिशास्त्र वहुत कठिन विषय है, आचार और कर्तव्य की समस्या कठिन है। इसी तरह इस नागरिकशास्त्र मे भी बहुन दफा कर्तव्यों का संघर्ष उपस्थित होजाता है, तब किया क्या जाय ? मैं इस पत्र मे इसीकी कुछ चर्चा करना चाहता था।

राजपूताने के इतिहास मे एक कथा आती है कि एक राजपूत सरदार के हृदय मे, जिसकी एक दिन पहले शादी हुई थी, स्त्री के और देश के प्रति कर्तव्यों मे सघर्ष उत्पन्न हुआ। वह कभी घर की ओर जाता और कभी युद्ध-क्षेत्र की ओर। न वह स्त्री को ही अकेला छोड सकता था और न युद्ध से ही उसका क्षत्रियस्वभाव मुडना चाहता था। आखिर उसकी स्त्री ने पति की किंकर्तव्यविमूढता देख गला काटकर अपना सिर पति के पास भिजवा दिया। मेवाड की एक दूसरी कथा के अनुसार महाराणा भीमसिंह की लडकी कृष्णावाई के कारण जव मेवाड पर भारी आफत आने लगी, दो राजाओं ने उसपर हमला कर दिया, तव उसने अपने देश के लिए आत्म-हत्या करना उचित समझा, जवकि आत्म-हत्या करना पाप है। आत्म-हत्या के पाप होते हुए भी सिपाही युद्ध मे जाता है और खुशी-खुशी मृत्यु का आलिंगन करता है। हिंसा पाप है, फिर भी सरकारी

न्यायाधीश डाकुओं और हत्यारों को प्राणदण्ड तक की आज्ञा देता है। एक तरफ माँ बीमार पड़ी है और दूसरी ओर जाति या धर्म की रक्षा का सवाल है। वीर सैनिक माँ को रामभरोसे छोड़कर युद्ध-क्षेत्र चला जाता है। सरकार का आज्ञापालन नागरिक का कर्तव्य है, तथापि महान् विभूतियाँ अपने राष्ट्र के साम्राज्यवादी आक्रमण का विरोध कर उसमें सहयोग देने मे इन्कार कर देती हैं। प्रजातन्त्र का सिद्धान्त कहता है कि प्रत्येक प्रश्न पर जनमत का आदर करना चाहिए, लेकिन फिर भी गांधीजी अहमदाबाद-कांग्रेस मे यह प्रस्ताव पेश करते हैं कि मुझे संग्राम छेड़ने के लिए डिक्टेटर बना दिया जाय। कांग्रेस का विधान प्रजातन्त्रमूलक है, फिर भी १९३० में डिक्टेटरों की शृंखला दीखती है। जनता के मताधिकार व शासनाधिकार से परिचित होते हुए भी इटली, जर्मनी आदि देशों के सच्चे हितचिन्तक मुसोलिनी और हिटलर बहुतसे अधिकार अपने हाथ मे लेलेते हैं। एक शहर मे प्लेग फैल जाने के कारण आग लगा दी जाती है, भले ही उससे नागरिकों की लाखों रुपये की सम्पत्ति नष्ट होजाय। सार्वजनिक हित के लिए एक किसान की जमीन छीन ली जाती है, यद्यपि उसे भी अपनी सम्पत्ति की रक्षा का उतना ही अधिकार है जितना किसी दूसरे नागरिक को। प्रत्येक नागरिक अपना कार्य करने मे स्वतन्त्र है, फिर भी बाल-विवाह करनेवाले, शराब पीनेवाले या आत्म-हत्या करनेवाले को कानून दण्ड देता है। सरकारी क़ानून मानना नागरिक का कर्तव्य है, फिर भी भारतीय कांग्रेस सत्याग्रह या भद्रअवज्ञा का युद्ध छेड़ देती है।

ऐसे सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं, जब कि कर्तव्यों में संघर्ष पैदा होता है और कर्तव्य का निर्णय करना कठिन होजाता

है। कर्तव्य की क्या कसौटी है, यह मालूम नहीं होता।

कर्तव्य की कसौटी पर कई विचारकों ने अपने-अपने पहलू से विचार किया है। लोकमान्य तिलक ने भी गीतारहस्य के आधिभौतिक सुखवाद के प्रकरण मे इस विषय की चर्चा की है। उन्होंने पूर्वी और पश्चिमी विद्वानों के मत देकर उनकी आलोचना की है। मैं फिलासफी के इस पेचीदा झगड़े मे नहीं पडना चाहता। लेकिन एक वाद की ओर तुम्हारा ध्यान अवश्य खींचना चाहता हूँ। शायद इसका जिक्र पहले भी कर चुका हू। इस सिद्धान्त के जनक है बैन्थम, मिल आदि पश्चिमी विद्वान्। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी कर्तव्य की कसौटी है: "अधिकाश लोगो का अधिक सुख" (Greatest good of greatest number)। इस कसौटी से हमारी बहुत-सी समस्यायें हल होजाती है। ऊपर लिखे कुछ उदाहरणा मे अनेक उदाहरणों का जवाब इस कसौटी से मिल जाता है। चोर या हत्यारे को दण्ड इसलिए दिया जाता है कि उससे आम जनता मे बेफिक्री हो, उनका जान-माल सुरक्षित रहे। माँ की अपेक्षा देश या जाति का हित सदा अधिक लोगों के सुख का कारण होगा। आत्महत्या से एक व्यक्ति की जरूर जान गई, लेकिन इससे मेवाड राज्य पर से विपत्ति चली गई। शहर को आग लगा देने से सम्पत्ति अवश्य नष्ट हुई, लेकिन उससे सब नगर-निवासी तो बीमारी से बच गये। फलों मे एक गला सेब सबको गला देता है, इसलिए उसे निकाल दिया जाता है, इसी तरह कोढ या तपेदिक के रोगी को उसकी इच्छा के विरुद्ध भी घर से निकालकर शहर से दूर सेनिटोरियम मे भेजना पडता है या बदमाश को समाज मे से पृथक् करना पडता है। 'त्यजेदेक कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुल त्यजेत्' के श्लोक का

भी यही अर्थ है। एक निरकुश राजा प्रजा पर तरह-तरह के जुल्म करता है, कुछ लोगों के सुख के लिए प्रजा के अधिकारों और सुखों का बलिदान करने मे सकोच नहीं करता। तब इस कसौटी मे उसके विरुद्ध विद्रोह किया जा सकता है और आवश्यकता होने पर उसे ससार से भी हटाया जा सकता है। हमारे शास्त्रकारों ने भी, जैसा कि मैं अभी लिख आया हूँ, 'यद्भूतहितमत्यन्त तत् स यमिति धारणा' कह-कर सर्वभूतहित को ही 'सत्य' बताया है। वनपर्व मे ही दूसरी जगह 'अहिंसा' का लक्षण भी 'सर्वभूतहित' बताया है।

'अधिकाश लोगों के अधिक सुख' की कसौटी मे हम कुछ दूर तक भले ही जासके, लेकिन इससे आखिर तक नहीं चला जा सकता। इसका एक ही उदाहरण काफी होगा।

ऋषि दयानन्द या और कोई समाज-सुधारक जब अपने क्रान्तिकारी विचारों का प्रचार करता है, तब वह भारी लोकमत का विरोध करता है। हजरत ईसा के प्रचार को उस समय के लोगों ने 'अधिकाश लोगों के अधिक सुख' के विपरीत बताकर ही रोका था और उन्हे शूली की सजा दी थी। आज हिटलर या मुसोलिनी आम लोगों के अधिकारों को कुचलकर और इस तरह 'अधिकाश लोगों के अधिक सुख' की मोटे तौर पर उपेक्षा करके शासन कर रहे है। पर ईसा या मुसोलिनी का विरोध उस समय के यूरोप और वर्तमान इटली के लिए हानिप्रद ही साबित होता। सीमान्त के कबीले वाले एक हिन्दू कन्या का अपहरण कर लेते है। उस एक कन्या के लिए सौ-दोसौ या ज्यादा कबीलेवालों को भी कभी-कभी दण्ड देना पडता है।

ऐसा अवसर आ सकता है, जब किसी भी देश का बहुमत किसी

कारण अन्याय करने लगा हो, तब उसका विरोध भी जरूरी फर्ज होजाता है। पाण्डव अपनी सेना से अधिक कौरवों की ग्यारह अक्षौहिणी सेना का नाश करके ही राज्य प्राप्त कर सके।

फिर इस वाद मे एक और भी दोष है कि सुख की व्याख्या स्पष्ट नहीं है। भौतिक सुख या आध्यात्मिक सुख ? बहुत दफा मनुष्य अपने यश या कीर्ति, देश, कुल या धर्म के अभिमान के लिए बहुत-से काम करता है। इसी तरह बहुत दफा क्रिया की अपेक्षा हृदय को कसौटी मानना पडता है। एक हत्यारे के किसीको मारने मे और एक स्त्री के सतीत्व-रक्षा के लिए किसीपर गोली चलाने मे क्रिया के एक होते हुए भी पहले को फांसी मिलेगी और दूसरे को उसके वीर कार्य के लिए बधाई।

लोकमान्य तिलक ने कर्तव्याकर्तव्य की कसौटियों का विवेचन करते हुए बताया है कि मनुष्य-जाति मे परोपकार, दया, उदारता, दूरदृष्टि, तर्क, धैर्य, क्षमा, इन्द्रियनिग्रह आदि सात्त्विक गुण है। इन सब गुणों का 'मनुष्यत्व' से हम निर्देश कर सकते हैं। जो कर्म सब मनुष्यों के मनुष्यत्व या मनुष्यपन को शोभा दे, या जिस कर्म से मनुष्यत्व की वृद्धि हो, वही सत्कर्म और नीतिधर्म है। और जब हम इस बात का सूक्ष्म विचार करने लगेंगे कि मनुष्यपन या 'मनुष्यत्व' का यथार्थ स्वरूप क्या है, तब याज्ञवल्क्य के कथनानुसार "आत्मा वा अरे द्रष्टव्य." आत्मबुद्धि और आत्मज्ञान आवश्यक है। आत्म-ज्ञानी अपने 'स्व' का विकास करते-करते अपना दायरा बहुत विस्तृत कर लेता है। उसका 'स्व' केवल संसार के मानवमात्र तक ही नहीं—'विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि शुनि चैव श्वपाके च पण्डिता समदर्शिन' प्राणिमात्रतक विस्तृत होजायगा। उसके लिए यह सारा संसार ही

आत्मा है—"लोको वै अयमात्मा।" जिस कार्य मे भेद-भाव न रखकर समता का आदर्श हो, स्वार्थ-परार्थ का भेद न हो, वही कर्त्तव्य है। अग्नि निस्स्वार्थ भाव से जलाती है—उसका स्वभाव जलाना है, इसी तरह परोपकार एक महान् आत्मा का स्वभाव बनजाता है। वह दुष्टों को दण्ड भी इसी स्वभाव से प्रेरित होकर देता है और सज्जनों की रक्षा भी इसी भाव से करता है। वह तमाम दुनिया को कुटुम्ब समझता है। एक माँ अपने सभी बालकों को एक-सा देखती है, जब कोई शरारत करता है तब उसे दण्ड भी देती है और दो मिनट बाद उससे फिर प्रेम करने लगती है। उसकी ताड़ना मे द्वेष-बुद्धि नहीं होती। इसी तरह एक आत्मज्ञानी पुरुष ससार मे रहकर राजकार्य करता हुआ भी निस्स्वार्थ और निष्काम रह सकता है।

महात्मा गाधी के मत के अनुसार एक अन्यायी शासन का विरोध या उसके प्रति विद्रोह एक व्यक्ति की अपनी उन्नति के लिए भी आवश्यक है। उनकी विचार-धारा का प्रवाह कुछ इस तरह है: व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध इस प्रकार का है कि उसमे व्यक्ति की प्रगति अपने समाज की साधारण धर्म-प्रगति से बहुत अधिक आगे नहीं हो सकती। इस कारण कोई व्यक्ति यदि अपने चारों ओर प्रचलित अधर्म (विदेशी सरकार या अत्याचारपूर्ण शासन भी अधर्म है) की ओर से आँख मूंदेगा, तो वह अपनी अतिशय आध्यात्मिक उन्नति न कर सकेगा। इस प्रकार व्यक्ति के लिए अपने अन्दर सत्य, अहिंसा आदि धर्मों की सिद्धि के उद्देश्य से भी अपने समाज मे प्रचलित अधर्म का विरोध करना कर्तव्य होजाता है।

कर्तव्य या धर्म की गति बहुत गहन है। महात्मा गाधी सर्वभूतहित-रत है। उनकी कर्तव्याकर्तव्य-कसौटी भी मानवजाति का कल्याण है।

लेकिन इसके साथ ही वह साधनों की पवित्रता पर भी उतना जोर देते है, जितना उद्देश्य पर। वह भी ससार से आर्थिक विपमता दूर करना चाहते है, लेकिन उसके लिए लेनिन की भाति हिंसावाद का आश्रय लेना पाप समझते हैं। वह स्वराज्य प्राप्त करने के लिए शायद प्रत्येक भारतीय से अधिक उत्सुक होंगे, लेकिन यदि एक असत्य-भापण से भारत को स्वराज्य मिलता हो, तो वह असत्य-भापण द्वारा उसे स्वीकार नहीं करेंगे। गाधीजी की इस विचार-धारा मे और लोकमान्य तिलक की विचार-धारा मे बहुत अधिक अन्तर नहीं है। दोनों यह मानते है कि सर्वभूतहित ही चरम उद्देश्य है और इसके लिए निष्काम व निस्स्वार्थ बुद्धि को भी दोनों अनिवार्य मानते है, जिसमे द्वेप या किसीको दु:ख देने की प्रवृत्ति न हो। अन्तर केवल यह है कि लोकमान्य तिलक के अनुसार अग्नि या रुद्र परमात्मा की भाति शारीरिक हिंसा भी निष्काम रूप से की जासकती है। लेकिन लोकमान्य का सिद्धान्त उसी स्थिति मे लागू हो सकता है, जब मनुष्य व्यक्तिगत राग-द्वेप से ऊपर उठकर सिद्ध या जीवनमुक्त हो जाय। अभी तो हमारा आदर्श म० गाधी का सिद्धान्त ही होसकता है।

मैं शायद कर्तव्याकर्तव्य के विचार मे बहुत दूर, बहुत गहरा चला गया। इतनी दूर जाने की मेरी इच्छा न थी। मेरा खयाल तो नागरिकशास्त्र के अपवादों की ओर तुम्हारा ध्यान खींचना मात्र था।

: २१ :

सत्यं शिवं सुन्दरं

२७-७-३८

आज से तीन महीने पहले मैंने तुम्हे जो पत्रमाला लिखनी शुरू की थी, वह समाप्त होने लगी है। इन पत्रों मे मैंने नागरिकों के अधिकार और कर्तव्या का विचार करने की कोशिश की है। शुरू के कुछ पत्रों मे मैंने नागरिक के अधिकारों पर जोर दिया है तो पिछले पत्रों मे नागरिक के कर्तव्यों पर। इस सब पर यदि हम और अधिक अन्दर जाकर विचार करेंगे, तो कर्तव्य और अधिकार मे कोई मौलिक अन्तर नहीं दीखता। जो एक के कर्तव्य है, वह दूसरे के अधिकार है। जो एक के अधिकार है, वह दूसरे के कर्तव्य है। एक का दूसरे को जीने देना कर्तव्य है, तो जीना दूसरे का अधिकार है। जब हम अपने लिए कोई चीज चाहते है,उसे अधिकार कह देते है, और जब वही चीज दूसरे को देते है, तब उसे कर्तव्य कह देते है। मनु ने धर्म का एक लक्षण 'स्वस्य च प्रियमात्मन' किया है। इसका भी यही मतलब है। कर्तव्य क्या है ? जो अपनेको प्रिय हो। मैं जीना चाहता हूँ, मै स्वतन्त्र रहना चाहता हूँ, मै अपना विकास चाहता हूँ। मैं दूसरे को भी जीने दूँ, स्वतन्त्र रहने दूँ और विकास करने दूँ। यही मेरा कर्तव्य है। इस उसूल पर व्यक्तियों की, समाजों की, देशों की और विश्व की प्रायः सभी समस्याओं का हल होजाता है। इस कर्तव्य की साधना मे—दूसरे के अधिकार की रक्षा मे सर्वभूतहित का सिद्धान्त काम करता है। जब मनुष्य प्राणिमात्र मे आत्मबुद्धि देखता है, तब हिंसा,

चोरी, डाका, दूसरे के अधिकार या धन के अपहरण का अवसर ही नहीं आता। विश्वबन्धुत्व की भावना मे स्वार्थत्याग का तत्त्व छिपा हुआ है। विश्वबन्धुत्व का मंत्र सिद्ध कर लेने पर न इटली अबीसीनिया पर आक्रमण करेगा, न चीन जापान पर, और न ब्रिटेन भारत पर शासन करेगा। सब मुल्क एक होंगे, एक-दूसरे के दुःख-सुख मे शामिल होंगे। विश्वबन्धुत्व का मंत्र सिद्ध कर लेने पर— अधिकार और कर्तव्य का समन्वय कर लेने पर, न कोई अछूत रहेगा और न कोई अत्याचार-पीडित। राबर्ट जी० इंगरसोल ने एक आदर्श समाज की कल्पना की थी, उसके कुछ अंश देकर इस पत्र को समाप्त करूगा। वे लिखते है :—

"मैं सुखी गृहस्थों के शान्तिमय चक्की-चूल्हों से भरा-पूरा एक ऐसा समाज देख रहा हूं, जो पृथ्वीतल पर सबसे अग्रगामी है। मैं एक ऐसा समाज देख रहा हूँ, जिसमे दासत्व का नाम तक नही है, जिसमे प्रत्येक मनुष्य स्वाधीनता और आनन्द के साथ विचरण कर रहा है। मैं एक ऐसा समाज देख रहा हूँ, जिसमे सोने के सिंहासन चकनाचूर पडे हुए है और अत्याचारी तथा निरंकुश शासक खाक मे मिल गये है। मैं देखता हूँ कि आलस्यमय सत्तावाद ससार से उठ चुका है।

"मैं सभी प्रकार की कलाओं मे सजा हुआ एक सुखमय समाज देख रहा हूँ, जिसका वायुमण्डल सगीत की असंख्य रागिनियों से गूँज रहा है और प्रत्येक मनुष्य के ओष्ठो पर सत्य और प्रेम से सने शब्द केलि कर रहे है। मेरा ससार निर्वासन की आहों से और कारावास के शोकजनित उद्गारों से अनभिज्ञ है। मेरे ससार मे फाँसी की छाया नहीं पडती। इस दुनिया मे मिहनत का पूरा फल मिल जाता है।

"मैं एक ऐसा समाज देख रहा हूँ, जिसमे कोई दीनतापूर्वक हाथ

पसारे नहीं खड़ा है, जहाँ दरिद्र अपना करुणाजनक विलाप नहीं सुना रहा है, जहाँ भूठ व कृपणता के नीले होठ भी नहीं दिखाई देते और न उपालंभ की क्रूर दृष्टि है।

"मैं शरीर और मस्तिष्क के रोगों से रहित एक जाति को देख रहा हूँ। सारी-की-सारी जाति स्वस्थ और सुन्दर। शारीरिक सौन्दर्य और मानसिक औदार्य मानों गठजोड़ा बाँधे खड़े हैं।"

ऐसा समाज बनाने के लिए मानव-समाज को अभी बहुत दूर तक चलना होगा—बहुत प्रयत्न करना होगा। इसके लिए लोकमान्य तिलक के कथनानुसार पहले कुल, जाति और देशाभिमान की मंजिलें बनानी होंगी, पहले निचली सीढ़ियों पर चलना होगा या पहले छोटे वृत्तों को पार करना होगा। और अभी तो हम भारतीयों को इन्हीं मजिलों को बनाना है। हम भारतीय, जो कुटुम्ब, नगर या देश के प्रति ही अपने कर्तव्य नहीं जानते, विश्वबन्धुत्व की कल्पना करने लगें, यह मजाक नहीं तो क्या है? हमारा उद्देश्य अवश्य ऊंचा है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि हम अपने नजदीक के पहले कर्तव्यों की उपेक्षा कर जावें। अभी तो हम लेना ही नहीं जानते, हमें लेना भी सीखना है और देना भी। हम अपने नागरिक अधिकारों को पह-चानें, उन्हें लेने का प्रयत्न करें और उसके साथ कर्तव्यों की भी उपेक्षा न करें। अधिकार और कर्तव्य के समन्वय से ही 'सत्य शिव सुन्दरं' की उत्पत्ति होगी, जो हमारा उद्देश्य है।

अभी डाकिये ने लाकर तुम्हारा पत्र दिया है। माँ बिस्तरे से उठ बैठी है, यह जानकर दिल बहुत खुश हुआ। उनके चरणों में मेरा प्रणाम। अब दो-चार दिन में स्वयं आकर उनके दर्शन करूँगा और तुम्हारा काम भी देखूँगा। यह पत्रमाला भी अब खात्मे पर ही है।

: २२ :

भारतीय नागरिक के क़ानूनी अधिकार

३०-७-३८

नागरिकों के अधिकारों और कर्तव्यों के बारे मे मैं जो-कुछ कहना चाहता था, प्रायः सब संक्षेप से पिछले पत्रों मे लिख चुका हू। अब ज्यादा लिखने की जरूरत नहीं, लेकिन एक विषय की ओर तुम्हारा ध्यान खास तौर पर खींचना चाहता हूँ। हरेक देश मे प्रजा को जो कानूनी अधिकार प्राप्त है, उनका ज्ञान प्रजा को अवश्य रखना चाहिए। इस दृष्टि से प्रत्येक भारतीय नागरिक को भी देश के कानूनों का साधारण ज्ञान अवश्य होना चाहिए। कानून वहुत पेचीदा विषय है—खासकर आजकल, जबकि वकील उनका अभिप्राय निकालने के लिए वहुत खींचातानी करते है और शब्दों से बिलकुल भिन्न अर्थ तक निकाल देते है, फिर भी सक्षेप से मै कुछ खास कानूनों की ओर तुम्हारा ध्यान खींचना चाहता हूँ।

साधारणतः मारपीट, किसीको चोट पहुँचाना, किसीको पकड लेना या उसे जान से मार देना जुर्म है। इसके अलावा और भी सैकडों जुर्मों का भारतीय दण्ड विधान मे जिक्र है। लेकिन इसके कुछ महत्त्वपूर्ण अपवाद भी हैं। नीचे लिखी हालतों मे इण्डियन पिनल कोड की ७६ से १०६ तक की धाराओं मे ये काम जुर्म नहीं माने जाते.—

१ सेनापति की कानून के अनुसार दी हुई आज्ञा पाकर एक सैनिक किसी पर गोली चला सकता है।

२. अदालत के जज अपने न्यायसम्बन्धी कार्य मे कोई भी काम करें तो वे किसी जुर्म के दोषी नहीं, चाहे कानूनन उनको ऐसा करने का इख्तियार न भी हो, लेकिन शर्त यह है कि सच्चे दिल से उनका विश्वास हो कि उनको ऐसा काम करने का कानूनन अख्तियार है।

३ अदालत की आज्ञानुसार किया हुआ कोई भी कार्य जुर्म नहीं, चाहे अदालत की वह आज्ञा गैर-कानूनी ही क्यों न हो, बशर्ते कि कार्य करनेवाला सच्चे दिल से यह समझता हो कि अदालत को ऐसी आज्ञा देने का अधिकार है।

४. आकस्मिक दुर्घटना के कारण। एक शख्स कुल्हाड़े से लकड़ी काट रहा है। कुल्हाडा अकस्मात् दस्ते से अलग होकर पास खड़े हुए किसीपर जा गिरता है और उसकी चोट से वह मर जाता है।

५. किसी भारी नुकसान को बचाने के इरादे से कोई काम करने पर। शहर के एक भाग मे आग लगी है। आग को बढने से रोकने के लिए यदि कुछ घरों को गिराना पड़े तो यह जुर्म नहीं, बशर्ते कि ऐसा करना बिलकुल ही आवश्यक हो और ऐसा करनेवाला जानोमाल की हिफ़ाजत के लिए ऐसा काम नेकनीयती से करे।

६. ७ साल से कम उम्र के या १२ साल तक के ऐसे बच्चे से, जिसका दिमाग व दिल इतना विकसित न हुआ हो कि वह अपने किये हुए का मतलब समझ सके, किया गया कोई जुर्म।

७ जिसका दिमाग ठिकाने नहीं है, ऐसे पागलपन की अवस्था मे कोई जुर्म करने पर भी जुर्म नहीं माना जाता।

८ शराब आदि के नशे मे कोई काम करने पर, लेकिन जब शराब आदि नशा अपनी इच्छा से या अपनी जानकारी मे न लिया

हो, किसी दूसरे ने धोखे से या ज़बर्दस्ती नशा पिला दिया हो।

९ क्रिकेट, फुटबाल या कुश्ती आदि खेलों मे सभी खिलाडी खतरा उठाकर भी खेलते है। खेल-खेल मे गिरकर या मर्मस्थान पर गेंद लगने से कोई मर जाता है, या घायल होजाता है, तो गिराने या गेंद मारनेवाला अपराधी नहीं होगा, बशर्ते कि उसका इरादा जान लेने या सख्त चोट पहुँचाने का न हो और उसको इस बात का ज्ञान न हो कि ऐसा करने से उस शख्स के मरने या उसे सख्त चोट पहुँचने की कोई सम्भावना है और उस शख्स की अवस्था १८ वर्ष से कम न हो।

१० किसी के उपकार की इच्छा से कोई काम करने पर। एक डाक्टर रोगी के भले के लिए आपरेशन करता है, लेकिन मरीज आपरेशन के समय मर जाता है, तो डाक्टर मुजरिम साबित नहीं होगा। एक डाक्टर गर्भवती की प्राण-रक्षा की आवश्यकता से तो गर्भ गिरा सकता है, परन्तु दूसरी अवस्था मे नहीं, चाहे उसमे गर्भवती की अपनी रजामन्दी भी क्यों न हो। एक व्यक्ति को शेर ने पकड लिया है। उसे बचाने के लिए दूसरे शख्स ने शेर पर गोली चलाई, लेकिन गोली शेर को न लगकर उसी आदमी को लगी, तो भी कोई जुर्म साबित नहीं होगा, क्योंकि उसका इरादा हत्या का नहीं, प्राण-रक्षा का था।

११ मृत्यु का भय दिखाने पर कत्ल के सिवा कोई जुर्म करने पर। डाकू एक लुहार को डरा-धमकाकर उसे अपने औजारों से एक मकान का ताला तोडने के लिए लाचार करें, तो वह अपराधी नहीं माना जायगा, क्योंकि उसने प्राणभय से ऐसा काम किया।

१२. बहुत ही हलकी चोट या नुकसान पहुचाने पर, जिसे साधारण बुद्धि का कोई भी व्यक्ति महत्त्व न देगा, जुर्म नहीं होता। एक व्यक्ति ने सरकारी पेड से, जो बंजर जमीन पर खड़ा था, कुछ पत्ते तोड लिये जिनकी कीमत छदाम भी न होगी। उसने कोई जुर्म नहीं किया।

१३ इन सब अपवादों से अधिक महत्त्वपूर्ण अपवाद है आत्म-रक्षा का अधिकार। आत्म-रक्षा के लिए किया गया कोई काम क़ानून की नजरों मे कोई जुर्म नहीं है। कानून के अनुसार प्रत्येक नागरिक को अपने या किसी दूसरे के प्राणों की हत्या आदि से व माल की चोरी, डाके आदि से रक्षा करने का अधिकार है। लेकिन दो-तीन बातों का खयाल रखना चाहिए। पहले यह अच्छी तरह देख लेना चाहिए कि दरअसल उसकी जान जाने का भय है भी या नहीं, क्यों-कि यह साबित करने की जिम्मेदारी उसीपर है कि दरअसल उसकी जान जाने का मौका आगया था और इसीलिए उसे अपनी जान बचाने के लिए दूसरे पर वार करना पड़ा। फिर दूसरे पर कम-से-कम खतरनाक वार, जितना अपनी रक्षा के लिए जरूरी हो, करना चाहिए। एक दुर्बल स्त्री को चोरी करते समय जान से मार देना जुर्म है। अगर कोई अफसर या कर्मचारी अपने अफ़सर या अदालत की आज्ञा से किसीको गिरफ्तार करते हों या फासी की सजा देते हों, तो उस समय आत्म-रक्षा का यह अधिकार प्रयोग मे नहीं लाया जा सकता। स्त्री पर बलात्कार के समय या स्त्री और बच्चे के अप-हरण के समय, या घातक प्रहार के समय, दूसरे पर घातक प्रहार तक करने की कानून अनुमति देता है, लेकिन यह हमेशा खयाल रखना चाहिए कि प्रहार कम-से-कम खतरनाक हो। अन्य अव-

स्थाओं मे घातक प्रहार की इजाजत कानून नहीं देता। जान या माल के नुकसान का अन्देशा समाप्त होनेपर कानून उपर्युक्त अधिकार ले लेता है। डाके, घर मे रात को सेंध, शरारत से मकान, जहाज आदि को आग लगाना, चोरी या ऐसी शरारत के समय, जिससे जान तक जाने का अन्देशा हो, दूसरे को जान से मार तक डालने की इजाजत कानून देता है। लेकिन चोरी व शरारत आदि की अन्य अवस्थाओं मे अपराधी की जान लेने का अधिकार नहीं है, यद्यपि अपराधी को और तरह का नुकसान पहुँचाया जा सकता है।

इसके अलावा भी बहुत-से कानून हैं। इंग्लैण्ड के 'हैबियस कार्पस' का जिक्र मैं किसी पत्र मे कर चुका हूँ। भारत मे भी यह कानून लागू है, यद्यपि उसी रूप मे नहीं। भारत-सरकार ने भारतीयों के दमन के लिए बगाल स्टेट प्रिजनर्स रेगुलेशन १८१८, मद्रास रेगुलेशन (२) १८१६, बम्बई रेगुलेशन (३५) १८२७, स्टेट प्रिजनर्स एक्ट १८५०, व १८५८ और बंगाल क्रिमिनल ला एमेण्डमेण्ट एक्ट १६२५ (दूसरी धारा) आदि कानून बना रक्खे हैं। इन कानूनों के मातहत गिरफ्तार शख्स पर 'हैबियस कार्पस' का कानून लागू नहीं होता। यह नियम पुलिस व अन्य हाकिमों की जनता पर अनुचित कार्रवाइयों पर नियन्त्रण रखने के लिए बनाया गया है। इसके अनुसार पुलिस का फर्ज है कि हरेक गिरफ्तार व्यक्ति को अदालत मे हाजिर किया जाय और उसके बारे मे अदालत की हिदायतें मानी जायें। किसी गिरफ्तार शख्स को छोड़ने की अदालत आज्ञा दे सकती है।
अभियुक्त यह समझे कि एक अदालत मे उसके न्याय की स
नहीं है तो वह हाईकोर्ट को अदालत बदलने की दरख्वास्त दे स
इसी तरह अभियुक्त पुलिस के दुर्व्यवहार की अदालत से

कर सकता है और यह दरख्वास्त कर सकता है कि मुझे पुलिस की मातहती मे हटाकर अदालती हवालात मे रक्खा जाय, जहाँ पुलिस उसमे दुर्व्यहार न कर सके, उसे तंग न कर सके।

साधारणतया कानून अभियुक्त को वे सब सहूलियतें देता है, जिनमे वह अपनेको निर्दोष साबित कर सके। एक शख्स को पुलिस ने किसी जुर्म के सन्देह मे गिरफ्तार कर लिया है। वह यदि चाहे, तो अपना मुकदमा लड़ने के लिए वकील को हवालात मे बुला सकता है और उससे सलाह-मशविरा कर सकता है। अधिकारियों को इसकी व्यवस्था करनी होगी। जबतक किसी शख्स को सजा नहीं मिलती, वह मुजरिम नहीं समझा जा सकता और हवालात मे उससे कैदी का-सा व्यवहार नहीं किया जा सकता। वह अपने कपड़े रख सकता है, अपना भोजन मंगा सकता है। लेकिन पुलिस उसे ऐसा काम करने नहीं देगी, जिससे वह पुलिस की जाँच मे अड़चन पैदा कर सके। यदि उसपर अभियोग बहुत संगीन नहीं है, या उसको जाँच मे अड़चन का कोई अन्देशा नहीं है, तो पुलिस अधिकारी या अदालत उसे जमानत या जाती मुचलका लेकर इस शर्त पर रिहा कर सकते है कि उसे निश्चित दिन अदालत मे हाजिर होना पड़ेगा और तबतक वैसा अपराध फिर न करने की जमानत देनी होगी। मुकदमे की प्रारम्भिक कार्रवाई के बाद जब अदालत अभियुक्त पर फर्द-जुर्म लगाती है, तब अभियुक्त का हक है कि वह उसे बाकायदा समझाया जाय और उसकी एक नकल उसे बिना मूल्य दी जाय। इसी तरह फैसले की भी नक़ल उसे अदालत से लेने का अधिकार है। अगर किसी अदालत से अभियुक्ति को किसी कारण न्याय की आशा न रही हो, तो वह हाईकोर्ट में यह दरख्वास्त दे सकता है कि इस अदालत से मुकदमा बदला जाय,

लेकिन उसे वह कारण भी बताना पड़ेगा कि जिससे अदालत पर वह अविश्वास करता है। यदि एक मातहत अदालत का फैसला किसीको पसन्द नहीं है, तो उसे यह अधिकार है कि वह उससे ऊंची अदालत में न्याय प्राप्त करने के लिए अपील करे और उससे भी असंतुष्ट होने पर उससे ऊंची अदालत मे वह अपील कर सकता है।

प्रत्येक जिले की अदालतें तीन किस्मों मे बांटी गई है—दीवानी, फौजदारी और माल। दीवानी अदालत का हाकिम सबजज, सिविल-जज या मुसिफ कहलाता है। इनमे भी कई दर्जे होते है और वे खास हदतक के ही मुकदमे सुन सकते है। इन सबके फैसलों की अपील या तो जिला-जज के यहां होती है या सीधी हाईकोर्ट मे। दिल्ली मे ५,०००) से कम के मुकदमों की अपीलें जिला-जज के यहां और इससे ऊपर की हाईकोर्ट मे होती है। जिला-जज के फैसलों की अपील हाईकोर्ट मे होती है और हाईकोर्ट के फैसलों की प्रिवी-कौंसिल मे, बशर्ते कि मुकदमा आमतौर पर १०,०००) से ज्यादा का हो। अदालत खफीफा के फैसलों की निगरानी सीधी हाईकोर्ट मे होती है। मद्रास, बम्बई और कलकत्ता के शहरों मे जिला-जज का काम हाईकोर्ट के ही सुपुर्द रहता है। फौजदारी अदालत का हाकिम मजिस्ट्रेट कहलाता है। इनमे भी तीन किस्मे होती हैं, और वे खास हदतक के ही फैसले कर सकते हैं। जिले भर के सब मजिस्ट्रेटों के ऊपर एक जिला-मजिस्ट्रेट होता है। जिले मे अमन-चैन रखना भी इसीका काम होता है, और इसलिए जिले का पुलिस-विभाग भी इसके मातहत होता है। सेकण्ड व थर्ड क्लास के मजिस्ट्रेटों के फैसलों की अपीलें आमतौर पर जिला-मजिस्ट्रेट या किसी फर्स्टक्लास मजिस्ट्रेट के यहां होती है और बाकी सब मुकदमों की दौराजज के

कर सकता है और यह दरख्वास्त कर सकता है कि मुझे पुलिस की मातहती से हटाकर अदालती हवालात मे रक्खा जाय, जहाँ पुलिस उससे दुर्व्यवहार न कर सके, उसे तंग न कर सके।

साधारणतया कानून अभियुक्त को वे सब सहूलियतें देता है, जिनसे वह अपनेको निर्दोष साबित कर सके। एक शख्स को पुलिस ने किसी जुर्म के सन्देह मे गिरफ्तार कर लिया है। वह यदि चाहे, तो अपना मुकदमा लड़ने के लिए वकील को हवालात मे बुला सकता है और उससे सलाह-मशविरा कर सकता है। अधिकारियों को इसकी व्यवस्था करनी होगी। जबतक किसी शख्स को सजा नहीं मिलती, वह मुजरिम नहीं समझा जा सकता और हवालात मे उससे कैदी का-सा व्यवहार नहीं किया जा सकता। वह अपने कपड़े रख सकता है, अपना भोजन मंगा सकता है। लेकिन पुलिस उसे ऐसा काम करने नहीं देगी, जिससे वह पुलिस की जाँच मे अड़चन पैदा कर सके। यदि उसपर अभियोग बहुत संगीन नहीं है, या उसको जाँच मे अड़चन का कोई अन्देशा नहीं है, तो पुलिस अधिकारी या अदालत उसे जमानत या जाती मुचलका लेकर इस शर्त पर रिहा कर सकते है कि उसे निश्चित दिन अदालत मे हाजिर होना पड़ेगा और तबतक वैसा अपराध फिर न करने की जमानत देनी होगी। मुकदमे की प्रारम्भिक कार्रवाई के बाद जब अदालत अभियुक्त पर फर्द-जुर्म लगाती है, तब अभियुक्त का हक है कि वह उसे बाकायदा समझाया जाय और उसकी एक नकल उसे बिना मूल्य दी जाय। इसी तरह फैसले की भी नकल उसे अदालत से लेने का अधिकार है। अगर किसी अदालत से अभियुक्त को किसी कारण न्याय की आशा न रही हो, तो वह हाईकोर्ट में यह दरख्वास्त दे सकता है कि इस अदालत से मुकदमा बदला जाय,

लेकिन उसे वह कारण भी बताना पड़ेगा कि जिससे अदालत पर वह अविश्वास करता है। यदि एक मातहत अदालत का फैसला किसीको पसन्द नहीं है, तो उसे यह अधिकार है कि वह उससे ऊँची अदालत में न्याय प्राप्त करने के लिए अपील करे और उससे भी असंतुष्ट होने पर उससे ऊंची अदालत मे वह अपील कर सकता है।

प्रत्येक जिले की अदालतें तीन किस्मों मे बाँटी गई है—दीवानी, फौजदारी और माल। दीवानी अदालत का हाकिम सबजज, सिविल-जज या मुंसिफ कहलाता है। इनमे भी कई दर्जे होते है और वे खास हदतक के ही मुकदमे सुन सकते है। इन सबके फैसलों की अपील या तो जिला-जज के यहाँ होती है या सीधी हाईकोर्ट मे। दिल्ली मे ५,०००) से कम के मुकदमों की अपीलें जिला-जज के यहाँ और इससे ऊपर की हाईकोर्ट मे होती है। जिला-जज के फैसलों की अपील हाईकोर्ट मे होती है और हाईकोर्ट के फैसलों की प्रिवी-कौंसिल मे, बशर्ते कि मुकदमा आमतौर पर १०,०००) से ज्यादा का हो। अदालत खफीफा के फैसलों की निगरानी सीधी हाईकोर्ट मे होती है। मद्रास, बम्बई और कलकत्ता के शहरों मे जिला-जज का काम हाईकोर्ट के ही सुपुर्द रहता है। फौजदारी अदालत का हाकिम मजिस्ट्रेट कहलाता है। इनमे भी तीन क़िस्मे होती है, और वे खास हदतक के ही फैसले कर सकते हैं। जिले भर के सब मजिस्ट्रेटों के ऊपर एक जिला-मजिस्ट्रेट होता है। जिले मे अमन-चैन रखना भी इसीका काम होता है, और इसलिए जिले का पुलिस-विभाग भी इसके मातहत होता है। सेकण्ड व थर्ड क्लास के मजिस्ट्रेटों के फैसलों की अपीलें आमतौर पर जिला-मजिस्ट्रेट या किसी फर्स्टक्लास मजिस्ट्रेट के यहाँ होती है और बाकी सब मुकदमों की दौराजज के

यहाँ। दौरा जज भारी से भारी सजा देसकता है, लेकिन फाँसी की सजा के लिए हाईकोर्ट की मंजूरी लेने की जरूरत होती है। दौरा जज के फैसलों की अपील हाईकोर्ट मे होती है। फौजदारी मुकदमों मे दीवानी मुकदमों की तरह एक के बाद एक अपील नहीं होसकती। अलबत्ता क़ानूनी नुकतों के ऊपर हाईकोर्ट मे निगरानी हो सकती है। माल की अदालतों के हाकिम तहसीलदार, डिप्टीकलक्टर या असिस्टेण्ट कलक्टर कहलाते है। ये हाकिम अदालती हैसियत मे जमीदारों व किसानों के मुकदमे करते है और अफसरी हैसियत से मालगुज़ारी वसूल करते है। कलक्टर जिले-भर मे इन सबके ऊपर होते है। इनके फैसलों की अपीले या तो कलक्टर के यहाँ होती है या कमिश्नर के यहाँ। कमिश्नर के ऊपर अपील बोर्ड आफ रेवेन्यू में की जाती है। कुछ प्रान्तों मे यह स्थान फाइनेंशल कमिश्नर या रेवेन्यू कमिश्नर को मिला हुआ है।

राजनीतिशास्त्र और नागरिकशास्त्र का तकाजा है कि हर मुल्क मे न्याय और शासन के विभाग अलग-अलग हों। अधिकारियों के अनुचित निर्णय के विरुद्ध प्रजा को यह अधिकार होना चाहिए कि वह उनके विरुद्ध अदालत मे कार्रवाई कर सके। भारत मे ये दोनों विभाग पूरे तौर पर अलग नही है। अदालत और शासन का काम अधिकाश तौर पर एक ही व्यक्ति के हाथ मे होता है। एक ही शख्स डिप्टी-कमिश्नर के नाते कोई कार्रवाई करता है, जिला-मजिस्ट्रेट के नाते उसके विरुद्ध शिकायत सुनता है। माल-अफसर ही लगान-बन्दोवस्त लगाता है और वही अपने वरखिलाफ की गई दरखास्त सुने, यह कुछ विचित्र-सा है, लेकिन यह भारतीय शासन का दोप है। फिर भी प्रजा को अधिकार है कि किसी अनुचित

कार्रवाई के विरुद्ध वे हाईकोर्ट मे अपील कर सकते है। जिला-मजिस्ट्रेट या प्रान्तीय सरकार किसी अखबार या पुस्तक के प्रकाशन को आपत्तिजनक करार देकर प्रेस-ऐक्ट के मातहत जमानत मांगते या उसे ज़ब्त करते है, तो लेखक, सम्पादक या प्रकाशक हाईकोर्ट मे उसके विरुद्ध अपील कर सकते है। ऐसी कोई दरखास्त हाईकोर्ट का एक बेंच, जिसमे तीन जज होंगे, सुनेगी।

दौरा सुपुर्द किये जानेवाले मुकद्दमों मे प्रत्येक अभियुक्त को अधिकार है कि उसका मुकदमा जज द्वारा जूरी या असेसरों की सहायता से सुना जाय। असेसर तो जज को सलाह मात्र दे सकते है, लेकिन जूरी का बहुमत अदालत को मानना जरूरी है। अभियुक्त जूरी के लिए दरखास्त कर सकता है, और अभियुक्त यदि किसी जूरी के किसी सदस्य के लिए यह समझे कि वह किसी भी कारण निष्पक्ष नहीं है तो वह उसे बदलने का अनुरोध भी कर सकता है। असेसरों की सख्या तीन-चार तक होती है, जबकि जूरी के सदस्य ५-७ या ९ होते है। ऐसे किसी भी अभियोग मे जिसकी सजा मौत हो, ७ और सभव हो तो ९ जूरी-सदस्य होने चाहिएं।

साधारणतः सभी मामलो मे अभियुक्त सफाई देने के लिए वकील नियत करता है, लेकिन बहुत दफा गरीब अभियुक्त ग़रीबी की वजह से वकील नहीं भी कर सकता। यदि कोई ऐसा अभियोग पेश हो, जिसकी सजा मौत हो, तो वह महज अपनी ग़रीबी की वजह से सफाई न दे सके और मौत की सजा पाये, इससे बचने के लिए सरकार का फर्ज है कि अपने व्यय से उसके लिए योग्य वकील नियत करदे। इसी तरह अगर कोई अभियुक्त अपनी सफाई देने के लिए किन्हींको गवाह के तौर पर बुलाना जरूरी समझता है, तो

अदालत का फर्ज है कि वह उसे बुलाने की व्यवस्था करे। लेकिन अदालत को भी यह अधिकार है कि वह किसीको गवाही को अनावश्यक समझकर बुलवाने से इन्कार करदे। इस तरह इन नियमों द्वारा यह व्यवस्था करने का प्रबंध किया गया है कि अभियुक्त अपनेको निर्दोष सिद्ध करने के बहुत-से अवसर पा सके।

बहुत दफा हाकिम या पुलिस-अधिकारी किसीको गिरफ्तार कर लेते है या उसके घर की तलाशी लेने लगते है। इस सबंध मे भी नागरिकों को कुछ अधिकार प्राप्त है, जिनका वे उपयोग कर सकते है। जिन मामलों मे पुलिस किसी को बिना वारंट गिरफ्तार करती है, उनमे पुलिस का यह फर्ज है कि २४ घण्टे के अन्दर-अन्दर वह किसी मजिस्ट्रेट के सामने उसे पेश करे और यदि अभी अदालत मे उसपर मुकदमा चलाने की पूरी तैयारी न हुई हो तो उससे मुहलत माँग सकती है, लेकिन यह मुहलत एकसाथ १५ दिन से अधिक की नहीं मिल सकती। घर आदि की तलाशी लेते समय पुलिस का कर्तव्य है कि वह अदालत का सर्चवारण्ट या उच्च अधिकारी का आज्ञापत्र दिखाये। तलाशी के समय मुहल्ले के दो प्रतिष्ठित नागरिकों का रहना जरूरी है, जो यह साबित करें कि दरअसल कोई वस्तु घर से मिली है। तलाशी लेते समय किसीका अपमान करने का हक पुलिस-कर्मचारी को नहीं है। तलाशी लेनेवाले पुलिस-कर्मचारियों के बारे मे यह तसल्ली कर लेनी चाहिए कि उनके पास तो वह आपत्तिजनक वस्तु नहीं है, जिसकी वे तलाश कर रहे है।

कानून का विषय बहुत पेचीदा है और इसकी भूलभुलैया मे गहरा जाना बहुत स्थान की अपेक्षा रखता है। अतः मैं सिर्फ दो-एक नियमों का निर्देश करके ही इस अन्तिम पत्र को समाप्त करूँगा। नागरिकों

का एक प्रधान कर्तव्य अपने परिवार का पालन-पोषण है। यदि कोई नागरिक समर्थ होते हुए भी अपनी स्त्री और बच्चों का पालन नहीं करता, तो कानून के अनुसार स्त्री या सन्तान का अधिकार है कि पति या पिता से निर्वाह-व्यय लेने की अदालत में दरख़ास्त करे। इस स्थिति मे स्त्री को यह साबित करना होगा कि मैं अमुक कारण से इसके पास नहीं रहना चाहती और मैं स्वयं दुश्चरित्र भी नहीं हूँ। इसी तरह कोई पत्नी अपने पति के बलात्कार से भी अपनी मुक्ति कानून द्वारा पा सकती है।

कोई शख्स बिना किसी अपराध के दूसरे नागरिक पर मुकदमा चला दे, इससे बचने के लिए कानून मे दो व्यवस्थायें है। एक तो यह कि उसकी सफाई का सारा ख़र्च वादी को देना होगा। (उसी तरह प्रतिवादी को भी अपना मामला कमजोर होने पर वादी का ख़र्च बरदाश्त करना चाहिए।) दूसरी व्यवस्था यह है कि प्रतिवादी झूठा मुकदमा चलाने के लिए उससे हरजाने की मांग करे।

बदकिस्मती से एक नागरिक की आर्थिक स्थिति बहुत ख़राब हो जाती है और वह अपनी देनदारिया कोशिश करने पर भी नहीं चुका सकता। ऐसी हालत मे वह क्या करे ? इसके लिए कानून उसे दिवाला निकालने की अनुमति देदेता है, जिससे वह अपना जरूरी सामान रखकर और बाकी सब देकर सब देनदारियों से मुक्त होसकता है।

बहुत दफा हाकिम या पुलिस-कर्मचारी मानहानि के मुकदमे पत्र-प्रकाशकों व सार्वजनिक कार्यकर्ताओं पर चलाते है। इस बारे मे उन्हे मालूम होना चाहिए कि सार्वजनिक हित की दृष्टि से उपयोगी सत्य बात को लिखना या कहना मानहानि नहीं है। किसी सरकारी कर्म-चारी की सरकारी काम से सम्बद्ध हरकत या सार्वजनिक कार्यकर्ता

के सार्वजनिक प्रश्न से सम्बद्ध आचरण की नेकनीयती से आलोचना और अदालती कार्रवाई की सच्ची रिपोर्ट प्रकाशित करना भी मानहानि नही है। इसी तरह लेखक के लेख या कृति की नेकनीयती से आलोचना भी मानहानि की सीमा से बाहर है। लेकिन आलोचनीय व्यक्ति के खानगी जीवन या आचरण पर आक्षेप न हो।

रेलवे के सम्बंध मे जो नियम बने हुए है, उनके पालन के लिए रेलवे कर्मचारियों को विवश किया जा सकता है। गाडी मे रोशनी व पानी का प्रबंध करने और नियत संख्या से अधिक मुसाफिरों के होने पर गाडी की ज्यादा व्यवस्था करने के लिए रेलवे-अधिकारियो को बाधित करने का हक़ प्रत्येक मुसाफिर को है। यदि कोई रेलवे-कर्मचारी नियत संख्या से अधिक मुसाफिरों को गाडी मे जबरन बिठाने की कोशिश करे, तो कानूनन उसपर जुर्माना होसकता है। इसी तरह अन्य अनेक क्षेत्रों मे कानून तो बहुत बने हुए है, लेकिन नागरिक उनके पालन पर जोर नही देते, इसलिए वे न होने के बराबर होगये है। किसी सरकारी कर्मचारी के लिए रिश्वत लेना गुनाह है, लेकिन बीसियों जगह उनका रिश्वत लेना परम्परा के कारण आवश्यक-सा होगया है। इसका मुख्य कारण नागरिकों की अपने अधिकारों के प्रति उदासीनता ही है।

दूसरे भी बहुत-से नागरिक अधिकारों का निर्देश किया जा सकता है। मैंने तो कानून की प्रकृति व दिशा का परिचय भर देने की कोशिश की है। लेकिन मैं कानूनी अधिकारों की चर्चा के साथ ही एकबार फिर नागरिकों के कर्तव्यों की ओर भी तुम्हारा ध्यान खीचना चाहता हूँ। अधिकारों की अपेक्षा इनका महत्त्व ज्यादा है। अधिकारों और कर्तव्यों के समन्वय से ही दरअसल उन्नति हो सकती है।

परिशिष्ट—१

अल्पसंख्यक जातियों को गारण्टी

राष्ट्रसघ मे यूरोपीय राष्ट्रो की अल्पसख्यक जातियो के हितो के बारे मे कुछ धाराये बनाई गई थी। वे अल्पसख्यक गारण्टी सधि के नाम मे प्रसिद्ध है। उनमे से मुख्य निम्नलिखित है —

धारा ७७—सरकारी नौकरियो, खिताबो, सार्वजनिक समारोहो और कम्पनियो तथा सैनिक भरतियो मे सब जातियो के साथ एकसमान व्यवहार करना चाहिए।

धारा ७८—अल्पसख्यक जातियो को भी सगठन, सभा आदि के वही अधिकार होने चाहिएँ, जो अन्य जातियो को हो।

धारा ८०—खेती, व्यापार या व्यवसाय आदि के कामो मे अल्पसख्यक जातियो से भी वही व्यवहार करना चाहिए, जो बहुसख्यक जातियो से किया जाय। बहुसख्यक जातियो पर लागू होनेवाले नियम ही अल्पसख्यक जातियो पर लागू होगे।

धारा ८१—अल्पसख्यक जातियो को भी दान पर चलनेवाली अपनी सामाजिक, सास्कृतिक और धार्मिक सस्थाये स्थापित करने, चलाने और नियन्त्रण करने का अधिकार होना चाहिए।

कांग्रेस द्वारा आश्वासन

भारतीय राष्ट्रीय महासभा (काग्रेस) ने भी इस सम्बन्ध मे अपनी नीति की घोषणा निम्न शब्दो मे की है —

१ क—शासनविधान की मौलिक अधिकार से सम्बन्धित धारा में जातियो को यह आश्वासन भी दिया जाय कि उनकी सस्कृति, भाषा, धर्म ग्रन्थ, शिक्षा, पेशा और धार्मिक व्यवहार तथा धर्मादि की रक्षा की जायगी।

ख—विधान मे खास धाराये रखकर जातियो के निजी क़ानूनो की रक्षा की जायगी।

ग— विभिन्न प्रान्तो मे अल्पसख्यक जातियोके राजनैतिक तथा अन्य अधिकारो की रक्षा करना सघ-सरकार के ज़िम्मे होगा और ये काम उसके अधिकार-क्षेत्र की सीमा मे होगे।

२ तमाम बालिग स्त्री-पुरुष मताधिकार के अधिकारी होगे।

३ क—भारत के भावी शासन-विधान में प्रतिनिधित्व का आधार सम्मिलत निर्वाचन होगा।

ख—सिंध के हिन्दुओ, आसाम के मुसलमानो और पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त तथा पजाब के सिक्खो और किसी भी ऐसे प्रान्त के हिन्दू और मुसलमानो के लिए, जहाँ उनकी सख्या आबादी के २५ फी सदी से भी कम हो, सघीय और प्रान्तीय धारासभाओ में आबादी के आधार पर स्थान सुरक्षित रक्खे जायँगे और उनके अलावा अधिक स्थानो के लिए भी उम्मीदवार के रूप मे खडे होने का अधिकार होगा।

४ पदो पर नियुक्तियाँ निष्पक्ष सर्विस कमीशनो के द्वारा होगी। नौकरियो के लिए आवश्यक न्यूनतम योग्यता का निर्णय भी ये कमीशन करेगे और कार्य के सुचारु रूप से चलने का तथा नौकरियो के लिए तमाम जातियो को समान अवसर मिले इस सिद्धान्त का, और वे बहुत कुछ योग उसमे दे सके इस बात का, वे पूरा खयाल रक्खेगे।

५ सघीय और प्रान्तीय मन्त्रिमण्डल के निर्माण मे अल्पसख्यक जातियो के हित एक निश्चित प्रथा के अनुसार मान्य होगे।

६ पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त तथा सिंध में (अलग प्रान्त बनाकर, बशर्ते कि आर्थिक दृष्टि से अनुचित न हो) अन्य प्रान्तो की-सी शासन-व्यवस्था होगी।

परिशिष्ट—२

कांग्रेस का स्वराज्य

भारतीय कांग्रेस ने एक प्रस्ताव द्वारा स्वराज्य की एक रूप-रेखा-सी खींची थी, जिसमें प्राय सभी नागरिक अधिकारो का ज़िक्र किया गया था। वह प्रस्ताव निम्नलिखित है —

"साधारण जनता की तबाही का अन्त करने के उद्देश्य से यह आवश्यक है कि राजनैतिक स्वतन्त्रता में लाखो भूखो मरने वालो की वास्तविक आर्थिक स्वतन्त्रता भी निहित हो। इसलिए यह कांग्रेस घोषित करती है कि उसकी ओर से स्वीकृत होनेवाले किसी भी शासन-विधान में नीचे लिखी बातो की व्यवस्था रहनी चाहिए —

मौलिक अधिकार और कर्तव्य—(१) भारत के प्रत्येक नागरिक को प्रत्येक विषय मे, जोकि कानून और सदाचार के विरुद्ध न हो, अपनी स्वतन्त्र राय प्रकट करने, स्वतन्त्र संस्थाये और संघ बनाने और बिना हथियार के शान्तिपूर्वक एकत्र होने का अधिकार है।

(२) भारत के प्रत्येक नागरिक को अन्तरात्मा का अनुसरण करने और सार्वजनिक शान्ति व सदाचार में बाधक न होनेवाले धार्मिक विश्वास और आचरण की स्वतन्त्रता है।

(३) अल्पसंख्यक जातियो और भिन्न भाषा-भाषी वर्ग की संस्कृति, भाषा और लिपि की रक्षा की जायगी।

(४) भारत के सब नागरिक कानून की दृष्टि मे बिना किसी जाति, विश्वास अथवा लिंग के भेद-भाव के समान हैं।

(५) सरकारी नौकरियो, अधिकार व सम्मान के ओहदो और किसी भी व्यापार या धन्धे के करने मे किसी भी नागरिक स्त्री-पुरुष को धर्म, जाति, विश्वास अथवा लिंग के कारण अयोग्य नहीं ठहराया जायगा।

(६) सरकारी अथवा सार्वजनिक खर्च से बने, अथवा नागरिको द्वारा सार्वजनिक उपयोग के लिए समर्पित कुओ, सडको, पाठशालाओ और सार्वजनिक आवागमन के स्थानो के सम्बन्ध मे सब नागरिको के अधिकार और कर्तव्य समान है।

(७) हथियारो के सम्बन्ध मे बनाये गये नियम और मर्यादा के अनुसार प्रत्येक नागरिक को हथियार रखने और धारण करने का अधिकार है।

(८) कानूनी आधार के बिना किसी तरह किसी भी मनुष्य की स्वतन्त्रता न छीनी जायगी और न किसीके घर और जायदाद मे प्रवेश और कुर्की या जब्ती की जायगी।

(९) सरकार सब धर्मों के प्रति तटस्थ रहेगी।

(१०) बालिग उम्र के तमाम मनुष्यो को मताधिकार होगा।

(११) राज्य मुफ्त और अनिवार्य्य प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था करेगा।

(१२) सरकार किसीको खिताब न देगी।

(१३) मौत की सजा उठादी जायगी।

(१४) भारत का प्रत्येक नागरिक भारत-भर मे भ्रमण करने, उसके किसी भाग मे ठहरने या बसने, जायदाद खरीदने और कोई भी व्यापार या धन्धा करने मे स्वतन्त्र होगा और कानूनी कार्रवाई व रक्षा के विषय में, भारत के सब भागो मे, उसके साथ समानता का व्यवहार होगा।

२. **श्रमिक**—(क) आर्थिक जीवन के सगठन मे न्याय के सिद्धान्त अवश्य सन्निहित होने चाहिएँ, जिससे जीवन-निर्वाह का एक उपयुक्त स्टैण्डर्ड प्राप्त होजाय।

(ख) सरकार कारखानो के मजदूरो के स्वार्थों की रक्षा करेगी और उपयुक्त कानून द्वारा एव अन्य उपायो से उनके जीवन-निर्वाह के लिए

पर्याप्त मजदूरी, काम के लिए आरोग्य-प्रद परिस्थिति, मज़दूरी के घटो की मर्यादा, मालिको और मज़दूरो के बीच के झगडो के निपटारे के लिए उपयुक्त साधन और बुढापा, बीमारी तथा बेकारी के आर्थिक परिणामो के विरुद्ध रक्षा का उपाय करेगी।

(३) दासत्व या लगभग दासत्व जैसी दशा से मज़दूर मुक्त होगे।

(४) मज़दूर स्त्रियो की रक्षा और प्रसूति काल के लिए पर्याप्त छुट्टी का विशेष प्रबन्ध होगा।

(५) स्कूल मे जा सकने योग्य आयु के लडके खानो और कारखानो मे नौकर न रक्खे जावेगे।

(६) किसान और मज़दूरो को अपने हितो की रक्षा के लिए सघ बनाने के अधिकार होगे।

कर और व्यय–(७) ज़मीन की मालगुज़ारी और लगान का तरीका बदला जायगा और छोटे किसानो को वर्तमान कृषि-कर और मालगुजारी मे तुरन्त और यदि आराज़ी से लाभ न होता हो तो आवश्यक समय तक के लिए छूट देकर या मुक्त करके कृषको के बोझ का न्याययुक्त निपटारा किया जायगा, और इसी उद्देश्य से लगान-अदायगी की उक्त मुक्ति और भूमि-कर की कमी से छोटी ज़मीनो के मालिको को होनेवाली हानि की पूर्ति एव निश्चित तादाद से अधिक की भूमि की मूल आय पर क्रमश बढनेवाला कर लगाकर की जायगी।

(८) एक न्यूनतम निश्चित रकम के अलावा की जायदाद पर क्रमागत विरासत कर लिया जायगा।

(९) फौजी ख़र्च मे बहुत कमी की जायगी, जिसमे वर्तमान से वह कम-से-कम आधा रह जायगा।

(१०) मुल्की विभाग के व्यय और वेतन मे बहुत कमी की जायगी।

खास तौर पर नियुक्त किये गये विशेषज्ञ अथवा ऐसे ही व्यक्ति के सि
राज्य के किसी भी नौकर को एक निश्चित रकम के सिवा, जोकि आ
तौर पर ५००J मासिक से अधिक न होनी चाहिए, अधिक वेतन न ि
जायगा।

(११) हिन्दुस्तान में बने हुए नमक पर कोई कर नही लिया जाय

आर्थिक कार्यक्रम–(१२) राज्य देशी कपडे की रक्षा करेगा अ
इसके लिए ब्रिटिश वस्त्र और सूत को देश मे न आने देने की नीति अ
आवश्यक अन्य उपायो का अवलम्बन करेगा। राज्य अन्य देशी वस्त्रो
भी, जब कभी आवश्यक होगा, विदेशी प्रतियोगिता से रक्षा करेगा।

(१३) औषधियो के काम के सिवा नशीले पेय और पदार्थ सदा
लिए बन्द कर दिये जायेंगे।

(१४) हुण्डावन और विनिमय का नियन्त्रण राष्ट्र-हित के ि
होगा।

(१५) मुख्य उद्योगो और विभागो खनिज साधनो रेलवे, ज
मार्ग, जहाज़रानी और सार्वजनिक आवागमन के अन्य साधनो पर रा
अपना अधिकार और नियन्त्रण रक्खेगा।

(१६) कृषको के ऋण के उद्धार के उपाय और प्रत्यक्ष या अ
त्यक्ष रूप से लिये जानेवाले ऊँचे दर के व्याज पर सरकार का निय
होगा।

(१७) नियमित सेना के सिवा राष्ट्र-रक्षा का साधन सगठित क
के लिए राज्य नागरिको की सैनिक-शिक्षा की व्यवस्था करेगा।

सस्ता साहित्य मण्डल

'सर्वोदय साहित्य माला' की पुस्तकें

जीवन ।=)
ा-साहित्य १)
ल वेद ॥)
ा और व्यभिचार ॥=)
जिक कुरीतियाँ
त) ॥)
ा के स्त्री-रत्न
ा भाग) ३)
ता (अप्राप्य) १।=)
र्य-विज्ञान ॥=)
का इतिहास २)
ा-विज्ञान १॥)
का सम्पत्ति शास्त्र
ाप्य) ॥≡)
का-प्रभुत्व ॥)
ाप्य)
ा अफ्रिका का
ग्रह १)
की आवाज़(अप्राप्य)।–)
ने की राह पर ॥=)
की अग्नि-परीक्षा ।–)
शिक्षा ।)
ाग ।=)
र की करतूत =)
ागरिक सभ्यता ॥)
में उजाला ॥)

२३—स्वामीजी का बलिदान (अप्राप्य) ।–)
२४—हमारे जमाने की गुलामी (जब्त) ।)
२५—स्त्री और पुरुष ॥)
२६—घरो की सफाई ।=)
२७—क्या करे ? १॥)
२८—हाथ की कताई-बुनाई (अप्राप्य) ॥–)
२९—आत्मोपदेश ।)
३०—यथार्थ आदर्श जीवन (अप्राप्य) ॥–
३१—जब अंग्रेज़ नहीं आये थे ।)
३२—गंगा गोविंदसिंह(अप्राप्य)॥=)
३३—श्रीराम चरित्र १।)
३४—आश्रम-हरिणी ।)
३५—हिंदी मराठी कोष(अप्राप्य)२)
३६—स्वाधीनता का सिद्धान्त (अप्राप्य) ॥)
३७—महान् मातृत्व की ओर ॥=)
३८—शिवाजी की योग्यता ।=)
३९—तरंगित हृदय ॥)
४०—नरमेध १॥)
४१—दुखी दुनिया ।=)
४२—ज़िन्दा लाश ॥)
४३—आत्म-कथा (गांधीजी) १॥)

४४—जब अंग्रेज़ आये (जब्त) १।=)
४५—जीवन विकास १।)
४६—किसानो का बिगुल =)
४७—फाँसी ! ।=)
४८—अनासक्तियोग—गीताबोध
(दे० नवजीवन माला)
४९—स्वर्ण विहान (जब्त) ।=)
५०—मराठो का उत्थान-पतन २।।)
५१—भाई के पत्र १)
५२—स्वगत (अप्राप्य) ।=)
५३—युगधर्म (जब्त) १=)
५४—स्त्री-समस्या १।।।)
५५—विदेशी कपडे का
मुकाबला (अप्राप्य) ।।=)
५६—चित्रपट ।=)
५७—राष्ट्रवाणी (अप्राप्य) ।।=)
५८—इंग्लैण्ड मे महात्माजी ।।।)
५९—रोटी का सवाल १)
६०—दैवी सम्पद् ।=)
६१—जीवन-सूत्र ।।।)
६२—हमारा कलंक ।=)
६३—बुदबुद ।।)
६४—संघर्ष या सहयोग ? १।।)
६५—गाधी-विचार-दोहन ।।।)
६६—एशिया की क्रान्ति
(जब्त)
६७—हमारे राष्ट्र-निम
६८—स्वतन्त्रता की ओ
६९—आगे बढो !
७०—बुद्ध-वाणी
७१—कांग्रेस का इतिहा
७२—हमारे राष्ट्रपति
७३—मेरी कहानी (ज०ने
७४—विश्व-इतिहास की
(जवाहरलाल नेहरु
७५—(दे० नवजीवन मा
७६—नया शासन विधान-
७७—(१) गाँवो की कहा
७८—(२ ९) महाभारत के
७९—सुधार और संगठन
८०—(३) संतवाणी
८१—विनाश या इलाज
८२—(४) अंग्रेज़ी राज्य मे
हमारी आर्थिक दशा
८३—(५) लोक-जीवन
८४—गीता मंथन
८५—(६) राजनीति प्रवेशि
८६—(७) अधिकार और क